उच्चतर माध्यमिक पाठ्यक्रम

भारतीय दर्शन-347

पुस्तक-1

विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्

राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62

नोएडा - 201 309 (उत्तर प्रदेश)

वेबसाइट : www.nios.ac.in   निर्मूल्य दूरभाष- 18001809393

© राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान National Institute of Open Schooling

प्रथम संस्करण 2021 First Edition 2021 (Copies)

ISBN (Book 1)

ISBN (Book 2)

सचिव, राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान, ए-24-25, संस्थागत क्षेत्र, सेक्टर- 62 नोएडा - 201 309 (उत्तर प्रदेश) द्वारा प्रकाशित। .... द्वारा मुद्रित।

उच्चतर माध्यमिक स्तर
भारतीय दर्शन (347)

सलाहकार समिति

प्रो. सरोज शर्मा
अध्यक्ष
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

डॉ. राजीव कुमार सिंह
निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

स्वामी आत्मप्रियानन्द
समिति अध्यक्ष
कुलपति, रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

डॉ. नागराज भट्ट
समिति उपाध्यक्ष
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

डॉ. रामनाथ झा
आचार्य, संस्कृत एवं प्राच्य विद्या केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

डॉ. वेंकटरमण भट्ट
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

श्री विवेक कर्मकार
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
स्कॉटिश चर्च महाविद्यालय
कोलकाता-700006 (प. बंगाल)

श्री पलाश घोडई
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत विभाग)
राजा नरेन्द्र लाल खान महिला महाविद्यालय
मण्डल-पश्चिम मेदिनीपुरम-721102 (प. बंगाल)

स्वामी वेदतत्त्वानन्द
प्राचार्य
रामकृष्ण मठ विवेकानंद वेद विद्यालय
बेलुर मठ, मण्डल-हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा-संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

पाठ्यक्रम समन्वयक

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

संपादक मण्डल

डॉ. नागराज भट्ट
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

स्वामी वेदतत्त्वानन्द
प्राचार्य
रामकृष्ण मठ विवेकानंद वेद विद्यालय
बेलुर मठ, मण्डल-हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

पाठ लेखक

(पाठ 14, 15, 16, 27)
श्री पलाश घोडई
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत विभाग)
राजा नरेन्द्र लाल खान महिला महाविद्यालय
मण्डल-पश्चिम मेदिनीपुरम-721102 (प. बंगाल)

(पाठ 11, 14, 24, 26)
श्री विवेक कर्मकार
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
स्कॉटिश चर्च महाविद्यालय
कोलकाता-700006 (प. बंगाल)

(पाठ 5, 8, 21, 23)
स्वामी वेदतत्त्वानन्द
प्राचार्य
रामकृष्ण मठ विवेकानंद वेद विद्यालय
बेलुर मठ, मण्डल-हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

(पाठ 17, 18)
डॉ. श्रीजित टी.जि
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत विभाग)
के.एस.डी.बी. महाविद्यालय, पत्रालय
शास्तांकोट्टा, मण्डल-कोल्लम्-690520 (केरल)

(पाठ 9, 10)
डॉ. नीरज कुमार भार्गव
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

(पाठ 19, 20)
डॉ. नागराज भट्ट
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत अध्ययन विभाग)
रामकृष्ण मिशन विवेकानंद विश्वविद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा-711202 (प. बंगाल)

अनुवादक मण्डल

डॉ. योगेश शर्मा
सहायक प्रोफेसर (संस्कृत)
संस्कृत, दर्शन और वैदिक अध्ययन विभाग
बनस्थली विद्यापीठ, टोंक-304022 (राजस्थान)

श्री विशाल गौतम
वरिष्ठ अध्यापक (संस्कृत)
शारदा मंदिर विद्यालय
बनस्थली विद्यापीठ, टोंक-304022 (राजस्थान)

डॉ. राम नारायण मीणा
सहायक निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

श्री पुनीत त्रिपाठी
वरिष्ठ कार्यकारी अधिकारी (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान
नोएडा, (उत्तर प्रदेश)-201309

रेखाचित्राङ्कन और मुखपृष्ठ चित्रण

स्वामी हररूपानन्द
रामकृष्ण मिशन
बेलुर मठ
मण्डल-हावड़ा- 711202 (प. बंगाल)

श्री राहुल कुलकर्णी
आचार्य
रामकृष्ण मठ विवेकानन्द वेद विद्यालय
बेलुर मठ, हावड़ा- 711202 (प. बंगाल)

आप से दो बातें...

अध्यक्षीय सन्देश

प्रिय शिक्षार्थी,

'भारतीय ज्ञान परम्परा' पाठ्यक्रम के अध्ययन के लिए आपका हार्दिक स्वागत करता हूँ। भारत अति प्राचीन और विशाल देश है। भारत का वैदिक वाङ्मय भी उतना ही प्राचीन, प्रशंसनीय और श्रेष्ठ है। सृष्टिकर्ता भगवान ही भारतीयों के सम्पूर्ण विद्याओं के प्रेरक हैं, ऐसा सिद्धान्त शास्त्रों में प्राप्त होता है। भारत के प्रसिद्ध विद्वान, सामान्य जनमानस तथा अन्य ज्ञानी लोगों के बीच प्राचीन काल में आदान-प्रदान का माध्यम संस्कृत भाषा ही थी ऐसा सभी को ज्ञात है। इतने लम्बे काल में भारत के इतिहास में जो शास्त्र लिखे गए, जो चिन्तन हुए, जो भाव प्रकट हुए वे सभी संस्कृत भाषा के साहित्यरूपी भण्डार में निबद्ध हैं। इस भण्डार का आकार कितना है, भाव कितने गंभीर हैं, मूल्य कितना अधिक है, इसका निर्धारण करने में कोई भी समर्थ नहीं है। प्राचीन काल में भारतीय क्या-क्या पढ़ते थे, वह निम्न श्लोक के माध्यम से प्रकट होता है -

अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। पुराणं धर्मशास्त्रं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश॥ (वायुपुराणम् 61.78)

इस श्लोक में चौदह प्रकार की विद्याएँ बताई गयी हैं। चार वेद (और चार उपवेद), छः वेदाङ्ग मीमांसा (पूर्वोत्तरमीमांसा), न्याय (आन्वीक्षिकी), पुराण (अठारह मुख्य पुराण और उपपुराण), धर्मशास्त्र (स्मृति) ये चौदह विद्या कहलाते हैं। इनके अलावा अनेक काव्य ग्रंथ और बहुत ही शास्त्र हैं। इन सभी विद्याओं का प्रवाह ज्ञान प्रदान करने वाला, प्रगति करने वाला और वृद्धि करने वाला है जो प्राचीन समय से ही चल रहा है। समाज के कल्याण के लिए भारत में विद्या दान परम्परा के रूप में गुरुकुलों में आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, आयुर्वेद, राजनीति, दण्डनीति, काव्य, काव्य शास्त्र और अन्य बहुत से शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन होता रहा है।

विद्या के शिक्षण के लिए ब्रह्मचारी परिवार को छोड़कर गुरुकुल में ब्रह्मचर्याश्रम को धारण कर जीवन बिताते थे और इन विद्याओं में पारंगत होते थे। इन विद्याओं में आज भी कुछ पारंगत लोग हैं। प्राकृतिक परिवर्तनों, विदेशी आक्रमणों, स्वदेश में हो रही ऊठा-पटक इत्यादि अनेक कारणों से पहले जैसी अध्ययन-अध्यापन की परम्परा अब छूटती जा रही हैं। इन पाठ्यक्रमों की, परीक्षा, प्रमाणपत्र इत्यादि आधुनिक शिक्षण पद्धति के द्वारा कुछ राज्यों/प्रदेशों में होता है, परन्तु बहुत से राज्यों/प्रदेशों में नहीं होता है। अतः इन प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन, परीक्षण, और प्रमाणीकरण का होना आवश्यक है। इसे ध्यान में रखकर यह पाठयक्रम राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान के द्वारा प्रारम्भ किया गया है। लोगों के कल्याण के लिए जितना ज्ञान आवश्यक है वैसा ज्ञान इन शास्त्रों में निहित है और मनुष्य के सामने प्रकट हो, ऐसा लक्ष्य है। जिसके द्वारा सभी यहाँ पर सुखी हों, सभी निरोगी हों, सभी कल्याण दृष्टि से कल्याणकारी हों, किसी को कोई दुःख नहीं हो, कोई किसी को दुःख नहीं दें, इस प्रकार अत्यन्त उदार उद्देश्य को ध्यान में रखकर 'भारतीय ज्ञान परम्परा' इस नाम से इस पाठयक्रम का निमाण किया गया है। विज्ञान शरीरारोग्य का चिन्तन करता है। कला विषय मनोविज्ञान तथा आध्यात्मिक विज्ञान का पोषण करता है। विज्ञान साधन स्वरूप और सुखोपभोग साध्य है। अतः निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि कला विषय शाखा विज्ञान से भी श्रेष्ठ है। कला को छोड़कर विज्ञान से सुख प्राप्त कर नहीं किया जा सकता है बल्कि विज्ञान को छोड़कर कला से सुख को अवश्य प्राप्त कर सकते हैं।

यह भारतीय दर्शन का पाठ्यक्रम छात्रानुकूल, ज्ञानवर्धक, लक्ष्य साधक और पुरुषार्थ साधक हैं, ऐसा मेरा मानना है। इस पाठ्यक्रम के निर्माण में जिन हिताभिलाषी, विद्वान, उपदेष्टा, पाठ लेखक, त्रुटि संशोधक और मुद्रणकर्ता इत्यादि ने परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहायता की है। उनके प्रति संस्थान की तरफ से मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। रामकृष्ण मिशन-विवेकानन्द विश्वविद्यालय के कुलपति श्रीमान् स्वामी आत्मप्रियानन्द जी का विशेष रूप से धन्यवाद जिनकी अनुकूलता और प्रेरणा के विना इस कार्य की परिसमाप्ति दुष्कर थी। इस पाठयक्रम के अध्येताओं का विद्या से कल्याण हो, जीवन में सफल हो, विद्वान बनें, देशभक्त हो और समाज सेवक हो, ऐसी हमारी हार्दिक इच्छा है।

अध्यक्ष
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

आप से दो बातें...

निदेशकीय वाक्

प्रिय पाठक,

'भारतीय ज्ञान परम्परा' पाठ्यक्रम को पढ़ने की इच्छा से उत्साहित भारतीय ज्ञान परम्परा के अनुरागी और उपासकों का हार्दिक स्वागत करता हूँ। यह अत्यधिक हर्ष का विषय है कि गुरुकुलों में पढ़ाये जाने वाला पाठ्यक्रम हमारे राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान के पाठ्यक्रम में भी सम्मिलित किया गया है। आशा है की लम्बे समय से हमारी प्राचीन संस्कृति से जो दूरी थी वह अब समाप्त हो जाएगी। हिन्दु, जैन और बौद्ध धर्म के धार्मिक, आध्यात्मिक और काव्यादि वाङ्गमय प्राय: संस्कृत में लिखा हुआ है। सैकड़ों, करोड़ों मनुष्यों के प्रिय विषयों की भूमिका के माध्यम से प्रस्तुत प्रवेश योग्यता के द्वारा और मन को प्रसन्न करने के लिए माध्यमिक स्तर और उच्चतर माध्यमिक स्तर पर कुछ विषय सम्मिलित किये गए हैं। जैसे आंग्ल, हिंदी, आदि भाषा ज्ञान के बिना उस भाषा के लिखे गए माध्यमिक स्तरीय ग्रन्थ पढ़ने में और समझ में सक्षम नहीं हो सकते हैं, वैसे ही यहाँ पर प्रारम्भिक संस्कृत तथा हिन्दी भाषा को नहीं जानते तो, इस पाठ्यक्रम को जानने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। अत: प्रारम्भिक संस्कृत तथा हिन्दी के सामान्य ज्ञान के छात्र यहाँ इस पाठ्यक्रम के अध्ययन के अधिकारी हैं, ऐसा जानना चाहिए।

गुरुकुलों में अध्ययन करने वाले छात्र आठवीं कक्षा तक जितना संभव हो अपनी परंपरा से अध्ययन करें। नौवीं, दशवीं कक्षा और ग्यारहवीं तथा बारहवीं कक्षा तक भारतीय ज्ञान परम्परा के इस पाठ्यक्रम का निष्ठा से नियमित अध्ययन करें। इस पाठ्यक्रम से विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए योग्य होंगे।

संस्कृत के विभिन्न शास्त्रों में किया गया कठिन परिश्रम विद्वान, प्राध्यापक, शिक्षक और शिक्षाविद इस पाठ्यक्रम का प्रारूप रचना में, विषय निर्धारण के लिए, विषय परिमाण निर्धारण में, विषय प्रकट करने का, भाषा स्तर निर्णय में और विषय पाठ लिखने में संलग्न हैं। अत: इस पाठ्यक्रम का स्तर उन्नत है।

भारतीय दर्शन की यह स्वाध्याय सामग्री आपके लिए पर्याप्त, सुबोध, रुचिकर, आनन्दरस को प्रदान करने वाली, सौभाग्य प्रदान करने वाली, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि पुरुषार्थों के लिए उपयोगी रहेगी, ऐसी हम आशा करते हैं। इस पाठ्यक्रम का प्रधान लक्ष्य है की भारतीय ज्ञान परम्परा का शैक्षणिक क्षेत्रों में विशिष्ट और योग्य स्थान स्वीकृत होना चाहिए। यह लक्ष्य इस पाठ्यक्रम के माध्यम से पूर्ण होगा, ऐसा हमारा दृढ विश्वास है। पाठक अध्ययनकाल में यदि मानते है की इस अध्ययन सामग्री में, पाठ के सार में, जहाँ संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन संस्कार चाहते हैं, उन सभी के प्रस्ताव का हम स्वागत करते हैं। इस पाठ्यक्रम को और अधिक प्रभावी, उपयोगी और सरल बनाने में आपके साथ हम हमेशा तत्पर हैं।

सभी अध्येताओं के अध्ययन में सफलता, जीवन में सफलता और कृतकृत्य के लिए हमारे आशीर्वचन हैं।

किं बाहुना विस्तरेण।
अस्माकं गौरववाणीं जगति विरलाम् सर्वविद्याया लक्ष्यभूताम् एव उद्धरामिद्य
सर्वेऽत्र सुखिन: सन्तु सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग् भवेत्।
दुर्जन: सज्जनो भूयात् सज्जन: शान्तिमाप्नुयात्।
शान्तो मुच्येत बन्धेभ्यो मुक्तश्चान्यान् विमोचयेत्॥
स्वस्त्यस्तु विश्वस्य खल: प्रसीदतां ध्यायन्तु भूतानि शिवं मिथो धिया।
मनश्च भद्रं भजतादधोक्षजे आवेश्यतां नो मतिरप्यहैतुकी॥

निदेशक (शैक्षिक)
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

आप से दो बातें...

समन्वयक वचन

प्रिय जिज्ञासु,

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

परम्परा को आधार मानकर यह प्रार्थना है कि हमारा अध्ययन विघ्नों से रहित हो। अज्ञान का नाश करने वाला तेजस्वी हो। द्वेष भावना का नाश करने वाला हो। विद्या लाभ के द्वारा सभी कष्टों का निवारण करने वाला हो।

'भारतीय ज्ञान परम्परा' पाठ्यक्रम के अङ्गभूत यह पाठ्यक्रम उच्चतर माध्यमिक कक्षा के लिए निर्धारित किया गया है। इस पाठ्यक्रम की अध्ययन सामग्री आपके समक्ष प्रस्तुत करते हुए मैं परम हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। सरल संस्कृत तथा हिन्दी भाषा को जो जानता है वह इसके अध्ययन में समर्थ है।

विद्वानों का अभिप्राय और अनुभवों के आधार पर काव्य और काव्यशास्त्र का फल रस ही है। आनंद रस स्वरूप ही है। सभी प्राणियों का सभी कार्य आनंद और सुखपूर्वक सम्पन्न हों, यहीं प्रबल इच्छा है। काव्य के सभी विषय रस में ही स्थित हैं। काव्यों के अनेक प्रकार हैं और काव्य प्रपंच सबसे महान हैं। काव्य बहुत हैं। उनमें से विविध काव्यांशों का चयन करके इस पाठ्य सामग्री में सम्मिलित किया गया है। इसी प्रकार साहित्य का सामान्य स्वरुप, काव्य का स्वरुप, भेद आदि प्रारम्भिक ज्ञान यहाँ पर दिया गया है। पारम्परिक गुरुकुलों में जिस शिक्षण पद्धति से पाठ दिए जाते थे, उसी पद्धति का अनुसरण कर यह पाठ्यक्रम प्रतिपादित किया गया है।

उच्चतर माध्यमिक कक्षा हेतु निर्धारित भारतीय दर्शन विषय का यह पाठ्यक्रम अत्यन्त उपकारक है। शिक्षार्थी इसके अध्ययन से ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होंगे। इसके अध्ययन से छात्र अन्य काव्यों में प्रवेश के योग्य होंगे। यह पाठ्य सामग्री भारतीय दर्शन का श्रद्धा सहित अध्ययन में प्रवेश के लिए और मन को शांति देने वाली है। इस पाठ्य सामग्री के आकार पर नहीं जाना चाहिए और न इससे भय होना चाहिए। परन्तु गम्भीर रूप से अध्ययन करना चाहिए।

सम्पूर्ण पाठ्य पुस्तक दो भागों में विभक्त है। पाठक पाठो को अच्छी तरह से पढ़कर पाठ में आये प्रश्नों के उत्तरों पर स्वयं विचार कर अन्त में दिए हुए प्रश्नों के उत्तरों को देखें, और उन उत्तरों को अपने उत्तरों से मिलाएं। प्रत्येक पत्र में दिए हुए रिक्त स्थान पर टिप्पणी करनी चाहिए। पाठ के अन्त में दिये प्रश्नों के उत्तरों का निर्माण करके परीक्षा के लिए तैयार हो जाएँ।

शिक्षार्थी अध्ययन काल में किसी भी कठिनता का अनुभव करते हैं, तो अध्ययन केन्द्र में किसी भी समय जाकर के समस्या के समाधान के लिए आचार्य के समीप जाएँ या राष्ट्रिय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान के साथ ई-पत्रद्वारा सम्पर्क करें। वेबसाइट पर भी संपर्कव्यवस्था है। वेबसाइट www.nios.ac.in इस प्रकार से है।

ये पाठ्य विषय आपके ज्ञान को बढाए, परीक्षा में सफलता को प्राप्त करवाए, आपकी विषय में रुचि बढ़ाए, आपका मनोरथ पूर्ण करे, ऐसी कामना करता हूँ।

अज्ञानान्धकारस्य नाशाय ज्ञानज्योतिषः दर्शनाय च इयं में हार्दिकी प्रार्थना
ॐ असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्मामृतं गमय ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भवत्कल्याणकामी
पाठ्यक्रम समन्वयक
राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी शिक्षा संस्थान

अपने पाठ कैसे पढ़ें!

भारतीय दर्शन, उच्चतर माध्यमिक स्तर की इस पाठ्य सामग्री को विशेष रूप से आपकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए निर्मित किया गया है। आप स्वतंत्र रूप से स्वयं पढ़ सकें इसलिए इसे एक प्रारूप में ढाला गया है। निम्नलिखित संकेत आपको सामग्री का सर्वोत्तम उपयोग करने का तरीका बताएंगे। दिए गए पाठों को कैसे पढ़ना है आइए, जानें

पाठ का शीर्षक : इसे पढ़ते ही आप अनुमान लगा सकते हैं कि पाठ में क्या दिया जा रहा है। इसे पढ़िए।

भूमिका : यह भाग आपको पूर्व जानकारी से जोड़ेगा और दिए गए पाठ की सामग्री से परिचित कराएगा। इसे ध्यानपूर्वक पढ़िए।

उद्देश्य : प्रस्तुत पाठ को पढ़ने के बाद आप इस पाठ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में समर्थ हो जाएंगे। इन्हें याद कर लीजिए।

पाठगत प्रश्न : इसमें एक शब्द अथवा एक वाक्य में पूछे गए प्रश्न हैं तथा वस्तुनिष्ठ प्रश्न हैं। ये प्रश्न पढ़ी हुई इकाई पर आधारित है इनका उत्तर आपको देते रहना है। इसी से आपकी प्रगति की जाँच होगी। ये सवाल हल करते समय आप हाथ में पेंसिल रखिए और जल्दी-जल्दी सवालों के समाधान ढूँढ़ते रहिए और अपने उत्तरों की जाँच पाठ के अंत में दी गई उत्तरमाला से मिलाइए। उत्तर ठीक न होने पर इकाई को पुनः पढ़िए।

आपने क्या सीखा : यह पूरे पाठ का संक्षिप्त रूप है- कहीं यह बिंदुओं के रूप में है, कहीं आरेख के रूप में तो कहीं प्रवाह चार्ट के रूप में। इन मुख्य बिंदुओं का स्मरण कीजिए। यदि आप कुछ अपने मतलब की मिलती-जुलती नई बातें जोड़ना चाहते हैं तो उन्हें भी वहीं बढ़ा सकते हैं।

पाठांत प्रश्न : पाठ के अंत में दिए गए लघु उत्तरीय तथा दीर्घ उत्तरीय प्रश्न हैं। इन्हें आप अलग पृष्ठों पर लिखकर अभ्यास कीजिए। यदि चाहें तो अध्ययन केन्द्र पर अपने शिक्षक या किसी उचित व्यक्ति को दिखा भी सकते हैं और उन पर नए विचार ले सकते हैं।

उत्तरमाला : आपको पहले ही बताया जा चुका है इसमें पाठगत प्रश्नों और क्रियाकलापों के उत्तर दिए जाते हैं। अपने उत्तरों की जाँच इस सूची से कीजिए।

पुस्तक-1

सांख्य दर्शन

1. सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय
2. सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष गुण विचार
3. सांख्य दर्शन में सृष्टि विचार
4. सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद

वेदांत दर्शन में प्रमाण

5. प्रत्यक्ष खण्ड में प्रमा
6. प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण
7. प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण भेद
8. अनुमान खण्ड और उपमान खण्ड
9. आगमखण्ड
10. अर्थापत्ति खण्ड और अनुपलब्धि खण्ड

पुस्तक-2

अद्वैत वेदांत में अध्यारोप

11. ब्रह्म
12. माया
13. अध्यास लक्षण विचार
14. अध्यास कारण विचार
15. सृष्टि विचार
16. सृष्टि प्रलय विचार

अद्वैत वेदांत अपवाद

17. अवस्थात्रय विवेक
18. पञ्चकोश विवेक
19. महावाक्य तात्पर्य विचार
20. महावाक्य वृत्ति विचार
21. साधन विचार-1
22. साधन विचार-2
23. साधन विचार-3
24. समाधि स्वरूप
25. समाधि के अंग
26. मुक्ति
27. विवेकानंद का वेदांत चिन्तन

उच्चतर माध्यमिक स्तर

भारतीय दर्शन-347

पुस्तक-1

क्र. सं.	विषय सूची	पृष्ठ संख्या
सांख्य दर्शन		
1.	सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय	1-14
2.	सांख्य दर्शन में प्रकृति, पुरुष और गुण विचार	15-28
3.	सांख्य दर्शन में सृष्टि विचार	29-52
4.	सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद	53-66
वेदांत में प्रमाण		
5.	प्रत्यक्ष खण्ड में प्रमा	67-86
6.	प्रत्यक्ष खण्ड प्रत्यक्ष प्रमाण	87-106
7.	प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण भेद	107-118
8.	अनुमान खण्ड और उपमान खण्ड	119-136
9.	आगम खण्ड	137-152
10.	अर्थापत्ति खण्ड और अनुपलब्धि खण्ड	153-164

ध्यान दें:

1

सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय

आस्तिक तथा नास्तिक भेद से भारतीय दर्शन दो प्रकार से बँटा हुआ है। नास्तिक दर्शनों में तीन प्रकार के नास्तिक दर्शन प्रसिद्ध हैं। जो चार्वाक दर्शन, बौद्ध दर्शन तथा जैन दर्शन हैं। आस्तिक दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा हैं। यहां पर 'आस्तिक' इस पद से ईश्वर को स्वीकार किया गया है। जो दर्शन वेद के प्रमाण को स्वीकार करते हैं वे आस्तिक दर्शन तथा जो वेद के प्रमाण को स्वीकार नहीं करते नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन को सबसे प्राचीन दर्शन माना गया है। क्योंकि छः भारतीय दर्शनों में सांख्य दर्शन सबसे श्रेष्ठ है। भारतीय दर्शनों में सबसे प्राचीन दर्शन सांख्य दर्शन के होने के कारण इस दर्शन के ज्ञान के बिना अन्य भारतीय दर्शनों का ज्ञान पूर्ण रूप से होना सम्भव नहीं है। महाभारत आदि ग्रन्थों में सांख्य दर्शन का महान् प्रभाव दिखाई देता है। गीता में तो सांख्य दर्शन बहुत ही स्पष्टता से दिखाई देता है। सांख्य दर्शन का प्रभाव वेदान्त दर्शन में भी है। भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कहा है कि अद्वैत वेदान्त का प्रधान प्रतिपक्ष सांख्य दर्शन है। सांख्य दर्शन के बहुत सारे विषय वेदान्त दर्शन में स्वीकार किये गये हैं। प्राचीन साहित्य में तो सांख्य दर्शन का प्रभाव बहुत स्पष्ट तरीके से दिखाई देता है इसलिए सांख्य दर्शन भारतीय दर्शनों के ज्ञान के लिए बहुत ही उपकारक सिद्ध होता है।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने के बाद आप सक्षम होंगे;

- सांख्य दर्शन का विस्तार पूर्वक परिचय प्राप्त कर पाने में;
- सांख्य शब्द के अर्थ विषयों का परिचय प्राप्त कर पाने में;
- सांख्य दर्शन के आचार्यों का तथा उनके ग्रन्थों का परिचय प्राप्त करने में;
- सांख्य दर्शन में स्वीकार किये गये तत्वों का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने में;
- सांख्य दर्शन के मत में पुरुष के स्वरूप का तथा पुरुष को स्वीकार करने आदि विषयों का विस्तार से ज्ञान प्राप्त करने में;
- 'पुरुष के बन्धन का नाम क्या है? मोक्ष का नाम क्या है?' इस प्रकार के विषय स्पष्ट कर पाने में;

पाठ-1

सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय

ध्यान दें:

1.1) सांख्य शब्द का अर्थ

सांख्य शब्द का संख्या से सम्बन्ध होने के कारण सांख्य कहा गया है। परन्तु विद्वानों में संख्या शब्द के अर्थ के विषय में कई प्रकार का मतभेद होने के कारण संख्या शब्द का क्या अर्थ है? यह जानना चाहिए।

संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिं च प्रचक्षते।
तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्यं प्रकीर्तितम्॥

इस महाभारत के वाक्य के अनुसार प्रकृति तथा पुरुष के सम्यक् विवेक ज्ञान रूप संख्या के प्रतिपादन से तथा प्रकृति आदि की चौबीस संख्याओं के प्रतिपादन से इस दर्शन का नाम सांख्य दर्शन है। कुछ लोग कहते हैं कि "पच्चीस तत्वों वाली संख्या का जहां विवेचन होता है वह सांख्य कहलाता है। और कुछ लोग यह कहते हैं कि सङ्ख यह पुरुष का पर्यायवाची तथा उसके प्रतिपादन यह दर्शन सांख्य कहलाता है। अन्य कुछ लोग तो यह भी कहते हैं कि सम् उपसर्ग पूर्वक दर्शनार्थक चक्षिङ् धातु से ल्युट प्रत्यय करने पर तथा "चक्षिङः ख्याञ्" इस सूत्र से ख्याञ् आदेश होने पर "अच्छी प्रकार से देखा गया" इस अर्थ में सांख्य शब्द निष्पन्न होता है। इसका यह अभिप्राय है कि जीव अनादि काल से अविद्या से आच्छादित है और वही अविद्या उसका बन्धन कहलाती है जिसके कारण उसे स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। उस वास्तविक ज्ञान के बिना दुःख की निवृत्ति असम्भव है। इसलिए यह त्रिगुणात्मिका प्रवृत्ति पुरुष से भिन्न है तथा आत्मा को जानने वाला ज्ञान ही संख्या है। जो विवेक ख्याति है वह प्रकृति तथा पुरुष के विवेक से जानी जाती है। इसलिए महाभारत में कहा गया है

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।
कञ्चिदर्थमभिप्रेत्य सा संख्येत्यभिधार्यताम्॥ इति।

इस भाव का भगवत्पाद आचार्य शङ्कराचार्य द्वारा समर्थन किया गया है । "ये जो सत्व रज तथा तमो गुण मेरे द्वारा देखे गये हैं, मैं उनसे अलग हूँ, मैं तो केवल उस व्यापार का साक्षी होकर नित्य रूप से सभी गुणों से विलक्षण उस आत्मा का ही चिन्तन करता हूं। यह सांख्य है" तथा "सांख्य को जानने वाला विद्वान् कवि कहलाता है"। अमरकोश में भी संख्या शब्द का अर्थ बुद्धि तथा पाण्डित्य मिलता है। इसलिए पच्चीस तत्वों का प्रतिपादन होने से तथा वास्तविक ज्ञान का प्रतिपादन होने से इस दर्शन का नाम सांख्य दर्शन है।

1.2) सांख्य दर्शन के आचार्या तथा ग्रन्थ

सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल को माना जाता है। लेकिन उनके द्वारा लिखे गये सूत्र वर्तमान समय में अनुपलब्ध है। हालांकि वर्तमान में कुछ लोग इस प्रकार से आक्षेप करते हैं कि महर्षि कपिल के द्वारा विरचित कुछ सूत्र वर्तमान में उपलब्ध है। परन्तु उन सूत्रों में कुछ आधुनिक विद्वानों का नामोल्लेख होने के कारण विद्वान अनेकों महर्षि कपिल प्रणीत सूत्रों के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। लेकिन वो यह मानते हैं कि वे सूत्र महर्षि कपिल की अपेक्षा किसी प्राचीन सांख्य दर्शन के विद्वान के द्वारा लिखे गये हैं। सांख्य सूत्रों का उपदेश आचार्य कपिल ने आसुरी को और आसुरी ने अपने शिष्य पञ्चशिख को दिया। उसी शिष्य परम्परा में ईश्वर कृष्ण ने सांख्य शास्त्र को प्राप्त किया। आचार्य ईश्वर कृष्ण ने सांख्य शास्त्र को कारिकाओं के रूप में लिखा, इसलिए वर्तमान में सांख्य दर्शन का प्रमाण ग्रन्थ ईश्वर कृष्ण की सांख्य कारिका ही प्राप्त होती है। जिसमें सत्तर (70) कारिकाएं हैं। उन कारिकाओं में सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन मिलता है। इन कारिकाओं पर वाचस्पति मिश्र का सांख्य तत्व कौमुदी भाष्य प्रसिद्ध हैं। इन सांख्य कारिकाओं में ही सांख्य दर्शन के सभी तत्व विस्तार पूर्वक उपलब्ध हैं।

ध्यान दें:

1.3) सांख्य दर्शन में प्रवृत्ति का कारण

श्रीमान् ईश्वरकृष्ण ने सांख्य कारिका के प्रारम्भ में ही सांख्य दर्शन का प्रयोजन तथा फल क्या है यह स्पष्ट कर दिया है। प्रथम कारिका के अनुसार

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ॥

यहां पर दुःखत्रय से तात्पर्य है आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक दुःख। इन दुःखों के अभिघात अर्थात् इनको दूर करने हेतु विवेकी पुरुषों में ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। सामान्य रूप से लोक में देखा गया है कि सरलता से प्राप्त औषधि आदि के माध्यम से भी यदि दुःखों का निवारण हो जाता है तो कठिनता से प्राप्त उस दिव्य विवेक की जिज्ञासा क्यों आवश्यक है? यह तो व्यर्थ ही है? (उत्तर) तब कहते हैं कि 'एकान्तात्यन्तोभावात्' अर्थात् दृष्ट हेतु से एकान्त दुःख की निवृत्ति अवश्यम्भावी होने के कारण अर्थात् पुनः उत्पन्न होने के कारण असम्भव है।

वस्तुतः इस जगत में दुःख ही है। अतः दुःख के आत्यान्तिक (दुबारा नहीं होने वाला) विनाश के लिए तथा दीर्घकालिक सुख के लिए मानव मोक्ष मार्ग की ओर दौड़ते हैं। वास्तविकता से वह दुःख नित्य नहीं है तथा उसका निवारण भी कठिन नहीं है। वह दुःख तीन प्रकार का है आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक। आध्यात्मिक दुःख भी दो प्रकार का होता है शारीरिक और मानसिक। शरीर को मानकर होने वाला दुःख शारीरिक दुःख कहलाता है, जो वात, पित्त, तथा कफ की विषमता के कारण होता है। अन्तः करण को मानकर होने वाला दुःख मानसिक दुःख कहलाता है। जो काम, क्रोध , लोभ, मोह, भय, ईर्ष्या, विषाद तथा विषयादि की प्राप्ति अप्राप्ति के रूप में होता है। इस प्रकार शरीर में आन्तरिक होने के कारण आध्यात्मिक दुःख कहलाता है। बाह्य कारकों से होने वाला दुःख दो प्रकार का होता है आधिभौतिक तथा आधिदैविक। वह आधि भौतिक दुःख मनुष्य, पशु, (गाय घोड़ा आदि) सरीसृप (सर्पादि) स्थावर (लकड़ी पत्थर आदि) से होता है तथा आधिदैविक यक्ष, राक्षस, विनायक तथा ग्रह आदि के द्वारा होता है।

इन सभी दुःखों से आत्मा को पीड़ा पहुंचती है जिसे हटाया नहीं जा सकता। वस्तुतः दुःखों को कोई भी नहीं चाहता तथा संसार में ऐसा कोई भी प्राणी दृष्टिगोचर नहीं हुआ है जो इन सभी दुःखों से परेशान नहीं हुआ हो तथा जो सुख नहीं चाहता हो। दुखः ही मन में उद्वेग उत्पन्न करते हैं। इसलिए इन तीनों दुःखों के निवारण की इच्छा मनुष्यों को होती है।

मान लो की तीन प्रकार के दुःख होते हैं तथा हँसते-हँसते इनका उपाय भी हो सकता है जैसे इनके निवारण के लिए कुछ शास्त्र वर्णित उपाय भी हैं इसलिए फिर भी दुःखों के निवारण की जिज्ञासा उचित नहीं है। जिज्ञासा क्यों करें? क्योंकि दुःखों के निवारण हेतु तो प्रत्यक्ष और सरल उपाय भी हैं। संसार में एक उक्ति भी प्रसिद्ध है।

अर्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्।
इष्टस्यार्थस्य संसिद्धौ को विद्वान् यत्नमाचरेत्॥ इति

शारीरिक दुःख के निवारण के लिए तो सरलता से प्राप्त सौ उपाय वैद्यों के द्वारा बताये गये हैं। तथा सुन्दरी, पान, भोजन, चन्दन, वस्त्र लङ्कारादि विषयों की प्राप्ति के द्वार मानसिक सन्ताप निवारण के सरल उपाय हैं। ऐसे ही आधिभौतिक दुःखों को उस स्थान से दूर जाकर के दूर किया जा सकता है तथा आधिदैविक दुःखों को रत्नधारण, मन्त्रजप तथा दिव्यौषधि आदि उपायों से दूर किया जा सकता है । अतः तीनों दुःखों के लिए अन्य जिज्ञासा करना उचित नहीं है। तब कहते हैं कि "एकान्तात्यन्ततोऽभावात्"

ध्यान दें:

अर्थात् सुन्दरी, नीति, शास्त्राभ्यास, मन्त्र तथा औषधि आदि के माध्यम से भी आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दु:खों निवृति अदर्शन पूर्वक तथा अनैकान्तिक है। इनके द्वारा दु:ख के निवारण होने पर भी पुन: उस दु:ख के उत्पन्न होने से वह दु:ख अनान्तिक (जिसका पूर्ण अन्त नहीं होता) है इसलिए सरलता से प्राप्त होने वाले दृष्ट उपाय भी एकान्तिक तथा आत्यान्तिक दु:ख की निवृत्ति करने में सक्षम नहीं है। इसलिए यह जिज्ञासा (दु:ख निवारण जिज्ञासा) व्यर्थ नहीं है।

अत: सभी प्रकार के दु:खों का हमेशा के विनाश के लिए यह जिज्ञासा आवश्यक है और हमेशा के लिए दु:खों का नाश ही इस शास्त्र का प्रयोजन सिद्ध होता है।

पाठगत प्रश्न 1.1

1. छ: भारतीय दर्शनों में आस्तिक दर्शन कितने हैं?
2. ये आस्तिक दर्शन किसलिए है?
3. सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं?

   (क) गौतम (ख) कणाद (ग) कपिल (घ) जैमिनि
4. सांख्य कारिका के लेखक कौन है?

   (क) ईश्वरकृष्ण (ख) वाचस्पतिमिश्र (ग) आसुरी (घ) सदानन्दयोगी
5. तीन दु:ख कौन-कौन से हैं?
6. सांख्य शास्त्र का प्रयोजन क्या है?

1.4) पच्चीस तत्व

सांख्य दर्शन में पच्चीस प्रकार के तत्व स्वीकार किए गये हैं। वो हैं (1) पुरुष, (2) प्रकृति, (3) महत्त्व, (4) अहङ्कार, (5) मन, (6) चक्षु, (7) कान, (8) नासिका, (9) जिह्वा, (10) त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियाएँ हैं तथा (11) मुख (12) हाथ, (13) पैर, (14) गुह्येन्द्रि, (15) शिश्न ये पांच कर्मेन्द्रियाएँ हैं, (16) शब्द, (17) स्पर्श, (18) रूप, (19) रस, (20) गन्ध ये पांच तन्मात्राएं कही जाती है तथा (21) आकाश, (22) वायु, (23) अग्नि, (24) जल, (25) पृथ्वी ये पांच महाभूत होते हैं यहां पर तत्व श्ब्द का अर्थ पदार्थ है। इसलिए सांख्य शास्त्र में पच्चीस पदार्थ माने गये हैं।

1.5) तत्वों का चार प्रकार से विभाग

इन तत्वों का फिर कार्य कारणादि भेद से चार प्रकार का विभाग किया गया है वो है, केवल विकृति, तथा अनुभव रूप। यहां प्रकृति पद से उपदान कारण, विकृति पद से कार्य को बोध करना चाहिए। इसी प्रकार से कुछ पदार्थ उपादान कारण रूप, कुछ पदार्थ कार्यरूप है। अत: सांख्यकारिका में कहा गया है

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्या: प्रकृतिविकृतय: सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति: न विकृति: पुरुष:॥ [सांख्यकारिका-३]

ध्यान दें:

1.6) केवल प्रकृति

सबसे प्रधान केवल प्रकृति है, वह ही सबका कारण है लेकिन उसका कोई कारण नहीं है। इसलिए वह प्रकृति कारण मात्र कही जाती है तथा वही मूल प्रकृति है। यहाँ पर प्रकृति इस प्रधान पद से मूल प्रकृति को जानना चाहिये। यह किसी की भी विकृति नहीं है इसलिए इसे अविकृति कहा जाता है। प्रधान से महत्व की उत्पत्ति होती है और महत्व का उत्पादन कारण केवल प्रकृति है। व्युत्पत्ति के अनुसार जो अच्छी प्रकार से कार्य करती है तथा उत्पादन करती है वह प्रकृति कही जाती है तथा जो अन्य तत्व को उत्पन्न करने वाला कारण है वह प्रकृति है। वह मूल प्रकृति सत्व, रज तथा तमो गुण की साम्य अवस्था है। महत् आदि तत्वों की मूल होने के कारण इसे मूल प्रकृति कहा जाता है क्योंकि इसका अन्य कारण (उत्पन्न करने वाला) नहीं है। यदि मूल प्रकृति का भी कारण स्वीकार किया जाए क्योंकि प्रधान का जो कारण होता है उसका भी कोई कारण होना चाहिए। नहीं तो अनवस्था दोष आ जाता है। इसके निवारण हेतु सांख्य सूत्र लिखा गया है **"मूले मूलाभावादमूलं मूलम्"**। अर्थात् मूल में मूल का अभाव होने से वह मूल कहलाता है।

1.7) प्रकृति की विकृतियां

जो पदार्थ किसी तत्व का कारण होते हैं वह प्रकृतिः कहलाता है तथा जो किसी तत्व का कार्य तथा विकृति अर्थात् कार्य तथा कारण दोनों होते हैं वह प्रकृति विकृति कहलाते हैं। जैसे महत् से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है इसलिए महत् अहङ्कार की प्रकृति है तथा विकृति मूल प्रकृति है। अहङ्कार से शब्दादि पञ्चतन्मात्राएं तथा श्रोत्रादि ग्यारह इन्द्रियां उत्पन्न होती है इस कारण से पञ्चतन्मात्राओं की तथा ग्यारह इन्द्रियों की प्रकृति अहङ्कार है तथा विकृति 'महत्'। इसी प्रकार पञ्चतन्मात्राओं से क्रमशः आकाशादि पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है इसलिए पञ्चतन्मात्र आकाशादि पञ्चमहाभूतों की प्रकृति है तथा विकृति अहङ्कार है । इसी प्रकार महत् अहङ्कार पञ्चतन्मात्राएं सात पदार्थ माने गये हैं। पूर्वापर के माध्यम से विकृति रूप है तथा उत्तरोत्तर के माध्यम से प्रकृति रूप है। इस प्रकार प्रकृति तथा विकृति दोनों रूप सिद्ध होते हैं।

1.8) केवल विकृति

आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी पञ्चमहाभूत हैं। श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नासिका पांच ज्ञानेन्द्रियाएँ हैं। मुख, हाथ, पैर, गुह्य तथा शिश्न ये कर्मेन्द्रियाएं हैं तथा मन इस प्रकार से ये सोलह पदार्थ केवल विकृति है। आकाशादि पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्राओं से उत्पन्न होते हैं, अतः वे पञ्चतन्मात्राओं की विकृति है। श्रोत्रादि ग्यारह इन्द्रियाँ अहङ्कार से उत्पन्न होती है इसलिए वे अहङ्कार की विकृति है। उसके बाद पञ्चमहाभूतों की ग्यारह इन्द्रियों की तथा सोलह पदार्थों की अन्यों से उत्पत्ति होती है, अन्यों से उत्पत्ति होने के कारण ये केवल विकृति रूप में ही सिद्ध होते हैं।

यदि सामान्य रूप से देखा जाए तो एकादश इन्द्रियों से अन्य कुछ और उत्पन्न नहीं होने के कारण ये विकृति रूप में ही सिद्ध होते हैं परन्तु आकाशादि पञ्चमहाभूतों से गौ, घट, वृक्ष आदि की उत्पत्ति होती है तथा गौ घट वृक्षादि से दुग्ध बीज आदि की उत्पत्ति होती है और दुग्ध बीजादि से दधि अङ्कुरादि की उत्पत्ति देखी गयी है। इसलिए पञ्च महाभूतों में केवल विकृतित्व सिद्ध नहीं होता है। इसलिए पञ्चमहाभूतों की प्रकृति और विकृति इन दोनों का वर्णन समुचित है। अतः कहा गया है कि भले ही पृथ्वी आदि के गो घट वृक्षादि तथा गो घट वृक्षादि के दुग्ध बीज आदि और दुग्ध बीजादि के दही अङ्कुर आदि विकार हैं फिर भी वे पृथ्वी आदि तत्वों से अलग नहीं है स्थूल और इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य होने

ध्यान दें:

के कारण सम ही है। जिस प्रकार स्थूलेन्द्रियग्राह्यधर्म पृथ्वी आदि में है वैसे ही किसी विशेष का अभाव होने के कारण गौ वृक्षादि में भी है। जहां तत्वों में अन्तर है वहां स्थूलेन्द्रियों के ग्राह्य होने के कारण परस्पर तारतम्य तो है ही। यहां पर तत्वान्तर उपादान केवल उपादान ही नहीं अपितु प्रकृति कहलाता है। इसी प्रकार पृथ्वी गो, घट, वृक्षादि भी उत्पादन कारण है न कि तत्वान्तर। इस प्रकार तत्वान्तर के अभाव के कारण पृथ्वी आदि में प्रकृतित्व सम्भव नहीं होता है, अपितु विकृतित्व ही सिद्ध होता है इसलिए सोलह पदार्थ केवल विकृति कहलाते हैं।

1.9) अनुभयरूप (पुरुष)

पुरुष विकृति नहीं है। क्योंकि वह न तो किसी की प्रकृति है और न किसी की विकृति। पुरुष न तो किसी से उत्पन्न होता है और न पुरुष से कोई उत्पन्न होता है। इसलिए पुरुष प्रकृति और विकृति दोनों ही प्रकार का नहीं होकर केवल अनुभय रूप है। सामान्य रूप से देखा गया है कि सजातीय कार्य का कोई न कोई कारण अवश्य होता है जैसे घट रूपी कारण का मिट्टी कारण है लेकिन पुरुष विजातीय होने के कारण न तो कार्य है और न ही कारण। वह तो इन दोनों का साक्षी है। इसलिए इसे अविकृति कहा गया है। इस प्रकार से पच्चीस तत्वों के केवल प्रकृति, विकृति, केवल विकृति तथा प्रकृति और विकृति दोनों से रहित इस प्रकार चार विभाग होते हैं।

प्रश्न अब एक और शङ्का उत्पन्न होती है कि प्राण और काल इन दोनों के और होने के कारण केवल पच्चीस ही तत्व मानना उचित नहीं है। (सत्ताईस तत्व माने जाएं)। उत्तर: इन्द्रियों की साधारण वृत्ति ही प्राण है न कि और तत्व, उसी प्रकार काल भी भूत, भविष्य और वर्तमान का स्वरूप है न कि कोई पदार्थ इसलिए स्वतन्त्र रूप से काल का भी निरूपण नहीं होने के कारण पच्चीस ही पदार्थ है, न तो इससे अधिक और न इससे कम। अत: सांख्य प्रवचन भाष्यकार ने कहा है कि- "प्रकृति का कार्य महत्व और महत्व का कार्य अहङ्कार है । अहङ्कार के दो कार्य हैं, तन्मात्राएँ तथा दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ। यहाँ पर दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ बाह्य और आभ्यन्तर भेद होने के कारण ग्यारह प्रकार की होती है। तन्मात्राओं का कार्य है पञ्चस्थूलभूत है। स्थूल शब्द से तन्मात्राओं के सूक्ष्म भूतत्व को जानना चाहिए। और पुरुष तो कार्य तथा कारण दोनों से ही विलक्षण है। इसलिए पच्चीस ही पदार्थों का समूह है, इनके अतिरिक्त दिशा काल और आकाश भी इनमें समन्वित होने के कारण और कोई अन्य पदार्थ नहीं है।

1.10) पुरुष का स्वरूप

पच्चीस तत्वों में मुख्य तत्व केवल दो ही है पुरुष तथा प्रकृति। पुरुष साक्षी, दृष्टा, अकर्ता तथा मध्यस्थ है। पुरुष का स्वरूप सांख्यकारिका में कहा गया है

तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
केवल्यं माध्यस्थं द्रष्टत्वमकर्तृभावश्च॥ इति। [सांख्यकारिका -19]

पुरुष ही साक्षी अर्थात् चेतन दृष्टा और अकर्ता है। पुरुष के दृष्टा होने के कारण ही उसमें अकर्तृत्व तथा साक्षी के लक्षण पाये जाते हैं। दृष्टा हमेशा चेतन ही होता है न कि अचेतन। इसलिए पुरुष चेतन होने के कारण सभी का दृष्टा न कि किसी का भी कर्ता। वह केवल स्वरूप है। तीनों दु:खों के आत्यन्तिक अभाव के कारण वह केवल्य स्वरूप कहा जाता है। पुरुष में किसी भी दु:ख का लेश मात्र भी नहीं है। इसलिए उसे केवल पुरुष कहा जाता है और वह ही मध्यस्थ तथा उदासीन कहा जाता है। वह मध्यस्थ क्यों है? ऐसा प्रश्न करने पर सांख्य तत्व कौमुदी में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि "सुखी तो सुख से तृप्त रहता है और दु:खी दु:ख से द्वेष करता रहता है अत: इन दोनों में एक भी मध्यस्थ नहीं

ध्यान दें:

हो सकता। मध्यस्त इन दोनों से रहित ही कहलाता है। इसलिए मध्यस्थ को उदासीन भी कहते हैं"। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है कि

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
य: सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥ इति। [श्रीमद्भगवद्गीता-2.56-57]

पुरुष सुख और दु:ख से अतीत रहता है सुख और दु:ख का तो लेप उसमें टिकता ही नहीं है। उसे भय तथा क्रोध होता ही नहीं है तथा शुभ या अशुभ प्राप्त करते उसको न तो आनन्द होता है और नहीं द्वेष होता है।

पुरुष ही चेतन तथा उत्पत्ति एवं विनाश से रहित है वह किसी का भी कारण नहीं है। अपितु वह सदा जल में कमल की भाँति रहता है। जैसै कमल जल में होता हुआ भी जल से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार सभी जगह पर होने पर भी पुरुष कर्ता भोक्ता आदि धर्मों के आश्रय में नहीं होता है। उसका इस प्रकार से अनुमान लगाया जाता है कि "पुरुष कर्ता के अभाव से तथा कारण के अभाव से जो नहीं है वह हमेशा नहीं है इस प्रकार की बुद्धि वाला होता है।" इसका यह अर्थ होता है कि पुरुष कर्तृत्व धर्म अभाव वाला होता है तथा कारण धर्म अभाव वाला होता है। जैसे जो पदार्थ कर्तृ धर्म भाव वाला होता है वह पदार्थ कारण धर्म भाव वाला भी होता है। जैसै बुद्धि (महत् तत्व) कर्तृत्व अभाव वाली नहीं है अपितु कर्तृत्व धर्म वाली है, इसलिए वह कारण के अभाव वाली भी नहीं है, अपितु कारणत्व धर्म वाली होती है।

इस अनुमान से पुरुष कर्तृत्व अभाव वाला सिद्ध होता है तथा 'जो कर्ता होता है वह ही भोक्ता भी होता है' इस नियम से भोक्तृत्व धर्म भी पुरुष में नहीं आता है। इसलिए 'न तो पुरुष कर्ता है और न ही भोक्ता' यह भी सिद्ध हो जाता है। लेकिन '**संघातपरार्थत्वात्**' (सांख्यकारिका-17) इस कारिका में पुरुष के भोक्तृत्व का वर्णन है। 'यदि पुरुष में भोक्तृत्व है तो फिर पुरुष नहीं है' यह कथन भी उचित नहीं है क्योंकि कहा गया है कि संघातपरार्थत्वात् इस कारिका में जो पुरुष का भोक्तृत्वभाव कहा गया है वह वास्तविक रूप बुद्धिनिष्ठ पुरुष पर भोक्तृत्व भाव का आरोप ही है क्योंकि सांख्य की दृष्टि से बुद्धि ही बुद्धि का ही भोक्तृत्व सिद्ध होता है पुरुष तो परमार्थ होने से अभोक्तृत्व सिद्ध होता है। अब प्रश्न यह होता है कि बुद्धि के जैसे पुरुष का भी यदि कारणत्व स्वीकार कर लिया जाए तो क्या नुकसान है? तब यहाँ पर कहा गया है कि यदि ऐसा मानते हो तो पुरुष का भी घटादि कार्यों के जैसे ही उपादान कारण भी मानना चाहिए तथा तब उपादान कारण से कार्य का अभेद होने के कारण घटादि के नाश के जैसे पुरुष का भी नाश सिद्ध होता है। ऐसा होने पर तो श्रुति स्मृति आदि से विरोध होने के कारण यह अनिष्ट हो जाएगा। क्योंकि श्रुतियों में कहा गया है "अरे यह आत्मा तो अविनाशी तथा अजर (जिसको मारा नहीं जा सके) धर्म वाला है।" अर्थात् श्रुतियों के द्वारा आत्मा का स्वरूप विनाश धर्म से रहित वाला बताया गया है। "आत्मा का जन्म नहीं होता" "न यह कभी जन्मता है और न कभी मरता है" इस प्रकार से श्रुति स्मृति आदि के द्वारा आत्मा का जन्म-मरण आदि विकारों से अलग होना सिद्ध होता है। इससे पुरुष का तो अकारणत्व ही मानना चाहिए। इस प्रकार (यदि कारण होता तब ही) पुरुष का घटादि कारणों में कार्य कारण के अभेद से तथा नाश होता है तथा पुरुष सर्वथा कूटस्थ होने के कारण पुरुष में कारणत्व धर्म सिद्ध नहीं होता है। (अर्थात् पुरुष का कभी नाश ही नहीं होता है)।

वह पुरुष सर्वव्यापी है। उसकी गति औपाधिकी (उसकी नहीं होते हुए भी उसे प्रदान की गई) है तथा देह के सम्बन्ध होने से ही पुरुष में गति का आरोपण किया जाता है। इसलिए सूत्र में कहा गया

ध्यान दें:

हैं कि "उसकी आकाश के जैसे उपाधि होने के कारण श्रुतियों ने अन्यत्र गति बताई है"। पुरुष को निर्गुण कहा गया है, क्योंकि सुखादि पुरुष को उपाधिवत् प्राप्त होते हैं लेकिन ये सब पदार्थ पुरुष से अतिरिक्त ही सिद्ध होते हैं। (अब यहां पर यह प्रश्न किया जाता है कि) प्रलय के समय में अन्त:करण के अभाव होने के कारण जो अदृष्ट है उसका आधार ही नहीं होना चाहिए। (उत्तर) तब कहते हैं कि सांख्य शास्त्र की दृष्टि में अदृष्ट का आत्यन्तिक विनाश स्वीकार नहीं किया गया है अपितु उसकी सूक्ष्म शरीर वत् स्थिति: स्वीकार की गई है। सांख्य शास्त्र के मत में तो पुरुष ज्ञान का अधिकरण नहीं होता हुआ स्वयं ज्ञान स्वरूप और स्वप्रकाश होता है। सांख्य प्रवचन भाष्य में कहा गया है कि- "वैशेषिक लोगों ने कहा है कि पूर्व प्रकाश रूप का जड़ (प्रकृति), आत्मा तथा मन के संयोग से ज्ञान रूपी प्रकाश उत्पन्न होता है, परन्तु ऐसा नहीं है। क्योंकि संसार में देखा गया है कि जड़ पदार्थों में प्रकाश नहीं होता है जैसे मिट्टी आदि में प्रकाश नहीं है। इसलिए सूर्यवत् ही प्रकाश स्वरूप उस पुरुष का है। स्मृतियों में कहा भी गया है-

यथा प्रकाशतमसो: सम्बन्धो नोपपद्यते।
तद्वदैक्यं न शंसध्वं प्रपञ्चपरमात्मनो:॥
यथा दीप: प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात्पुरुषं सर्वजन्तुषु॥

भावार्थ:- (जैसे प्रकाश और अन्धकार का आपस में संबंध नहीं होता है उसी प्रकार प्रपञ्च और आत्मा का सम्बन्ध नहीं है, जैसे दीपक प्रकाश की स्थिति होती वैसी ही आत्मा की भी होती है। ज्ञानी व्यक्ति आत्मा को सभी जन्तुओं में देखता है)।

पुरुष में सत्वादि त्रिगुण नहीं होते हैं इसलिए उसे गुण रहित कहते हैं तथा प्रकृति से वह नितान्त विलक्षण होने के कारण अव्यक्त विलक्षण माना जाता है। प्रकृति के महत्वादि कार्यों के कोई भी अंश इसमें सम्मिलित नहीं है तथा पुरुष का भी कोई भी अंश प्रकृति में सम्मिलित नहीं है अत: यह व्यक्त तथा अव्यक्त भाव से विलक्षण है। आत्मा को तो कोई योग सम्पन्न तत्वज्ञ व्यक्ति ही जानते हैं। यह सभी में नहीं होने के कारण इसमें असर्वसाधारणत्व धर्म पाया जाता है अत: वह असाधारण है। अथवा प्रति शरीर में पुरुष की भिन्नता होने के कारण वह असाधारण है तथा वह प्रधान आदि के जैसे जड़ नहीं है अपितु चेतना से युक्त होने के कारण चेतन है। जिस प्रकार मिट्टी घट शराव आदि अनेक कार्य उत्पन्न करती है परन्तु वैसे कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं करता है, अत: यह अप्रसवधर्मी होने के कारण स्वरूप तथा विरूप परिणाम से हीन हैं। इसके अब यह त्रिगुण रहित, अविषयी, असाधारण, चेतन तथा अप्रसवधर्मी पुरुष सिद्ध होता है। पुरुष के त्रिगुण रहितादि धर्म ही प्रकृति में तथा उसके कार्य महत्वादि में पाये जाते हैं तथा आत्मा प्रति शरीर में भिन्न होने के कारण अनेक है।

पुरुष में जन्यत्व का अभाव होने के कारण इसका कोई उत्पादक नहीं है अत: यह नित्य है। किसी स्थान में आत्मा का अभाव हो सकता है लेकिन वह (पुरुष) व्यक्तित्व होने के कारण सर्वत्र रहता है। आत्मा में कोई क्रिया नहीं होती है, क्रिया नहीं होने के कारण आत्मा निष्क्रिय होती है। आत्मा किसी का आश्रय लेकर के कहीं पर भी नहीं रुकती है अपितु स्वयं ही विभुत्व के कारण सभी जगह व्याप्त रहती है, अत: इसमें अनाश्रितत्व होने के कारण यह अनाश्रित है। जैसे धुआँ अग्नि के बिना नहीं हो सकता है अर्थात् जहाँ अग्नि होती है वहाँ धुआं रहता है पर आत्मा में यह 'प्रधानानुमापक' नहीं है अर्थात् किसी के साथ भी सम्बन्ध नहीं होने के कारण यह अलिङ्गत्वात् (अननुमापकत्वात्) अलिङ्ग कहलाती है। वस्त्रों में जैसे धागे रूप में घड़े में जैसे मिट्टी के रूप में अवयव विभाग होते हैं परन्तु आत्मा में इस प्रकार के कोई अवयव विभाग नहीं होने के कारण यह निरवयव है। पुरुषों में जैसे अंश के रूप में पुत्र पौत्रादि होते हैं, दीपक में भी जैसे तेल बत्ती प्रकाश आदि होते हैं, प्रकृत अंश जैसे महत्, महत् से अहङ्कार आदि होते हैं, इस प्रकार से आत्मा में अंश नहीं होते हैं तथा इससे किसी की भी उत्पत्ति नहीं होने के

ध्यान दें:

कारण यह स्वतन्त्र है और आत्मा शुद्धस्फटिक के जैसे स्वच्छ, निर्गुण तथा आकाश के सदृश विमु, नित्य, तथा अनन्त सिद्ध होती है। इसलिए कहा गया है

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ [सांख्यकारिका - 10]
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ इति। [सांख्यकारिका - 11]

पाठगत प्रश्न 1.2

1. पच्चीस तत्वों के चार विभाग कौन-से हैं?
2. अनुभय रूप क्या है?
3. केवल विकृति कितनी हैं?
4. प्रकृति-विकृति कितनी है?
5. प्रधान को क्यों केवल प्रकृति कहा जाता है?
6. सांख्य की दृष्टि में पुरुष कौन है?

1.11) पुरुष सद्भाव हेतु

सांख्य शास्त्र में पुरुष को पच्चीस तत्वों में सबसे श्रेष्ठ तत्व माना गया है। लेकिन चेतन निर्विकार पुरुष को स्वीकार करने का क्या हेतु है अर्थात् पुरुष के अस्तित्व का क्या प्रमाण है इस विषय की सांख्य कारिका में आलोचना की गई है, जैसा की कारिका में कहा गया है

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् केवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ इति। -[सांख्यकारिका -17]

यहां कारिका में पुरुष के सद्भाव के पांच हेतु बताए गये हैं। वो हैं

(क) संघातपरार्थत्वात्, (ख) त्रिगुणादिविपर्ययात्, (ग) अधिष्ठानात्,

(घ) भोक्तृभावात् और (ङ) केवल्यार्थप्रवृत्ति है।

1.11.1) संघात परार्थ

संघात का अर्थ समूह होता है, यहां संघातपद की प्रधानता से उत्पन्न सभी कार्य (पञ्चभूतात्मक शरीरादि) स्वीकार किए गये। इसी प्रकार समूह अर्थ से स्वार्थ क्रिया का ग्रहण किया गया है तथा परार्थ पद से स्वार्थ इतर (दूसरों के लिए) कार्य भोग अपवर्ग तथा फल का ग्रहण अभीष्ट है। सभी प्रकृति से उत्पन्न कार्य अचेतन हैं, वे स्वयं के लिए क्रिया नहीं करते हैं। संसार में देखा भी गया है कि सभी अचेतन वस्तु जो प्रकृति से उत्पन्न हुई है वे भी किसी चेतन के प्रयोजन के लिए ही होती है। इसी प्रकार प्रकृति आदि जितने भी अचेतन पदार्थ हैं वे भी किसी चेतन के प्रयोजन के लिए ही है। इसलिए कोई चेतन तो है ही जिसके प्रयोजन के लिए भोग अपवर्ग के लिए प्रकृति आदि अचेतनों की प्रवृत्ति दिखाई देती है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए तो फिर यह भी स्वीकार करना चाहीए कि कोई चेतन पुरुष भी है।

ध्यान दें:

1.11.2) त्रिगुणादि विपर्यया

संघात शब्द से संघात के आन्तर्य का ही बोध होता है न कि असंघात आत्मा का। देखा गया है कि शय्या आसन शरीर आदि संघातार्थक है। इसलिए अव्यक्तादि संघातों का भी संघातान्तर (संघात के अन्दर) रूप में बोध होता है, न कि अव्यक्त से अतिरिक्त पुरुष का। यदि संघात का संघातान्तर के परार्थ स्वीकार भी करते हैं तो उसका भी संघात के संघातान्तर के प्रति परार्थ स्वीकार करना चाहिए फिर उसमें भी संघातान्तर, ऐसा करने अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। अत: सांख्य शास्त्र में अनवस्था दोष को निवारण की व्यवस्था है ही। तो दोष निवारण के लिए हेतु कहते हैं कि उससे संघातान्तर की कल्पना गौरव के लिए होती है। अब यहां पर प्रश्न होता है कि प्रमाण के होने से कल्पना गौरव दोष उत्पन के लिए ही है। तब उत्तर में कहते हैं कि यहाँ पर संघात परार्थ मात्र ही अन्वय करना चाहिए न कि संघात से संघातान्तर के प्रति परार्थ भाव का। इस प्रकार अवस्था रहित पुरुष में असंघात तत्व स्वीकार करने पर त्रिगुणरहित्व, अविवेकित्व, अविषयत्व, असामान्यत्व, अचेतनत्व तथा अप्रसवधर्मि गुण भी ग्रहण करने चाहिए। वास्तविक रूप से त्रिगुणादि धर्म भी संघात के रूप में व्याप्त है और वह संघात तत्व पुरुष में नहीं है। अत: त्रिगुणादि धर्म भी पुरुष में नहीं होते हैं। इस प्रकार त्रिगुणादि धर्मों का अभाव जहां होता है वह पुरुष कहलाता है। इसलिए ईश्वरकृष्ण ने पुरुष के सद्भाव के प्रमाण को दिखाते हुए सांख्यकारिका में उल्लेख किया है कि **'त्रिगुणादिविपर्ययाद्'।** अर्थात् सत्व, रज तथा तम ये तीन गुण होते हैं और इन तीनों गुणों की प्रधानता से महतत्वादि उत्पन्न होते हैं। अत: वे सब त्रिगुणात्मक कहलाते हैं। यहां पर त्रिगुण पद से **''त्रिगुणमविवेकि विषय: सामान्यम् अचेतनं प्रसवधर्मि''**

इस कारिका में उक्त धर्मों को जानना चाहिए। जो त्रिगुण के आदि तथा अन्त: हैं वे संघात कहलाते हैं। पुरुष संघात नहीं होने के कारण पुरुष में त्रिगुणादि धर्म भी नहीं हैं। अर्थात् त्रिगुणादि के विपर्यय का पुरुष है। अर्थात् त्रिगुणादि का अभाव जहाँ पर होता है वहीं पुरुष है। यह पुरुष के सद्भाव का द्वितीय हेतु है।

1.11.3) अधिष्ठान

पुरुष को स्वीकार करने का तीसरा हेतु है अधिष्ठानत्व। अधिष्ठान से तात्पर्य है कि जिस किसी का आश्रय लेकर के जो भी कुछ रुकता है वह (आश्रय को ग्रहण करने वाला) अधिष्ठाता कहलाता है। किनका अधिष्ठाता? तो कहते हैं त्रिगुण वालों का, सभी का अधिष्ठाता पुरुष है। इस प्रकार सुखादि आत्म सम्बन्धी पदार्थों से अलग कोई जाना जाता है तो उसे पुरुष ही समझना चाहिए। इस प्रकार से अनुमान लगाया जाता है कि महत् आदि से भी परे कोई चेतन अधिष्ठियमान है जो सुखाद्यात्मकत्व वाला अथवा संघ तत्व वाला है। जो सुख दु:ख मोह आदि से परे दिखाई देता है वह सब अधिष्ठियमान (किसी आश्रय में सुस्थिर होता है) जैसे रथ आदि सारथी आदि से अधिष्ठित दिखाई देते हैं। इस प्रकार से प्रकृति महत् आदि तत्व तथा अचेतन पदार्थों का भी कोई अधिष्ठाता होता हुआ कोई चेतन पुरुष ही है यह सिद्ध होता है। यदि महत् आदि पदार्थों का अधिष्ठाता कोई दूसरा महदादि पदार्थ भी होता है तो फिर पुरुष को अधिष्ठान रूप में स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है? उत्तर देते हुए कहते हैं, नहीं महत् आदियों का कोई अधिष्ठाता हो ही नहीं सकता क्योंकि वह स्वयं ही अपने अधिष्ठान हैं। तब पुन: प्रश्न उत्पन्न होता है कि जो व्यापारवान् होता वह ही अधिष्ठाता होता है जैसे रथ और उसमें सारथी आदि, आत्मा तो निर्गुणत्व होने के कारण निष्क्रिय तथा व्यापार रहित है अत: इसका अधिष्ठातृत्व सिद्ध नहीं हो सकता। पुन: उत्तर देते हुए कहते हैं कि अधिष्ठाता व्यापार वाला हो यह नियम नहीं कर सकते। जैसे लोहे की मणि के जैसे व्यापार रहित आत्मा का भी सन्निधि मात्र से अधिष्ठातृत्व सिद्ध होता है। जैसा की कपिल सूत्र में कहा गया है। **"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्"** इति।

ध्यान दें:

1.11.4) भोक्तृभावात्

चतुर्थः पुरुष को स्वीकारने का चौथा हेतु है भोक्तृत्व भाव। जैसे सुख तथा दु:ख भोगने योग्य होते हैं। अनुकूलता की वेदना सुख कहलाती है तथा प्रतिकूलता की वेदना दु:ख कहलाती है। सुख और दु:ख का आत्मा को अनुभव होता है। सुख और दु:ख भाग्य भाव तब ही सिद्ध होता है जब कोई चेतन भोक्ता हो। इस प्रकार से चेतन को स्वीकार किया जाता है। वह भोक्ता बुद्धि आदि के अतिरिक्त चेतन पुरुष को ही अङ्गीकार करना चाहिए। यह प्रथम व्याख्या है।

अथवा भोग्य दृश्य बुद्धि आदि है, तो दृष्टा के बिना उनको देखा भी नहीं जा सकता है अत: उनका भी जो दृष्टा है वह बुद्धि आदि के अतिरिक्त पुरुष ही है। अनुमान के अनुसार बुद्धि आदि की सिद्धि भी दृष्टा पूर्वक ही होती है तो दृश्य के रूप में घटादि होते हैं। उसी प्रकार बुद्धि सुख दु:ख आदि भी दृश्य है जैसे पृथ्वी आदि है। अत: दृश्य पदार्थों का दृश्यत्व तब ही साथ चलता है जब दृष्टा को माना जाता है और वही दर्शनकर्ता पुरुष है। इसलिए कोई पुरुष है ऐसा स्वीकार करना चाहिए। यह द्वितीय व्याख्या है। लेकिन पुरुष के असङ्ग होने के कारण दर्शनकर्तृत्व तो है ही नहीं। तब कहते हैं ऐसा नहीं है यहाँ पर जो पुरुष का दृष्टत्व कहा जा रहा है वह बुद्धि आदि सोपाधिक पुरुष के लिए कहा जा रहा है। इसी प्रकार दृष्टत्व था भोक्तृत्व भी बुद्धि आदि औपाधिक पुरुष के लिए ही सम्भव होता है। इस प्रकार से दोनों प्रकार की व्याख्या करने पर कोई दोष नहीं हैं।

1.11.5) केवल्यार्थप्रवृत्ति

पुरुष को स्वीकार करने में पाँचवाँ हेतु है "केवल्यार्थ प्रवृत्ति"। केवल्य तीनों दु:खों की आत्यन्तिक निवृत्ति को कहा जाता है। तो वह पुरुष त्रिविध दु:ख से दूर होता है। शास्त्रों के सार को समझने वाले दिव्य महर्षियों में वह केवल्य प्रवृत्ति दिखाई देती है। दु:खादि वाली बुद्धि को स्वभाव से जीता नहीं जा सकता। बुद्धि आदि से अतिरिक्त पुरुष का दु:खादि से वियोग हो सकता है। इसलिए महर्षियों की केवल्यार्थ प्रवृति दिखाई देती है। इस कारण से महर्षिजन बुद्धि आदि से अतिरिक्त कोई पुरुष है जो इन तीनों दु:खों के विनाश रूप केवल्य की इच्छा करते हैं। इस प्रकार से पुरुष सद्भाव का पांचवां हेतु सांख्य कारिका में प्रतिपादित किया गया है।

1.12) पुरुषस्यबन्धमोक्षौ

दर्शनों के मुख्य विषय में सर्वश्रेष्ठ विषय है पुरुष का मोक्ष। वास्तविक रूप से देखा जाए तो मोक्ष के लिए ही सभी दर्शनों की प्रवृत्ति होती है। सांख्य सिद्धान्त में भी बन्धन तथा मोक्ष की व्यवस्था की आलोचना की गई है। अब प्रश्न यह होता है कि सांख्य सिद्धान्तों में तो पुरुष निर्विकार है तो वह किसी भी कर्म के साथ लिप्त हो ही नहीं सकता अत: उसका कर्त्तव्य भी सम्भव नहीं है तथा उससे धर्म तथा अधर्म की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। धर्म और अधर्म के अभाव में सुख तथा दु:ख की भी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। दु:ख की उत्पत्ति नहीं होने के कारण पुरुष में दु:ख सम्बन्ध रूप बन्धन तथा दु:ख ध्वंस रूप मोक्ष भी सम्भव नहीं है, अत: सांख्य सिद्धान्त के अनुसार तो पुरुष का बन्धन तथा मोक्ष दोनों ही सिद्ध नहीं होते हैं।

तब द्वितीय पक्ष उत्तर देता है कि भले ही शास्त्र में पुरुष का बन्धन तथा मोक्ष कहा गया है फिर भी बन्धन तथा मोक्ष बुद्धि के द्वारा ही होता है पुरुष तो जल में कमल वत् निर्लिप्त रहता है। पुरुष में तो बुद्धि के विद्यमान रहने से ही बन्धत्व तथा बुद्धि के अविद्यामान होने को ही मोक्ष कहा गया है।

पाठ-1

सांख्य दर्शन का सामान्य परिचय

ध्यान दें:

सृष्टि के आरम्भ में सबसे पहले प्रकृति से बुद्धि की ही उत्पत्ति हुई तथा बुद्धि के ही महत् तथा अन्तकरण आदि नाम हुए। इसके द्वारा ही सुख तथा दु:ख की छाया जीवात्मा पर पड़ती है जिससे वह आत्मा सुखी तथा दु:खी प्रतीत होती है। युग छाया ही पुरुष का संसार है। जब प्रकृति तथा पुरुष के नाश से विवेक के ज्ञान से बुद्धि का नाश होता है तब ही उसकी सुख तथा दु:ख की छाया का भी नाश हो जाता है। तब आत्मा शुद्ध रूप में अवशिष्ट रहती है। यह प्रकृति और पुरुष का ज्ञान विवेक ख्याति कहलाता है तथा इसे सदसत्ख्याति भी कहते हैं। तत्व साक्षात्कार होने पर विवेक ख्याति में स्थित पुरुष त्रिगुणात्मिका प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है, उस समय संसार को रङ्गमञ्च की भांति देखता है और वह प्रकृति भी उस व्यक्ति का कोई कार्य नहीं करती है। तब पुरुष अपने शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार करता है। यह अवस्था ही मोक्ष कहलाती है। इसलिए सांख्य कारिका में कहा गया है।

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ इति। [62]

पाठगत प्रश्न 1.3

1. पुरुष के सद्भाव के कितने हेतु कारिका में बताए गये हैं?

   (क) पांच (ख) सात (ग) आठ (घ) नौ

2. तीन गुण कौन-कौन से हैं?
3. पुरुष का बन्धन कैसे होता है?
4. पुरुष का मोक्ष कैसे होता है?
5. केवल्य किसे कहते हैं?
6. सुख क्या है?
7. दु:ख क्या है ?
8. पुरुष के अधिष्ठातृत्व सिद्धि हेतु कौन-सा सूत्र है?

पाठ सार

इस पाठ में आदि में सांख्य शब्द के अर्थ के विषय में विचार किया गया है। जिसमें पच्चीस सांख्य तत्वों के विषय में अनेकों मतों के बारे हमने अध्ययन किया। सांख्य दर्शन के प्रवर्तक आचार्य कपिल तथा उनका ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं होता है, इस कारण से वर्तमान में उपलब्ध ईश्वरकृष्ण की सांख्यकीरिका ही प्रमाणिक ग्रन्थ के रूप में स्वीकार की जाती है। जिसमें चार प्रकार के विभाग हैं। अन्य दर्शनों की भाँति ही सांख्य दर्शन की प्रवृत्ति भी तीनों दु:खों का आत्यन्तिक विनाश है। और वह विनाश प्रकृति तथा पुरुष के विवेक से सम्भव होता है। इस प्रकार प्रकृति तथा पुरुष के विवेक के लिए तथा उन दोनों के स्वरूप ज्ञान के लिए पुरुष के स्वरूप का विचार किया है। पुरुष ही असङ्ग, निर्विकार, अकर्ता, चेतन, साक्षी तथा केवल्य है। पुरुष के अस्तित्व सिद्धि के लिए पाँच हेतु बताए गये हैं

(क) संघातपरार्थत्वात् (ख) त्रिगुणादिविपर्ययात् (ग) अधिष्ठानात्

(घ) भोक्तृभावात् (ङ) केवल्यार्थं प्रवृत्ति

ध्यान दें:

आपने क्या सीखा

- सांख्य दर्शन का विस्तार पूर्वक परिचय,
- सांख्य शब्द के अर्थगत विषयों को जाना,
- सांख्य दर्शन के आचार्य तथा उनका परिचय,
- सांख्य दर्शन में स्वीकार 25 तत्त्वों को जाना,
- पुरुष का स्वरूप तथा उसे स्वीकार करने वालों के विषय में जाना।

पाठान्त प्रश्न

1. सांख्य दर्शन के आचार्यों के ग्रन्थों के विषय में परिचय दीजिए?
2. पुरुष के स्वरूप का संक्षेप में वर्णन कीजिए ?
3. सांख्य शब्द के विषय में लघु टिप्पणी लिखिए?
4. सांख्य दर्शन की प्रवृति तथा उसके कारण को समास विधि से बताइए?
5. सांख्य शास्त्र की केवल विकृतियों का परिचय दीजिए?
6. पुरुष के बन्धन तथा मोक्ष के विषय में लघु टिप्पणी लिखिए?
7. कौन किसलिए प्रकृति तथा विकृति को समझते हैं?
8. पुरुष के सद्भाव अर्थात् कारणों का जो वर्णन सांख्य कारिका में दिया गया है उसका संक्षेप में परिचय दीजिए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.1

1. सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा तथा उत्तर मीमांसा से छः आस्तिक दर्शन हैं।
2. ये दर्शन वेद रूपी प्रमाण को मानते हैं अतः ये आस्तिक दर्शन हैं।
3. कपिल।
4. ईश्वरकृष्ण।
5. आध्यात्मिक, आधिभौतिक, तथा आधिदैविक है।
6. आत्यान्तिक दु:ख निवृति।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.2

1. केवल प्रकृति, केवल विकृति, प्रकृति-विकृति, अनुभयरूप
2. पुरुष।
3. आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी पञ्चमहाभूत है। श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नासिका पांच ज्ञानेन्द्रियाएँ हैं। मुख, हाथ, पैर, गुह्य तथा शिश्न ये कर्मेन्द्रियाएं हैं तथा मन इस प्रकार से ये सोलह

पदार्थ केवल विकृति है।

4. महत्, अहङ्कार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, तथा गन्ध ये सात पदार्थ प्रकृति तथा विकृति दोनों ही हैं।
5. सभी में प्रधान होने के कारण, लेकिन जिसका भी कोई अन्य कारण नहीं है, इसलिए वह केवल प्रकृति है अर्थात् कारण है।
6. सांख्य शास्त्र में पुरुष साक्षी केवल, दृष्टा, अकर्ता तथा मध्यस्थ है।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.3

1. **पाँच हेतु बताए गये हैं**

   (1) संघातपरार्थत्वात् (2) त्रिगुणादिविपर्ययात् (3) अधिष्ठानात्,

   (4) भोक्तृभावात्, (5) केवल्यार्थं प्रवृत्तेः च।
2. सत्व रज तथा तम ये तीन गुण होते हैं।
3. बुद्धि के साथ पुरुष का सम्बन्ध ही बन्ध कहलाता है।
4. बुद्धि के साथ पुरुष के सम्बन्ध का नाश ही मोक्ष कहलाता है
5. केवल्य से तात्पर्य है आत्यन्तिक रूप से तीनों दु:खों की निवृत्ति।
6. अनुकूलता का अनुभव ही सुख है।
7. प्रतिकूलता का अनुभव ही दु:ख है।
8. "तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्" इति।

ध्यान दें:

2

सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष गुण विचार

सांख्य दर्शन भारतीय छः दर्शनों में सबसे प्राचीनतम दर्शन है। जिसमें पच्चीस तत्वों को स्वीकार किया गया है। जिनमें मुख्य रूप से दो ही तत्व हैं वो है प्रकृति तथा पुरुष। प्रकृति से ही विकृति के रूप में अन्य तेईस तत्वों का निर्माण होता है। 'प्रकृति और पुरुष भिन्न होते हैं' इस प्रकार का विवेक होने पर ही मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है। लेकिन प्रकृति और पुरुष के विवेक के ज्ञान के लिए प्रकृति और पुरुष का स्वरूप अच्छे से जानन चाहिए उसके द्वारा ही यह प्रकृति पुरुष से भिन्न है। तथा पुरुष प्रकृति से भिन्न है इस प्रकार का विवेक उत्पन्न होता है। प्रकृति और पुरुष के स्वरूप के ज्ञान के बिना विवेक ख्यति हो ही नहीं सकती है इसलिए प्रकृति और पुरुष का स्वरूप तथा उससे संबंधित विषयों का चिन्तन करना चाहिए।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप सक्षम होंगे;

- सांख्य दर्शन में पुरुष बहुत्व को क्यों स्वीकार किया गया है, यह ज्ञान में;
- सांख्य दर्शन में प्रकृति क्या है इसका विस्तार से परिचय प्राप्त कर पाने में;
- किसलिए प्रधान तत्वों को स्वीकार किया गया है, इसका ज्ञान करने में;
- सत्व रज तथा तमोगुण का विस्तार से परिचय प्राप्त कर पाने में;
- सांख्य शास्त्र में पुरुष के चेतन होने पर भी अकर्तृत्व तथा बुद्धि का अचेतन होने पर भी कर्तृत्व कैसे है? यह स्पष्ट करने में;
- प्रधान किस प्रकार जगत का कर्ता है इसका बोध कर पाने में;
- प्रकृति की प्रवृत्ति किसलिए है इसका ज्ञान प्राप्त करने में;

ध्यान दें:

1.1) पुरुष बहुत्व

पुरुष के अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए, वह पुरुष सभी शरीरों में एक है अथवा अनेक इसका विचार सांख्यकारिका में किया गया है। पुरुष एक है अथवा अनेक विषय में दर्शन सम्प्रदाय में विभिन्न मतभेद प्राप्त होते हैं। वहां पर सांख्य सम्प्रदाय में पुरुषबहुत्व है यह स्वीकार किया गया है। इस लिए सांख्य दर्शन वालों को बहुपुरुष आदि कहा गया है। वो क्यों पुरुष का बहुत्व स्वीकार करते हैं? इस विषय में बहुत सारी युक्तियाँ हैं। सांख्यकारिका में कहा गया है कि "पुरुष बहुत्वं सिद्धम्"। किस प्रकार से बहुपुरुषत्व सिद्ध होता है? "लक्षणप्रमाणाभ्यं वस्तुसिद्धिः" इस वचन का अनुकरण करके कारिका में तीन हेतु बताए गये हैं। वे हैं (क) जननमरणकरणानां प्रतिनियामात् (जन्म तथा मरण के नियम से) (ख) अयुगपत् प्रवृत्तेः, (एक साथ प्रवृत्ति नहीं होने के कारण), (ग) त्रैगुण्यविपर्ययात्, (तीनों गुणों के विपर्यय से)। इसलिए सांख्यकारिका में कहा गया है।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमाद् अयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥ इति। [सांख्यकारिका-१८]

1.1.1) जन्म मरण करने के प्रतिनियम

जन्म मृत्यु तथा अन्तः करणादि तेरह कारणों से पुरुष बहुत प्रकार के होते हैं। अलग-अलग पुरुष के लिए अलग-अलग नियम होते हैं। प्रत्येक पुरुष के जन्म-मरण तथा अन्तादिकरण के नाम भी अलग-अलग होते हैं। अब प्रश्न करते हैं कि- पुरुष के अनादि अनन्त तथा उत्पत्ति व विनाश के नहीं होने से किस प्रकार जन्म मृत्यु आदि होते हैं। तब कहते हैं कि- निकाय विशिष्ट अपूर्व साथ तथा देह, इन्द्रिय, मन, अहङ्कार, बुद्धि आदि के साथ अभिसम्बन्ध होने के कारण पुरुष का जन्म होता है। निकाय पद से यहाँ पर देह, इन्द्रिय, मन तथा अहङ्कार आदि का मिला हुआ एक प्रयोजन साधकत्व कहा गया है। अभिसम्बन्ध इस पद से यहाँ पर अभिमान रूप सम्बन्ध बताया गया है न कि संयोगादि रूप। देह तथा इन्द्रियों के साथ मिलितावस्था में निकाय तथा संघात को स्वयं में मानने वाले पुरुष के साथ निकाय का भोक्ता और भोग्य रूप में सम्बन्ध होता है। इसलिए निकाय (देह, इन्द्रिय, मन तथा अहङ्कार) के बहुत होने के कारण पुरुष बहुत्व भी सिद्ध होता है। मृत्यु से तात्पर्य है पुरुष के द्वारा स्वीकृत देह आदि का परित्याग करना तथा भोक्तृ और भोग्य सम्बन्ध का विनाश होना। न कि आत्मा का विनाश होना। आत्मा कूटस्थ तथा नित्य होने के कारण अविनाशी है। सांख्य योग में बाल्यावस्था, युवावस्था तथा देह में भिन्नता नहीं बताई गई है, इससे उनका अपूर्वत्व भी स्वीकृत नहीं होता है। केवल मातृगर्भस्थ देह का ही अपूर्वत्व बताया गया है। इस प्रकार जन्म-मरण आदि कारणों की व्यवस्था सभी शरीरों में एक पुरुष की एक साथ नहीं हो सकती। अर्थात् यदि पुरुष एक ही होता है तो एक के जन्म के साथ सभी का जन्म होना चाहिए तथा और एक के मरण के साथ सभी का ही मरण होना चाहिए, एक अन्धा होने पर सभी अन्धे होने चाहिए तथा एक का मन व्याकुल होने पर सभी का मन व्याकुल होना चाहिए, ऐसे तो यहाँ अव्यवस्था हो जाती। इसलिए प्रत्येक शरीर में पुरुष भिन्न-भिन्न होने के कारण प्रत्येक पुरुष का अलग-अलग जन्म मरण तथा इन्द्रियों की भिन्नता सिद्ध होती है।

अब पुनः प्रश्न करते हैं कि पुरुष बहुत्व स्वीकार करने का कोई प्रयोजन नहीं है पुरुष भी उपाधि भेद से अनेक हो सकता है जैसे आकाशादि अनेक रहते हैं। जैसे उपाधि भेद से हम आकाश का भी घटाकाश तथा पटाकाश इस प्रकार से व्यवहार करते हैं इस प्रकार से यहाँ पर भी विविध देहोपाधिक पुरुष स्वीकार करना चाहिए। तब उत्तर में कहते हैं कि- ऐसा करने पर तो हाथ स्तन आदि उपाधियों के भेद से जन्म तथा मरण के प्रसङ्ग भी समान हो जायेंगे। जैसे किसी का हाथ कट जाने पर उसको

ध्यान दें:

मृत कहा जाता है और न स्तन आने पर युवति हो गई ऐसा कहा जाता है। इसलिए देह भेद से पुरुष भी भिन्न-भिन्न होते हैं यह सिद्ध होता है।

1.1.2) अयुगपत प्रवृत्ति

अयुगपत् प्रवृत्ति के कारण

सभी की एक साथ प्रवृत्ति नहीं होने के कारण पुरुष बहुत्व स्वीकार करना चाहिए, प्रवृत्ति से तात्पर्य है प्रयत्न लक्षणा (एक साथ प्रयत्न) भले ही वह अन्त:करण वाली हो फिर भी गौंण रूप से पुरुष में ही आरोपित होती है। जैसे सेवक की जय उसके प्रभु में आरोपित होती है उसी प्रकार स्व स्वामीभाव सम्बन्ध के कारण से अन्त:करण में स्थित प्रयत्न का भी पुरुष में ही आरोप होता है (अर्थात वह प्रयत्न पुरुष के द्वारा ही किया जाता है) इस प्रकार का प्रयत्न प्रति शरीर के भिन्न होने के कारण पुरुष बहुत्व भी ग्रहण करना चाहिए। यदि पुरुष एक ही स्वीकार किया जाए तो एक शरीर में उसके होते हुए उसे सभी शरीर में एक साथ माना जाना चाहिए, तो फिर सभी शरीर एक साथ चलने चाहिए अत: पुरुष भिन्नता स्वीकार करने पर ऐसा सम्भव नहीं होता है। सभी की यह तो प्रत्यक्ष स्थिति है कि सभी की प्रवृति एक साथ नहीं होती है। अत: सभी का प्रवृत्ति भेद स्वीकार करने पर पुरुषों में भी भिन्नत्व स्वीकार करना चाहिए। इसलिए पुरुष बहुत्व है।

1.1.3) त्रैगुण्यविपर्यय

तीनों गुणों के विपर्यय से भी पुरुष बहुत्व की सिद्धि होती है। सत्व, रज तथा तम ये तीन गुण होते हैं। इन तीनों गुणों को त्रैगुण्य कहा जाता है। त्रैगुण्य का विपर्यय अर्थात् तीनों गुणों का अलग-अलग होना। कुछ प्राणी जितेन्द्रिय तथा सत्वगुण के बाहुल्य वाले होते हैं। कुछ प्राणी रजोगुण के बाहुल्य वाले होते हैं जैसे मनुष्य तथा कुछ प्राणी तमो गुण के बाहुल्य वाले होते हैं जैसे तिर्यग् योनी वाले जीव जन्तु। यदि एक ही पुरुष को स्वीकार करते हैं तो इस प्रकार तीनों गुणों का अलग-अलग भाव सम्भव ही नहीं है। एक पुरुष को स्वीकारने में तो उसी में ही सत्व बाहुल्य, उसी में ही रजो बाहुल्य, तथा उसी में ही तमो बाहुल्य स्वीकार करना चाहिए। यो युक्ति पूर्वक देखा जाए तो एक साथ नहीं हो सकता। बहुत पुरुष स्वीकार करने पर एक में रजो बाहुल्य अन्य में सत्व बाहुल्य व तमो बाहुल्य स्वीकार कर सकते हैं। इसलिए पुरुष बहुत्व स्वीकार करना चाहिए यह सांख्य कारिका में ईश्वरकृष्ण का मत है।

आत्मा को एक मानने पर 'कोई पुरुष बँधा है और कोई पुरुष मुक्त है' इस प्रकार से तो प्रत्येक शरीर में बन्ध तथा मोक्ष की व्यवस्था भी सम्भव नहीं है। इसलिए आत्मा भिन्न ही है। जैसे कणाद् सूत्र में कहा गया है कि 'व्यवस्थातो नाना'। सांख्य सूत्र में भी कहा गया है 'जन्मादिव्यवस्थात:पुरुषबहुत्व'। इस प्रकार एक (पुरुष) में ही जन्म, मरण, सुख तथा दु:ख आदि विभाग नहीं होते हैं। इस प्रकार वह व्यवस्था उत्पन्न ही नहीं होती यदि सभी शरीरों में एक ही पुरुष को मानते तो। इसलिए पुरुषों का नानात्व अङ्गीकृत किया गया है।

1.2) मूल प्रकृति

केवल प्रकृति को ही प्रधान पद से मूल प्रकृति जानना चाहिए। यह अन्य किसी की विकृति नहीं है। अच्छे प्रकार से जो कार्य को उत्पन्न करती है वह प्रकृति कहलाती है। प्रकृति रूप से जो तत्वों को आरम्भ करती है तथा जिससे अन्य तत्व उत्पन्न होते हैं इस प्रकार का जो कारण विशेष वह प्रकृति है। वह मूल प्रकृति ही सत्व रज तथा तमोगुण की साम्यावस्था रूप है। सभी का मूल होने के कारण मूल

ध्यान दें:

प्रकृति भी कहा जाता है। महद् आदि का मूल होने कारण यह प्रधान कहलाती है इसका कोई कारणान्तर नहीं है। मूल प्रकृति का भी कारणान्तर स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आ जाता है। जिसके द्वारा जगत् उत्पन्न होता है तथा प्रलय के समय में जिसमें जगत् समा जाता है इसलिए यह सभी से प्रधान है। वह भी मिट्टी तथा सोने की तरह अचेतन में चेतन पुरुष के भोग अपवर्ग आदि साधन के लिए स्वभाव से ही प्रवर्तित होती है न कि किसी के द्वारा प्रवर्तित की जाती है।

1.3) प्रधान सद्भाव में मान

पुरुष के सद्भाव का क्या प्रमाण है यह विषय सांख्य कारिका में विस्तार पूर्वक चर्चित हो चुका है। तथा प्रकृति के सद्भाव का क्या मान है? इस विषय में भी सामान्य विचार किया गया है। सांख्यकारिका में प्रारम्भ में सांख्य सम्मत प्रमाणों का विचार किया गया है। जहाँ पूर्व पक्ष के द्वारा आक्षेप किया गया है कि जैसे आकाश पुष्प, कछुए में रोम, तथा खरगोश के सिंह इनमें प्रत्यक्ष विषय के नहीं होने के कारण मिथ्या सिद्ध होता है। इस संशय के निवारण के लिए प्रधान आदि की सांख्यकारिका में सिद्धि कही गयी है

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च॥ इति। [सांख्यकारिका - 7]

विषय की विद्यमानता सत्य होने पर भी क्यों प्रत्यक्ष के माध्यम से उसे नहीं जाना जा सकता? इसके आठ हेतु सांख्य कारिका में बताए गये है। 1. अधिक दूर होने से, 2. अधिक समीप होने से, 3. इन्द्रियों के सही नहीं होने से, 4. मन के एकाग्र नहीं होने से, 5. अति सूक्ष्म होने से, 6. बीच में व्यवधान होने से, 7. अभिभव से, 8. समानाभिहार (सदृशता के कारण)।

अधिक दूर होने के कारण आकाश में उड़ते हुए पक्षी नहीं दिखाई देते हैं। अधिक पास में होने के कारण आँखों में काजल भी दिखाई नहीं देता है। इन्द्रियघात अर्थात अन्धता तथा बधिरता के कारण अन्धेपन से समीप होता हुआ कुछ भी दिखाई नहीं देता है। मन का अनवस्था में होने के कारण। जैसे कामादि से उपहत मन वाले स्फूर्ति लोक मध्यवर्ती इन्द्रिय सन्निकृष्ट अर्थ को नहीं देखता है। सूक्ष्मता के कारण से इन्द्रिय के पास होते हुए भी परमाणु आदि न देखता है। व्यवधान के कारण जैसे- बीच में भीति (खिड़की) आदि के आ जाने के कारण कुछ भी नहीं दिखाई देता है। अभिभव से तात्पर्य है कि बलवान के द्वारा निर्बल का आच्छादन करना अथवा तिरस्कार करना, जैसे दिन में सूर्य के प्रभाव के कारण ग्रह नक्षत्र आदि नहीं दिखाई देते हैं। समानाभिहार से तात्पर्य है सजातीयों का मिश्रण जिस प्रकार जलाशय में वर्षा के जल को अलग से नहीं देखा जा सकता है। इस प्रकार वस्तु होने पर भी इन कारणों से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देती है। इसी प्रकार सांख्य तत्वों में प्रधानादि के अनुपलब्ध होने पर कहते हैं कि

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः।
महदादि तच्च कार्यं प्रकृतिसरूपं विरूपं च॥ इति। [सांख्यकारिका - 8]

प्रधान आदि तत्व अभाव के कारण नहीं अपितु सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देते हैं। अतः अतिसूक्ष्म परिमाण को सूक्ष्म शब्द से पुकारा जाता है। तो कहते हैं कि क्या यहां पर सूक्ष्मता है? नहीं। क्योंकि प्रकृति पुरुष अणुवादि के जैसे सूक्ष्म नहीं है अपितु उन दोनों के विभुत्व होने के कारण (वह दिखाई नहीं देते हैं) इसलिए सर्वव्यापी पदार्थों के लिए सूक्ष्मत्व कथन सही नहीं होता है। प्रश्न करते हैं तो किस प्रकार इनके सूक्ष्मत्व उपस्थापन होगा? तब वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि परमाणु आदि में भी सूक्ष्मता के होने के कारण एकाग्रचित्त व्यक्तियों को भी उसकी उपलब्धि नहीं होती है। इसलिए सूक्ष्मता का कोई ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए जिससे अणु वत् परिमाण वाले प्रकृति तथा पुरुष का भी ग्रहण

ध्यान दें:

हो जाए। अणु परिमाण, महत् परिमाण तथा परम महत् परिमाण इस प्रकार से परिमाण तीन प्रकार का होता है। इनमें अणु परिमाण परमाणु का नैयायिकों के मत में मानस आदि के समान होता है। महत् परिमाण पृथ्वी आदि का मूर्त द्रव्यों के समान होता है। जैसा कि कहा गया है "परिछिन्न परिमाणवत्त्वं मूर्तत्वम्"। परम महत् परिमाण पुरुषादि का विमु पदार्थों के समान होता है। विभुत्व से तात्पर्य है कि सभी मूर्त तथा द्रव्यों का संयोग **"सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगित्वम्"।** जैसे अणु परिमाण का उद्भूत रूपत्व के अभाव से प्रत्यक्ष नहीं होता है। उसी प्रकार परम महत् का भी परमाणु की ज्यादा गति के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता है यही सूक्ष्मत्व का तात्पर्य है। फिर भी सांख्य शास्त्र में पुरुष निर्गुण है इसलिए उसमें परम महत् आदि परमाणों का होना तो असम्भव है? तब यहाँ कहते हैं कि निर्गुण शब्द ही प्रस्तुत क्षेत्र में ज्ञानादि विशेष गुणों के अभाव का बोधक है न कि संख्या परिमाणादि सामान्य गुणों का। इसलिए ही प्रकृति और पुरुष का संयोग स्वीकार करने पर भी पुरुष का निर्गुणत्व व्याहत (नष्ट) नहीं होता है।

इस प्रकार प्रधानादि तत्वों के सूक्ष्म होने के कारण उनकी अनुपलब्धि प्रत्यक्ष के कारण होती है न कि अभाव के कारण। और कार्य से ही जिनकी उपलब्धि होती है। इस कारण से ही प्रधानादियों का असत्त्व सिद्ध होता है। वह कौन-सा कार्य है जिससे प्रधान आदि में सत्व का प्रमाण होता है? तब कहते हैं कि महत् आदि ही उसके कार्य हैं तथा प्रकृति सरूप और विरूप भी। प्रधान का कार्य महत्, महत् का अहंकार, इस परम्परा से पांच महाभूत ग्यारह इन्द्रियाँ आदि प्रधान के कार्यभूत है। इनके कार्यों का कारण किसी सद् उपादान के द्वारा होता है, इस कारण से प्रधान के सत्व को स्वीकार करना चाहिए। कार्य ही कारण सजातीय कारण से भिन्न होता है, यह नियम है। जैसे दूध से उत्पन्न दही वर्णादि से सजातीय रहने पर भी अम्लादि गुणों के द्वारा दूध से भिन्न होता है। उसी प्रकार प्रकृति से उत्पन्न महदादि भी प्रकृति के सरूप और विरूप दोनों है।

पाठगत प्रश्न 1.1

1. परिणाम त्रैवविद्य क्या है?
2. बहु पुरुष वादि कौन हैं?

   (क) नैयायिक (ख) वैशेषिक (ग) वेदान्ति (घ) सांख्य
3. पुरुष बहुत्व को स्वीकार करने के कितने हेतु सांख्यकारिकाकार ने बताए हैं?

   (क) तीन (ख) चार (ग) पाँच (घ) सात
4. पुरुष बहुत्व का प्रतिपादन करने वाली सांख्यकारिका की कारिका कौन-सी है?
5. पुरुष बहुत्व का प्रतिपादन करने वाला सांख्यसूत्र कौन-सा है?
6. मूल प्रकृति क्या है?
7. विषय के विद्यमान होने पर भी प्रत्यक्ष को क्यों नहीं जाना जा सकता है इसके कितने कारण सांख्य कारिका में बताए गये हैं

   (क) पाँच (ख) छ (ग) सात (घ) आठ
8. प्रधानादि का अप्रत्यक्ष कैसे होता है?

   (क) अतिदूरात् (ख) सूक्ष्मात (ग) व्यवधानात् (घ) समानाभिहारात्

ध्यान दें:

सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष गुण विचार

1.5) प्रकृति स्वरूप

प्रकृति का स्वरूप

पुरुष तथा प्रकृति ये मूल दो तत्व सांख्य सिद्धान्त में बताए गये हैं। पुरुष स्वयं स्वरूप से सभी प्रकार के विकारों से रहित होता हुआ भी बुद्धितत्व में प्रतिबिम्बित होता हुआ आत्मा का अन्यथा चिन्तन करता हुआ संसार रूपी चक्र में चक्कर लगाता हुआ दु:ख को प्राप्त करता है। सत्व पुरुष से भिन्न है इस ज्ञान से पुरुष की भ्रान्ति दूर हो जाती है तथा बुद्धि धर्म अभिमान का भी तिरोभाव हो जाता है तथा अविवेक रूप बन्धन से मोक्ष मिल जाता है। सत्व पुरुष नहीं है, तथा पुरुष सत्व नहीं है इस प्रकार अन्योन्याभाव प्रतीति ही सत्वपुरुषान्यथा ख्याति कहलाती है। सत्त्व तो यहाँ प्रकृति ही है। प्रकृति तथा पुरुष के भेदज्ञान रूपी विवेक तब सम्भव होता है जब प्रकृति तथा पुरुष का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। अर्थात् पुरुष का स्वरूप क्या है? तथा प्रकृति का स्वरूप क्या है? इस ज्ञान के बाद ही प्रकृति तथा पुरुष की भिन्नता का बोध होता है। इसलिए प्रकृति और पुरुष के विवेक लिए प्रकृति के स्वरूप को जानना चाहिए। व्यक्त तथा अव्यक्त के सामान्य धर्म के प्रस्ताव काल में प्रकृति का स्वरूप सांख्य कारिका में बताया गया है।

त्रिगुणमविवेकि विषय: सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ इति। [सांख्यकारिका-11]

अव्यक्त ही प्रधान है। वही प्रकृति कही जाती है। जितने भी प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं उन सभी को अव्यक्त ही मानना चाहिए। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। गुणों की सत्त्व रज तथा तमो अवस्था ही प्रकृति कहलाती है। जैसे की सांख्यसूत्र में कहा गया है। "सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति:" इति। ये तीनों गुण प्रकृति के धर्म नहीं है अपितु प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका होती है। इसलिए कहा गया है कि "सत्वादि गुणों का प्रकृति धर्मत्व नहीं है अपितु क्योंकि वो स्वयं ही प्रकृति स्वरूप है"। प्रकृति कारणरूपा होती है न कि कार्य रूपा। अत: इसको नित्य कहते हैं। यदि प्रकृति कारणान्तर कल्पना करे तो अनवस्था प्रसङ्ग उत्पन्न होता है। क्योंकि कारण के गुण ही कार्य में आते हैं इस नियम के अनुसार प्रकृति से उत्पन्न महदादि व्यक्त भी त्रिगुणात्मक है। जैसे काले धागे से बने हुए वस्त्र भी काले ही होते हैं, वैसे ही। यहां पर इस श्लोक में त्रिगुणं इस पद से सत्वादि गुणों के धर्म सुख, दु:ख, मोह आदि का ग्रहण करना चाहिए न की धर्मी सत्व, रजस, तमस का मूल गुण। धर्मी और धर्म इन दोनों में अभेद होने के कारण सुखादि धर्म ही यहाँ पर गुण शब्द से अभिप्रेत है न कि सत्त्वादि धर्मी। इससे प्रकृति सुख दु:ख तथा मोहात्मक है यह सिद्ध होता है।

अविवेकि व्यक्त-अव्यक्त में धर्म विशेष ही होता है। यहाँ पर अविवेकिता से तात्पर्य सम्भूयकारिता से है। न कि किसी एक पर्याप्त स्वीकार्य से तथा न ही सम्भूय से यहां पर किसी एक से किसी का कुछ भी सम्भव नहीं होता है। अथवा प्रधान स्वयं की विवेचना नहीं करता है इस कारण से भी अविवेकी है। महदादि तत्व भी प्रधान से विवेचित (व्यक्त) नहीं होते हैं इसलिए वे भी अविवेकी ही है। वे गुण यहाँ व्यक्त हैं तथा वे गुण यहाँ अव्यक्त हैं इस प्रकार के विवेक को नहीं कर सकने के कारण व्यक्तादि अव्यक्त तथा अविवेकी है। विषय इस पद से आन्तर विज्ञान प्रधानादि तत्व है यह स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। इस विषय पद के अर्थ से केवल बाह्य ग्रहण योग्य भोग्य पदार्थों को ही अङ्गीकृत किया गया है। प्रधान ही सुख दु:खमोह आदि के माध्यम से सभी पुरुषों के द्वारा भोग्य है। प्रधान ही सामान्य है ऐसा कहा जाता है। अनेक पुरुषों के द्वारा ग्रहण होने के कारण वह सामान्य है। जैसे घट पटादि का अनेकों के द्वारा ग्रहण होता है, जैसे नर्तकी के रूपलताभङ्ग आदि का बहुतों के द्वारा प्रत्यक्ष गोचर होता है वैसे ही व्यक्त तथा अव्यक्त इन दोनों का भी बहुपुरुष ग्राह्यत्व के कारण समान ही भाव है, पुरुष बहुत्व होने

ध्यान दें:

के कारण। अव्यक्त प्रधान तथा व्यक्त सभी अचेतन हैं। प्रसवधर्मी तथा व्यक्त व अव्यक्त दोनों का अलग ही धर्म है। बुद्धि से अहङ्कार, उससे इन्द्रियां तथा तन्मात्राएँ, और तन्मात्राओं से सभी भूत उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार प्रधान से भी बुद्धि उत्पन्न होती है। इसलिए दोनों का ही प्रसवधर्मित्व सिद्ध होता है। प्रसवधर्मित्व का अर्थ है परिणामित्व भाव। इस प्रकार से व्यक्त तथा अव्यक्त इन दोनों के साथ विचार प्रसङ्ग में अव्यक्त के जो धर्म यहाँ पर कहे गये हैं। वे सभी प्रकृति के धर्म जानना चाहिए।

1.6) गुणत्रयस्वरूप

तीनों गुणों का स्वरूप

सत्त्व रज तथा तम इन तीनों की साम्य अवस्था ही प्रकृति कहलाती है। प्रश्न होता है कि इन तीनों गुणों का स्वरूप क्या है, तब उत्तर में कहते हैं ये प्रकाश प्रवृत्ति नियम के लिए, प्रीति अप्रीति तथा विषादात्मक तथा अन्य अन्याभिभवाश्रय जनन मिथुनवृत्ति से युक्त होते हैं। इसलिए श्रीमान ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में कहा है कि

प्रीत्यप्रीतिविषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्थाः।
अन्योऽन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः॥ इति। [12]

गुण सत्व रज तथा तम क्रम से प्रीति अप्रीति विषादात्मक होते है, प्रकाश प्रवृति तथा नियमन करने वाले हैं, ये परस्पर एक-दूसरे का अभिभव, आश्रय, जनन तथा मिथुन वृत्ति वाले होते हैं।

प्रीति अप्रीति तथा विषाद ये आत्मा के भाव स्वरूप होते है। प्रकाश बुद्धि के रूप में दिखाई देता है, प्रवृत्ति यत्न तथा चलन को कहते हैं, नियम प्रकाश तथा क्रियाओं की शून्यता को कहते हैं। अभिभव से तात्पर्य है एक के द्वारा दूसरे को दुर्बल करना। अन्योन्य अभिभवाश्रयमिथुन वृत्ति ये जिनके होते हैं व अन्योन्य अभिभवाश्रयमिथुन वृत्ति युक्त कहलाते हैं। सत्व रज तथा तम ये तीन गुण होते हैं। उनके स्वरूप प्रयोजन तथा क्रिया का इस पद्य के द्वारा प्रतिपादन किया जाता है। सांख्यशास्त्र में तीनों के गुणों का अन्वय प्राप्त होता है। सत्वगुण सुखात्मक होता है, रजोगुण दु:खात्मक होता है तथा तमोगुण मोहात्मक होता है। सत्वादि तीनों गुणों के भाव से आत्म शब्द निर्दिष्ट होता है । प्रीति के अभाव के बिना दु:ख नहीं हो सकता तथा उसी प्रकार दु:ख के अभाव के बिना प्रीति भी नहीं हो सकती। परस्पर अभावात्मक होने के कारण इनमें परस्पर आश्रयता भी लक्षित होती है। एक की असिद्धि होने से दोनों की असिद्धि हो जाती है।

प्रकाशप्रवृत्ति तथा नियम ही उनके प्रयोजन है। सत्वगुण प्रकाशार्थ है, रजो गुण प्रवृत्ति प्रयोजनात्मक है तथा तमोगुण नियमार्थक होता है। सभी की क्रिया भी अलग अलग प्रकार की कही गयी है। सत्व को बढ़ाकर तथा रज व तम को दबाकर आत्मा शांति को प्राप्त करती है। इसी प्रकार रजोगुण को बढ़ाकर तथा सत्व व तमो गुण को दबाकर आत्मा घोर वृत्ति को प्राप्त करती है और सत्व व रज को दबाकर तथा तमोगुण को बढ़ाकर आत्मा मूढवृत्ति को प्राप्त करती है। यहाँ पर आश्रय शब्द से आधाराधेयता नहीं कही गयी है अपितु मिथ्या साक्षेपत्व कहा गया है। अत: सत्वगुण प्रवृत्ति नियम का आश्रय लेकर के रज तथा तम का उपकार करता है। इसी प्रकार रज तथा तम के विषय में भी जानना चाहिए। इन तीनों में जो अन्य होता है वही सर्वश्रेष्ठ का जनक होता है। इसलिए जनन ही इनका परिणाम है न कि गुणों का सदृश रूप वे भी एक-दूसरे के सहचर होते हुए अविनाश भाववर्ति होते हैं। इसलिए श्रुतियों में कहा गया है कि

अन्योन्यमिथुनाः सर्वे-सर्वे सर्वत्रगामिनः।
रजसो मिथुनं सत्त्वं सत्त्वस्य मिथुनं रजः॥

ध्यान दें:

तमसश्चापि मिथुने ते सत्त्वरजसी उभे।
उभयोः सत्त्वरजसोर्मिथुनं तम उच्यते॥ इति।

इस प्रकार से प्रीति तथा अप्रीति आदि के श्लोक के द्वारा तीनों गुणों के सामान्य स्वरूप के प्रयोजनादि को बताकर के विशेष रूप से गुणों के स्वरूप कथन के लिए कारिका ईश्वर कृष्ण के द्वार प्रस्तुत की जाती है

सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ इति। [१३]

सत्वगुण लघु तथा प्रकाशक होता है, रजो गुण दूसरों को चलाने वाला होता है, तमोगुण भारी तथा दूसरे गुणों को आच्छादित करने वाला होता है। ये गुण परस्पर एक-दूसरे के विरोधी होते हैं। जब रजो गुण क्रियाशील रहता है तब सत्व तथा तम निष्क्रिय रूप में रहते हैं। सत्वप्रकाश तथा तमोगुण अन्धकार वाला होता है। अतः लघु, बड़ा, क्रियाशील, निष्क्रिय, प्रकाश, अन्धकार आदि गुणों के कारण परस्पर विरुद्धधर्म गुणों में पाये जाते हैं। इसलिए इनके द्वार मिलकर के कार्यों की उत्पत्ति आकाशपुष्प की भाँति प्रतीत होती है। क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध है। परस्पर विरोधी जब मिलते हैं तो परस्पर विध्वंस अधिक करते हैं। जैसे सुन्द तथा उपसुन्द नाम के दो राक्षस देवताओं की पुत्री के दिव्यमूर्ति के दर्शन से परस्पर लड़ते हुए एक-दूसरे के ऊपर प्रहार करने लगे। वैसे ही परस्पर विरुद्ध स्वभाव गुण वाले यदि मिलते हैं तो वे विनाश को प्राप्त होते हैं। तब कहते कि फिर किस प्रकार से इनकी परस्पर जननमिथुनवृत्ति सिद्ध होती है? तब उत्तर देते हुए कहते हैं कि इनकी परस्पर जननमिथुनवृत्ति दीपकवत् सिद्ध होती है। क्योंकि कार्य का उत्पादन करते समय तीनों गुणों की जो स्वभाव शक्ति होती है वह प्रकाशित होती है, भोक्ता के अदर्शन के प्रभाव से वे परस्पर विरुद्धभाव को त्याग करके एक ही क्रिया का सम्पादन करते हैं। तब कहते हैं कि सम्प्रति संसार परस्पर विरुद्धों के एक साथ अदर्शन के कारण यह कल्पना अवान्तर सिद्ध होती है। तब इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि जैसे रुई की बत्ती आग के द्वारा नष्ट होती है, तेल भी आग द्वारा नष्ट हो जाता है, तथा जलती हुई बत्ती भी यदि तेल से मिल जाती है तो अग्नि नष्ट हो जाती है फिर भी परस्पर विरुद्ध होते हुए तेल बत्ती तथा अग्नि मिलकर के सबको प्रकाशित करते हैं। अग्नि ज्वलनशील तथा लघु होती है, बत्ती तथा तेल जलने में समर्थ तथा गुरुस्वभाव के होते हैं। तेल तरल होता है, तथा बत्ती कठिन होती है। इस प्रकार विरुद्ध स्वभाव के होते हुए भी तेल बत्ती तथा आग के द्वारा एक साथ जलकर प्रकाश को उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं तो फिर कैसे सत्व रज तथा तम एकत्र होकर नये को बनाने में समर्थ नहीं हो सकते।

तब कहते हैं कि बत्ती तथा तेल में परस्पर विरोधी धर्म नहीं होता है। बत्ती तेल का शोषण करती है यह सत्य है परन्तु उससे तेल का लय नहीं होता है। उससे तेल तथा बत्ती के परस्पर विरुद्धत्व के अभाव से सत्व रज तथा तमोगुण के साथ तेल बत्ती तथा अग्नि के सामञ्जस्य के अभाव के कारण तथा दृष्टान् व दृष्टान्त की समानता के अभाव से यह उदाहरण सङ्गत नहीं होता है। इस प्रकार की आशङ्का करके वाचस्पतिमिश्र पाद वातपित्त श्लेष्म का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे वैद्यशास्त्र में वातपित्त तथा श्लेष के भी परस्पर विरुद्ध स्वभाव होते हैं। परन्तु ये मिलकर के शरीर को धारण करती हैं। इन तीनों धातुओं में विषमता होने पर शरीर की रक्षा प्रणाली बिगड़ जाती है। तब पुनः प्रश्न करते हैं कि सत्वागुणों के समभाव में स्थिति के कारण तुल्य बल का प्रसङ्ग आ जाता है। तुल्य बलों के ही परस्पर विरोध होने पर सत्वादि गुणों के ध्वसं होने का आशंका होती है, तब कहते कि ऐसा भी नहीं है, वस्तुतः उनमें तुल्य बल है ही नहीं वे तो गौण प्रधान भाव से रहते हैं, इसलिए ही एक कार्य को सम्पादित करने में समर्थ होते हैं। प्रकाशादि कार्य में सत्वता के प्रधान होने के कारण अलग सहकारी सम्बन्ध होता है तथा प्रवृत्ति गुण रजो प्रधान होने के कारण अलग सहकारिणी उसी प्रकार नियमन भी

ध्यान दें:

तम: प्रधान होने के कारण भिन्न सहकारी धर्म होने वाला है। यहाँ पर वातपित्त के दृष्टान्त में वातपित्त के समभावस्थित से कार्योत्पत्ति के दृष्टान्त में सत्व रज तम के प्रसङ्ग में विषम स्थिति होने से गुणों की कार्योत्पत्ति के दृष्टान्त में विषमता आ जाती है। इसलिए यहाँ पर दीपका का उदाहरण ही सही रहता है। जैसे बत्ती तेल तथा अग्नि परस्पर विरोधी होते हुए दीपक के अन्दर परस्पर सहयोग करते हुए प्रकाशादि रूप कार्य को जन्म देते हैं। इसलिए ही ईश्वरकृष्ण ने दीपक का उदाहरण यहाँ पर दिया है।

पाठगत प्रश्न 2.1

1. सत्व पुरुष की ख्याति किसे कहते हैं?
2. प्रकृति के तीन गुण बताने वाला सांख्य सूत्र कौन-सा है?
3. अविवेकित्व किसे कहते हैं?
4. प्रधान को क्यों सामान्य कहा जाता है?
5. तीनों गुणों के क्या-क्या स्वरूप होते हैं?
6. किस गुण का धर्म प्रकाश होता है?

   (क) सत्त्व का (ख) रज का (ग) तम का
7. गुणों के कितने प्रयोजन होते हैं?

1.7) पुरुष का अकर्तृत्व और बुद्धेर्जडत्व

पुरुष का कर्तृत्व रहित होने पर भी उसमें कर्तृत्व का आरोप किया जाता है। बुद्धि के अचेतन होने पर भी बुद्धि में चेतनत्व का आरोप किया जाता है, इस कारण से पुरुष तथा बुद्धि के भेद का ग्रहण होता है। इसलिए "यह मेरा कर्त्तव्य है" इस प्रकार बुद्धि तथा पुरुष में सम्बन्ध, घटादि विषयक सम्बन्ध तथा वृत्तिज्ञानरूप व्यापार सम्बन्ध इस प्रकार से तीन प्रकार का प्रतीत होता है। वहाँ पर 'मेरा' इस प्रकार से बुद्धि में चेतन पुरुष का सम्बन्ध स्वच्छ दर्पण में मुख के प्रतिबिम्ब के सम्बन्धवत् अत्यन्त स्वच्छ बुद्धि में चेतनपुरुष प्रतिबिम्बवत् प्रतीत होता है। जैसे दर्पण में मुख का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता है वह केवल प्रतिबिम्ब मात्र ही सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार स्वच्छ बुद्धि में पुरुष का भी वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता है वह भी केवल प्रतिबिम्ब मात्र ही होता है। पुरुष तथा बुद्धि के परस्पर भेद के ग्रहण से इन दोनों का एकत्वाभिमान के कारण बुद्धि में पुरुष सम्बन्ध प्रतीत होता है। 'यह है' इस से बुद्धि में घटादि विषय संबंध भी होता है। वहाँ बुद्धि का चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा होने वाला 'यह घड़ा' है इस प्रकार के ज्ञान का परिणाम ही घटादि विषयों का बुद्धि में सम्बन्ध कहलाता है। बुद्धि में घटादि विषयों का सम्बन्ध, मुख की श्वास से अभिहत दर्पण में मालिन्य सम्बन्ध के जैसे वास्तविक ही दिखाई देता है। "करना चाहिए" इससे बुद्धि में घटादि विषयों के निश्चयात्मक ज्ञान रूप व्यापार सम्बन्ध होता है। इस प्रकार से "मेरा यहां कर्तव्य है" इस बुद्धि के अभिलापक शब्द से "मेरा" इस पद से पुरुष के साथ तथा "यह" इस पद से विषय के साथ तथा "कर्तव्य" इस पद से व्यापार के साथ सम्बन्ध बुद्धि में होता है। इस प्रकार से तीन प्रकार के सम्बन्ध होने के कारण सम्बन्धत्रायांशवती बुद्धि कहलाती है। वहाँ पर जैसे बुद्धि के साथ चेतन पुरुष का कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं होता है। वैसे ही उसके ज्ञान रूप परिणाम के साथ भी दर्पण में स्थित मालिन्य के साथ मुख के जैसे अवास्तविक ही सम्बन्ध होता है। वह इस प्रकार से केवल वृत्ति रूपी ज्ञान की उपलब्धि नाम से ऐसा कहा जाता है " मैं चेतन कर्ता हूं" ऐसे बुद्धि में आरोपित चेतन पुरुष का तदीयपरिणामरूपवृत्ति के साथ "यह जानता हूं" इस प्रकार का प्रतीत

ध्यान दें:

होता हुआ भी वह उसमें होने वाली वृत्तिज्ञान की उपलब्धि विषय से अवास्तविक सम्बन्ध होता है। इस प्रकार से वृत्ति के ज्ञान के जैसे ही सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म आदि संस्कार भी बुद्धि के ही धर्म होते हैं, "सुख पूर्वक मैं करता हूं, "दु:ख पूर्वक मैं कर्ता हूं" इस प्रकार सुखदु:खादि धर्मों के प्रयत्न रूप कार्यों के साथ समानाधिकरण में प्रतीति होती है, धर्मी के अभेद के बिना धर्मो के समाधिकरण की अप्रतीति होती है, इस प्रकार से जैसे प्रयत्न करने पर बुद्धि के धर्म सुख तथा दु:खादि भी बुद्धि के ही धर्म मानना चाहिए।

तब प्रश्न करते हैं कि कार्य करने पर समानाधिकरण के होने से सुखदु:खादि को बुद्धि के ही धर्म मानते हैं, वैसे "मैं चेतन हूं, तथा कर्ता हूं" इस प्रकार चेतन धर्म की भी समानाधिकरण में प्रतीति होने से चेतन धर्म को भी बुद्धि के जैसे मानना चाहिए। तब कहते हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि बुद्धि के परिणाम से चेतन की अनुपत्ति होती है, परिणाम के जैसे वस्तुओं के भी चेतनत्व का ज्ञान तो मिट्टी आदि से भी उसी की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार से यह अनुमान सिद्ध होता है। "बुद्धि चेतना नहीं है परिणामत्वात् मिट्टि के जैसी ही है"। जैसे "मैं चेतन कर्ता हूं" इस अनुभव से "लाल स्फटिक" इस प्रकार की भ्रान्ति होने के कारण बुद्धि में स्थित चेतनांश भ्रान्ति के रूप के जैसा ही है।

1.8) प्रधान जगत का कर्ता

पुरुष के सङ्ग रहित होने से तथा निर्विकार होने से वह जगत् का कर्ता सम्भव नहीं होता है, सांख्य सिद्धान्त में पुरुष के कर्तृत्व को अङ्गीकार नहीं किया गया है। तो कहते कि पुरुष के अलावा भिन्न कोई ईश्वर भी सांख्य शास्त्र में नहीं जो जगत का कर्ता हो, क्योंकि कर्ता के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है इसलिए इस कार्य रूप जगत् का कोई न कोई कर्ता अवश्य मानना चाहिए। वह जगत सांख्य सिद्धान्त में कौन है? तब कहते हैं कि जो स्वतन्त्र हो उत्पत्ति तथा विनाश से रहित नित्य तथा एक अचेतन प्रधान ही जगत का कर्ता है। कर्ता से तात्पर्य है कि कार्य के अनुकूल कृति करने वाला, उस प्रकार का कर्तृत्व प्रधान में नहीं रुकता है, बल्कि वह तो बुद्धि में ही रुकता है। तो कहते हैं कि तो वह प्रधान कर्ता कैसे है, तब कहते हैं कि कर्तृरूपी बुद्धि के उपादानकारणत्व प्रधान में होता है इस कारण से प्रधान में कर्तृत्व कहा जाता है। इस प्रकार कर्तारूपी बुद्धि में उपादान कारणत्व मानने पर वह प्रधान कहलाती है। इस कारण से प्रधान कर्ता के रूप में उसे ही स्वीकारा जाता है। जैसे घटरूप कार्य की अनुकूल कृति मानने पर कर्ता कुलाल होता है उसी प्रकार जगत् रूपी कार्य का कृतित्व बुद्धि में ही होता है न हक प्रधान में सिद्ध होता है। और भी "जिस प्रकार का कार्य होता है उसी प्रकार उसका कारण भी होता है। यह संसार का अव्यभिचरित नियम है। यह त्रिगुणात्मक है, इसलिए इसका कारण भी त्रिगुणात्मक होना चाहिए। इस कारण से भी सिद्धि होता है कि प्रधान ही जगत् का कर्ता है क्योंकि वह त्रिगुणात्मक होता है। जैसे प्रयोग करते हैं कि "यह कार्य रूप जगत् सुख दु:ख तथा मोह में संलग्न है। जो जिसमें संलग्न होता है वह ही उसका कारण होता है। जैसे सोने के आभूषणों में सुवर्ण को होने के कारण उनका सुवर्ण कारण होता है, वैसे ही यह उसका है इस प्रकार से जानना चाहिए।

1.9) परार्थ प्रकृति की प्रवृत्ति

प्रकृति में जितनी सभी की प्रवृत्ति है वे स्वार्थ अथवा परार्थ से दृष्टिपथ होती है। प्रकृति तो जड़ है उसकी स्वार्थ तथा परार्थ प्रवृत्ति नहीं होती है फिर भी संसार में परार्थ प्रवृत्ति देखी जाती है। संसार में देखा जाता है कि अचेतन भी प्रयोजन की प्रवृत्ति होता है। जैसे गाय में बछड़े को बढ़ाने वाला दूध भी अचेतन होता है, ऐसे अचेतन प्रकृति भी पुरुष के मोक्ष के लिए प्रवृत्ति होती है। इसलिए सांख्यकारिका में ईश्वर कृष्ण के द्वारा कहा गया है-

ध्यान दें:

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य।
पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य॥ इति। [सांख्यकारिका 57]

इसका अर्थ है जैसे अज्ञान वाले अचेतन दूध का भी बछड़े की वृद्धि के निमित्त गाय के बछड़े के पोषण के लिए प्रवृत्ति स्वयं ही उत्पन्न होती है। उसी प्रकार अचेतन प्रधान के पुरुष के मोक्ष के निमित्त प्रवृत्ति स्वयं ही होती है।

उसकी केवल परार्थ ही प्रवृत्ति होती है अपितु स्वार्थ प्रवृत्ति भी देखी जाती है। जैसे लोक में इच्छाओं की निवृत्ति के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है वैसे ही प्रधान पुरुष की मोक्ष के लिए प्रवृत्ति देखी जाती है।

इसलिए कहा गया है

औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः।
पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम्॥ इति। [सांख्यकारिका 58]

यहाँ पर औत्सुक्यपद का अर्थ इच्छा है, वह ही तीनों गुणों की पर्याप्त वृत्ति है, यह चेतन धर्म न्याय के अनुसार नहीं है। वह इच्छा इच्छित वस्तु की प्राप्ति के बाद निवृत हो जाती है। जैसे किसी पुरुष की इच्छित वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा होती है तब वह उस वस्तु की प्राप्ति के लिए गमन आगमन रूपी क्रियाओं में प्रवृत्त होता है। जब उसको वह वस्तु प्राप्त हो जाती है तब उसकी निवृत्ति हो जाती है। तो यहाँ पर प्राप्य वस्तु क्या है? तो कहते हैं कि पुरुष का विमोक्ष ही प्रकृति के द्वारा चाहा गया है। इससे ही परार्थ ही प्रकृति की प्रवृत्ति होती है यह जाना गया है, फल के परगत होने के कारण उसमें ही स्वार्थ तुल्यादि भाव होते हैं।

इस प्रकार से प्रकृति तथा पुरुष के विवेक ज्ञान से पुरुष का जब मोक्ष हो जाता है तब प्रकृति स्वयं निवर्तित हो जाती है। इसलिए कहा गया है

रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्।
पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः॥ इति। [सांख्यकारिका 59]

जैसे नर्तकी नाट्यशाला में पुरुषों को नृत्य दिखाकर के नृत्य से निवर्तित हो जाती है। वैसे ही प्रकृति भी पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर निवृत हो जाती है।

1.10) ईश्वर

सांख्य दर्शन के मत में ईश्वर सद्भाव के विषय में विद्वानों ने बहुत प्रकार के मतभेद पाये जाते हैं। जैसा कि इस श्लोक में कहा गया है।

सांख्याः निरीश्वराः केचित् केचिदीश्वरदेवताः।
सर्वेषामपि तेषां स्यात्तत्त्वानां पञ्चविंशतिः॥ इति।

(कुछ सांख्य ईश्वर को नहीं मानते कुछ मानते हैं, सभी कुल मिलाकर के पच्चीस तत्वों को ही मानते हैं)

वहाँ ईश्वर को स्वीकार करने के विषय में तथा अस्वीकारने के विषय में बहुत प्रकार की युक्तियाँ हैं ''ईश्वरासिद्धेः" (सांख्यसूत्रम् 1.92) इति "नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः" (5.2) यहाँ से लेकर "सम्बन्धाभावान्नानुमानम्" (5.22) इस सूत्र तक देखने अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि सांख्य को स्वीकार करने वाले लोग निरीश्वर हैं। कुछ के मत में सूत्र युक्त सांख्य दर्शन निरीश्वर वादी नहीं हैं। उनके मत में संसार के अधिष्ठाता सब कुछ जानने वाला सभी का कर्ता आदि इन पदों से ईश्वर

ध्यान दें:

अथवा परमात्मा की सिद्धि की गई है। जो इस प्रकार से सूत्र में प्राप्त होता है- "तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्" (1.96) इति, "स हि सर्ववित् सर्वकर्ता" (3.56) "नेश्वराधिष्ठिते फलसम्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः" (5.2)।

वस्तुतः सांख्य दर्शन में जड़ प्रकृति को ही जड़ जगत का उपादान कारण मानते हैं न कि चेतन पुरुष को। लेकिन जगत के अधिष्ठाता के रूप में तथा नियन्ता के रूप में पुरुष को ही स्वीकार करते हैं। सांख्यमत के अनुसार वही पुरुष ईश्वर है न कि और कुछ तत्व। इस प्रकार के पुरुष को वेदान्त में ईश्वर नहीं माना गया है। जड़ जगत का उपादन कारण वे भी चेतन को ही स्वीकार करते हैं तथा वे उसकी सिद्धि के लिए माया रूपी अन्य तत्व की कल्पाना करते हैं। सांख्य तो जगत् के उपादान के रूप में चेतन पुरुष को अङ्गीकार नहीं करते हैं यहाँ तो जड़ प्रकृति को ही अङ्गीकार किया जाता है इसमें कोई असमञ्जस नहीं है, अतः सांख्यकारिका में ईश्वर के विषय में और कुछ नहीं कहा गया है।

पाठगत प्रश्न 3.1

1. बुद्धि में जड़त्व तथा कर्तृत्व कैसे सिद्ध होता है?
2. सांख्य सिद्धान्त के अनुसार जगत के कर्ता कौन है?
3. कर्तृत्व किसे कहते हैं?
4. अचेतन की प्रवृति हेतु कौन-सा दृष्टान्त है?
5. छः आस्तिक दर्शनों में निरीश्वरवादी दर्शन कौन-से कहे गये हैं?

   (क) नैयायिक (ख) वैशेषिक (ग) सांख्य (घ) वेदान्ति

पाठ सार

पुरुष तथा प्रकृति इन दोनों के मध्य में जो सम्बन्ध है उसके बारे में पूर्व पाठ में वर्णन किया जा चुका है। इस पाठ में पुरुष बहुत्व का वर्णन किया गया है, जिसमें पुरुष बहुत्व स्वीकार करने में तीन प्रकार के हेतु बताए गये हैं, (1.) जन्म मरण के प्रतिनियम से (2.) एक साथ प्रवृत्ति नहीं होने से, (3.) तीनों गुणों के विपर्यय से। इसमें प्रकति के तत्व की विस्तार पूर्वक आलोचना की गई है। प्रकृति सत्वरज तथा तम की साम्यावस्था है। ये गुण केवल प्रकृति के धर्म ही नहीं है अपितु प्रकृति के स्वरूप भी है। लघुत्व तथा प्रकाशक सत्वगुण का धर्म है, अवष्टम्भकत्व तथा चलत्व रजो गुण के धर्म हैं, गुरुत्व तथा आवरकत्व ये तमो गुण के धर्म है। जैसे दीपक का प्रकाश अग्नि, तेल तथा बत्ती के परस्पर मिलने पर ही सम्भव होता है उसी प्रकार ये गुण भी परस्पर मिलकर ही कार्य करते हैं। न कि एक एक करके। प्रकृति जड़ होने पर भी चेतन पुरुष के सानिध्य से चेतन की तरह ही आचरण करती है। इस कर्तृत्व धर्म प्रकृति की विकारभूता बुद्धि का ही है न कि पुरुष का। वह प्रकृति न तो स्वार्थ के लिए प्रवर्तित होती है और न ही परार्थ के लिए। परार्थ अर्थात् पुरुष का मोक्ष। इस प्रकार से पुरुष का मोक्ष सम्पादित करके प्रकृति स्वयं अपनी प्रवृत्तियों को रोक लेती है। इस मत में ईश्वर स्वीकार करने का प्रयोजन नहीं है।

आपने क्या सीखा

- सांख्य दर्शन में पुरुष बहुत्व के सिद्धान्त की स्वीकार्यता को जाना,

- प्रकृति एवं प्रकृति स्वरूप को जाना,
- प्रधान तत्त्वों को जाना,
- सत्व, रज तथा तम गुणों का विस्तार से परिचय प्राप्त किया,
- पुरुष के चेतनत्व को जाना,
- प्रकृति की प्रवृत्ति किसलिए है यह जाना।

पाठान्त प्रश्न

1. पुरुष बहुत्व साधक हेतओं का विस्तार से वर्णन कीजिए?
2. मूल प्रकृति के विषय में लघु टिप्पणी लिखिए?
3. गुणत्रय के स्वरूप तथा प्रयोजन को विस्तार से प्रतिपादित कीजिए?
4. प्रकृति की प्रवृत्ति किसलिए होती है, इस पर विचार कीजिए?
5. सांख्यमत में पुरुष के अकृतत्व तथा बुद्धि की जड़ता कैसे है, विचार कीजिए?
6. सांख्यमत को स्वीकार किया गया है अथवा नहीं, विचार कीजिए?
7. मूलप्रकृति को स्वीकार करने के क्या मानदण्ड हैं संक्षेप में लिखिए?

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.1

1. अणुपरिमाण महत् परिमाण तथा परममहत् परिमाण
2. घ) सांख्य
3. क) तीन
4. जनन मरण कारणों के प्रति नियम से, अयुगपत्प्रवृत्ति से, तीनों गुणों के विपर्यय से पुरुष बहुत्व सिद्ध होता है।
5. 'जन्मादिव्यवस्थात: पुरुषबहुत्वम्' इति
6. मूल प्रकृति ही सत्व रज तथा तमो गुण की साम्यावस्थारूप होती है।
7. आठ कारण होते हैं - 1. अतिदूरात्, 2. सामीप्यात् 3. इन्द्रियघातात् 4. मनोऽनवस्थानात्, 5. सौक्ष्म्यात् 6. व्यवधानात् 7. अभिभवात् 8. समानाभिहारात्।
8. ख) सूक्ष्मता के कारण

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 2.1

1. सत्व पुरुष नहीं होता है तथा पुरुष सत्व नहीं होता है, अन्योन्या भावप्रतीति होने के कारण इसे सत्वपुरुषान्यथा ख्याति कहा जता है।

सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष गुण विचार

ध्यान दें:

2. "सत्व रज तथा तम की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है।
3. अविवेकिता ही सम्भूयकारिता कहलाती है
4. अनेक पुरुषों के ग्रहण होने के कारण प्रधान सामान्य कहलाता है।
5. तीनों गुण प्रीति अप्रीति तथा विषादात्मक होते हैं।
6. (क) सत्वस्य
7. सत्व का प्रकाश रज का प्रवृति तथा तम का नियमन।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 3.1

1. बुद्धि में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्बत्व।
2. प्रधान ही जगत् का कर्ता है।
3. कार्य के अनुकूल कृति।
4. जैसे अचेतन दुग्ध भी बछड़े की वृद्धि के लिए बढ़ता है, इस दृष्टान्त से
5. (ग) सांख्य

ध्यान दें:

3

सांख्य दर्शन में सृष्टि विचार

कहाँ से विचित्र रचनात्मक जगत की उत्पत्ति हुई है? यह जीव कौन है? इस प्रकार की जिज्ञासा ही अध्यात्मवाद का मूल है। इसलिए ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है।

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि:।

अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव॥ इति।

अच्छे तरह सभी विषयों की चर्चा के लिए दर्शन प्रस्थानों को प्रस्ताव उत्पन्न हुआ। वस्तुत: सभी दर्शनों के सृष्टि के विषय में भिन्न-भिन्न मत है। अद्वैत वेदान्त के मत में अज्ञान ही प्रपञ्च सृष्टि का कारण है। न्याय-वैशेषिक के मत में नित्य परमाणु ही अदृष्ट होने के कारण द्वयणु आदि क्रम से जगत् का सर्जन करते हैं। इस प्रकार से सांख्य दर्शन का भी सृष्टि के विषय में अपना मत है। सांख्य के मत में प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से प्रकृति के गुणों में विसमता आ जाती है जिससे महत् तत्त्वादि क्रम से प्रपञ्च की सृष्टि होती है। इस पाठ में सांख्य शास्त्र की दृष्टि से सृष्टि तत्व का विचार किया जाएगा, तथा सभी सृष्टि पदार्थों के विषय में विस्तार पूर्वक आलोचनात्मक वर्णन किया जायेगा।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप सक्षम होंगे;

- सांख्य दर्शन के सृष्टितत्व के विषय का परिचय प्राप्त करने में;
- सांख्य दर्शन में सृष्टि के पदार्थों का परिचय प्राप्त करने में;
- सृष्टि के कारण क्या हैं इसका ज्ञान प्राप्त करने में;
- सृष्टि के प्रयोजन क्या हैं इसका ज्ञान प्राप्त करने में;
- सांख्य सम्मत सृष्टिक्रम का ज्ञान प्राप्त करने में सक्षम होंगे;
- व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य तथा वैधर्म्य का संक्षेप में ज्ञान प्राप्त करने में;

पाठ-3

सांख्य दर्शन में सृष्टि विचार

ध्यान दें:

1.1) त्रिगुण परिणामः सृष्टेः कारणम्

प्रकृतिः पुरुषः चेति मूलं तत्त्वद्वयं सांख्यसिद्धान्ते स्वीक्रियते। एतयोः सद्भावे मानमपि प्रागेव प्रतिपादितम्। इदानीं मूलप्रकृतेः कथं प्रपञ्चस्य सृष्टिः भवतीति प्रतिपाद्यते। तत्र साम्यावस्था वैषम्यावस्था चेति दशाद्वयं प्रधानस्य। गुणत्रयस्य सामावस्था यदा तिष्ठति तदा स प्रलयकालः इत्युच्यते। सृष्टिकाले च गुणत्रयस्य वैषम्यं जायते। सांख्यनये वस्तुतः गुणानां वैषम्यमेव सृष्टेः बीजम्। एकमेव मेघोदकं यथा नारिकेलाद्याधारवैविध्यात् तद्गतं सन्मधुरादिरसवैचियं रचयति, तद्वदेका प्रकृतिरपि गुणवैषम्यतारतम्यात् विचित्रकार्यरचनां सम्पादयतीति तेषां मतम्। तदुक्तं

कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।
परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्॥ इति। [सांख्यकारिका-16]

श्लोकार्थः- त्रिगुणतः सत्त्वादिगुणत्रयात्, प्रवर्तते प्रवृत्तं भवति, तथा समुदयात् परस्परसंमिश्रणात् प्रवर्तते, तथा च प्रधानस्य द्विधा प्रवृत्तिर्भवति- सृष्टिकालीना, प्रलयकालीना च। तत्र सृष्टिकाले प्रकृतेः त्रयो गुणाः मिलित्वा प्रवर्तन्ते, ते च तस्मिन् समये केचन गुणभूताः केचिच्च प्रधानभूताः भवन्ति, गौणमुख्यभावम् अन्तरेण अनेकपदार्थानां मिलित्वा प्रवृत्तेः असम्भवात्। प्रलयकाले च प्रधानस्य त्रयो गुणाः परस्परतः पृथग्भूताः स्वातन्त्र्येण अन्योन्यगुणप्रधानभावम् अनपेक्ष्य स्वस्वरूपतः एव प्रवृत्ताः भवन्ति, स्वरूपमात्रेण अवतिष्ठन्ते इत्यर्थः। एकस्माद् अव्यक्ताद् विचित्रकार्याणाम् उत्पत्तिमाह- प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात् इति, एकेकगुणस्य भिन्नभिन्नमात्राणां सम्मेलनाद् एकस्मादेव प्रधानाद् नानाकार्योत्पत्तिः इत्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः- परिणामतः सलिलवत् इति। यथा सलिलम् एकमपि नारिकेल-जम्बीरादिपरिणामभेदात् मधुरतिक्तादिभावं प्रतिपद्यते, तद्वत् प्रधानमपि सहकारिभेदादेव विषमभावं प्रतिपद्यते इत्यर्थः।

परिणामस्वभावाः हि गुणाः। अतः ते परिणतिशीलताम् अप्राप्य क्षणमपि न अवतिष्ठन्ते। प्रकृतेः द्विधा परिणामः- सदृशपरिणामः विसदृशपरिणामश्च। प्रलयकाले सत्त्वादयः गुणाः सदृशपरिणामम् आप्नुवन्ति। तदा सत्त्वं स्वस्य लघुत्वादिरूपम् आदायैव प्रवर्तते, न तु केनचिदपि अन्येन गुणेन सह संयुज्य विलक्षणतत्तत्कार्यरूपेण परिणमते। रजोऽपि स्वस्य उपष्टम्भकत्वादिरूपम् आदायैव प्रवर्तते, तमोऽपि गुरुत्वादिरूपस्वानुरूपपरिणामेनैव प्रवर्तते, न केनचिदन्येन गुणेन सह संयुज्य विलक्षणतत्तत्कार्यरूपेण परिणमते इत्यर्थः। सृष्टिकाले च प्रकृतेः गुणानां साम्यावस्थाप्रच्युतिरूपः विसदृशपरिणामः भवति। तदा गुणाः परस्परं गौणमुख्यभावेन संमिश्रणेन महत्तत्त्वादिरूपेण परिणमन्ते।

तीनों गुणों का परिणाम सृष्टि का कारण

- प्रकृति तथा पुरुष ये दो तत्व सांख्य सिद्धान्त में स्वीकार किये गये हैं। इन का सद्भाव मान भी पूर्व में प्रतिपादित किया जा चुका है। अभी मूल प्रकृति से किस प्रकार से सृष्टि होती इसका प्रतिपादन किया जा रहा है। साम्यावस्था तथा वैषम्यावस्था ये दो अवस्था प्रधान मानी गई हैं। तीनों गुणों की जब साम्यावस्था रहती है, उस समय को प्रलय काल माना गया है। सृष्टिकाल के समय तीनों गुणों में विषमता उत्पन्न होती है। सांख्य शास्त्र में वस्तुतः तीनों गुणों की विषमता ही सृष्टि का बीज है। जिस प्रकार एक ही मेघ के जल से नारिकेलादि फलों के आधार की विविधता से उनमें मधुरादि (मीठे रस आदि) विचित्र की रचना होती है, उसी प्रकार एक प्रकृति है गुणों की विषमता के कारण विचित्र कार्य रचना को सम्पादित करती है, इस प्रकार का उनका मत है इसलिए कहा गया है

- **कारणमस्त्यव्यक्तं, प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च।**
- **परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्॥ इति। [सांख्यकारिका -१६]**

ध्यान दें:

- श्लोकार्थः, त्रिगुणतः अर्थात् सत्वादि तीनों गुणों से, प्रवर्तते अर्थात् प्रवृत होते हैं, समुदयात् अर्थात् परस्पर मिश्रण से प्रवर्तित होते हैं, इस प्रकार से प्रधान की दो प्रकार की प्रवृत्ति होती है, सृष्टिकालीन तथा प्रलय कालीन। वहाँ सृष्टिकाल में प्रकृते के तीनों गुण मिलकर प्रवर्तित होते हैं। वे उस समय कुछ गुणभूत होते हैं कुछ प्रधानभूत होते हैं। इस प्रकार गोंण तथा मुख्य भावों के बिना अनेक पदार्थों के मिलित्वा प्रवृत्ति असम्भव होती है। प्रलयकाल में प्रधान के तीनों गुण परस्पर अलग होकर स्वातन्त्य से अन्योन्यगुणप्रधानभाव की उपेक्षा करके अपने-अपने स्वरूप में ही प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् अपने स्वरूप मात्र में ही स्थित रहते हैं। प्रतिगुणों के आश्रय विशेष से एक अव्यक्त से ही विचित्राकार्यों कि उत्पत्ति कही गयी है। एक गुण के ही भिन्न-भिन्न मात्रा में मिलन से एक ही प्रधान से नाना प्रकार के कार्यों की उत्पत्ति होती है।

- एक दृष्टान्त है परिणामे सलिल (जल) के जैसे-जैसे जल एक ही नारियल, जामुन आदि में परिणाम के भेद से मधुर तिक्तवत् होता है उसी प्रकार प्रधान भी सहकारी भेदादि से विषम भाव रूप में प्रतिपादित होता है।

- परिणाम ही गुण है, इसलिए ये परिणतिशीलता को प्राप्त किये बिना एक क्षण भी नहीं रुकते हैं। प्रकृति के दो प्रकार के परिणाम होते हैं। सदृश परिणाम तथा विसदृश परिणाम। प्रलयकाल के समय सत्वादि गुण सदृश परिणाम को प्राप्त करते हैं। उस समय सत्व स्वयं के लघुत्व रूप को लेकर ही प्रवर्तित होता है, न कि किसी भी अन्य गुण के साथ संयुक्त होकर विलक्षण तत्कार्य रूप में परिणित होता है। रजो गुण भई स्वयं का उपष्टम्भकत्वादि रूप को लेकर प्रवर्तित होता है। तमोगुण भी गुरुत्वादिरूप के साथ अनुरूप परिणाम में प्रवर्तित होता है। ये गुण अन्य किसी गुण के साथ के साथ युक्त होकर के उसके कार्य रूप में परिवर्तित नहीं होते हैं। सृष्टि के समय में प्रकृति के गुणों की साम्यावस्था अप्रच्युति रूप से विसदृश परिणाम को प्राप्त करती है। तब गुण के परस्पर गौण मुख्य भाव के समिश्रण से महतत्वादि रूप उत्पन्न होते हैं।

1.2) प्रधान पुरुष संयोग सिद्धि

सांख्यनये पुरुषः ही दृष्टा अकर्ता चेतनश्च। न स सृष्टेः कारणम्। सृष्टिकारणं तु अचेतनं प्रधानमेव। ननु अचेतनस्य सृष्टिकर्तृत्वं नैव सङ्गच्छते, न ही कश्चित् अचेतनः पदार्थः किञ्जित् सृज्यमानः दृश्यते लोके। अतः अननुपपन्नम् अचेतनस्य प्रधानस्य सृष्टिकर्तृत्वम् इति चेन्न, अचेतनमपि प्रधानम् पुरुषसान्निध्यात् चेतनमिव भवति। पुरुषप्रतिबिम्वः यदा प्रकृतौ आपपति तदा जडापि प्रकृतिः चेतनमिव आरचति। अयस्कान्तमणिसान्निध्यात् यथा अचेतनस्यापि अयसः प्रवृत्तिरवलोक्यते तद्वत् उदासीनपुरुषसान्निध्याद् अपि अचेतनायां प्रकृतौ प्रवृत्तिरूपा क्रिया उत्पद्यते। एवं पुरुषसान्निध्यात् प्रकृतौ कर्तृत्वम् समागच्छति, किन्तु तस्याः चेतनत्वं तु नास्ति। पुरुषे च चेतनत्वं वर्तते परन्तु क्रियाशक्तिर्नास्ति इति कारणात् न पुरुषस्य कर्तृत्वम्। एवं चौतन्यं पुरुषस्य, कर्तृत्वं च प्रधानस्य इति चौतन्यकर्तृत्वे भिन्नाधिकरणस्थे इति सिद्धयति। तथाहि उच्यते सांख्यकारिकायाम्-

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥ इति। [सांख्यकारिका-20]

अयमर्थः- चौतन्यं कर्तृत्वं च भिन्नाधिकरणे युक्तितः सिद्धे इति कारणात्, तत्संयोगात् चेतनसंयोगात्, लिङ्गम् बुद्धयादिकम् अचेतनम् अपि चेतनावत् चेतनम् इव भवति। तथा गुणकर्तृत्वे अपि बुद्धयादिरूपेण

परिणतानां गुणानां कृतिमत्त्वे अपि, तथा बुद्ध्युपरागात् बुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वात् उदासीनः अपि पुरुषः कर्ता इव भवति, न तु वस्तुतः कर्ता भवति। भ्रान्त्या च पुरुषः कर्ता आत्मानं मन्यते। तेन च ''करोमि'' इति भ्रान्तप्रत्ययः उपपद्यते। भ्रान्तिकारणं ही पुरुषसन्निधानम्, प्रकृतिपुरुषसंयोगः इत्यर्थः। ननु ''असङ्गो ह्ययं पुरुषः" इत्यादिश्रुतेः चेतनस्य असङ्गत्वात् कथं तत्संयोगः इति चेदुच्यते- पुरुषस्य यत्कर्तृत्वं तद् बुद्ध्युपरागात्, बुद्धेश्च या चेतनता सा पुरुषसान्निध्यात्। अत्र संयोगपदेन न भूतलघटयोर्यथा संयोगः तद्वत् न ज्ञेयः, अपि तु बिम्वप्रतिबिम्बत्वेन ज्ञेयः। यथा जलसूर्ययोः संयोगात् परस्परधर्मारोपः तथैव बुद्धिपुरुषयोः इति भावः। तथाहि कापिलसूत्रम्- "उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्" (1.164) इति। इत्थं पुरुषसान्निध्यात् प्रकृतेः गुणत्रयस्य साम्यावस्थायाः प्रच्युतिरूपा सृष्टिः उपपद्यते। इदमत्र ध्येयम् यत् प्रकृतिपुरुषसंयोगो ही सृष्टेः निमित्तकारणम्, सृष्टेः उपादानकारणं तु प्रकृतिरेव।

प्रधान पुरुष संयोग सिद्धि

सांख्यशास्त्र में पुरुष ही दृष्टा अकर्ता तथा चेतन है। वह सृष्टि का कारण नहीं है। सृष्टि का कारण तो अचेतन और प्रधान ही है। अब प्रश्न होता है अचेतन के द्वारा सृष्टि की रचना उपयुक्त नहीं लगती है। क्योंकि कोई भी अचेतन पदार्थ संसार में कुछ भी सृजन करता हुआ दिखाई नहीं देता है। अतः अनुपपन्न अचेतन प्रधान का सृष्टि कर्तृत्व युक्ति संगत नहीं लगता है। तब कहते हैं कि अचेतन प्रधान भी पुरुष के सानिध्य से चेतनवत् हो जाता है। पुरुष का प्रतिबिम्ब जब प्रकृति में आता है तब जड प्रकृति भी चेतन के समान आचरण करती है। अयस्क मणि (चुम्बक) के सानिध्य से जैसे अचेतन लोहे की भी प्रवृति दिखाई देती है उसी प्रकार उदासीन पुरुष के सानिध्य से भी अचेतन प्रकृति प्रवृत्ति रूपी क्रिया को उत्पन्न करती है। अर्थात् पुरुष के सानिध्य से प्रकृति कर्तृत्व को प्राप्त करती है। परन्तु उसमें चेतनत्व नहीं रहता है, पुरुष में तो चेतनत्व रहता है, परन्तु उसमें क्रिया शक्ति नहीं रहती है इस कारण से पुरुष में कर्तृत्व भाव का अभाव रहता है। इस प्रकार चैतन्य भाव पुरुष का तथा कर्तृत्व भाव प्रधान का एक प्रकार से चैतन्य कर्तृत्त्व का भिन्नाधिकरण रूप में सिद्ध होता है। इसलिए सांख्यकारिका में काहा गया है-

तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनावदिव लिङ्गम्।
गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः॥ इति। [सांख्यकारिका-20]

अयमर्थः- चैतन्य तथा कर्तृत्व के भिन्नाधिकरण रूप में युक्ति पूर्वक सिद्धि होने के कारण से, उसके संयोग से चेतन के संयोग से लिङ्ग बुद्ध्यादिक अचेतन भी चेतनावत् चेतन ही होता है। तथा गुणकर्तृत्व भी अर्थात् बुद्धि पराग बुद्धि में प्रतिबिम्ब से उदासीन पुरुष भी कर्ता के जैसे हो जाता है, न कि वास्तविक कर्ता होता है। भ्रान्ति के कारण पुरुष अपने आप को आत्मा मान लेता है। उससे "कर्ता हूं इस प्रकार की भ्रान्ति उत्पन्न होती है। और इस भ्रान्ति के कारण ही पुरुष सन्निधि तथा प्रकृति पुरुष संयोग होता है। तब प्रश्न करते हैं कि "यह पुरुष असङ्ग होता है" इस प्रकार के श्रुति वचनों से तथा चेतन के असङ्गत्व होने से यह संयोग कैसे होता है। तब कहते हैं कि पुरुष को जो कर्तृत्व धर्म होता है वह बुद्धि के उपराग के कारण होता है। अर्थात बुद्धि की जो चेतना होती है वह पुरुष सानिध्य के कारण होती है। यहाँ पर संयोग शब्द से 'पृथ्वी पर घड़ा ' इस प्रकार का संयोग ग्रहण नहीं करना है। अपि तु बिम्ब प्रतिबिम्बत्व भाव जानना चाहिए। जैसे जल तथा सूर्य का संयोग होता है उसी प्रकार परस्पर धर्मारोपवत् बुद्धि तथा पुरुष का संयोग होता है। जो इस प्रकार कपिल के सूत्र में कहा गया है - "उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्" (1.164) इति।

इस प्रकार से पुरुष के सानिध्य से प्रकृति की तीनों गुण वाली साम्यावस्था युक्त प्रच्युति रूपा सृष्टि उत्पन्न होती है। यहाँ पर यह जानना चाहिए की प्रकृति तथा पुरुष का संयोग ही सृष्टि का निमित्तकारण है। तथा सृष्टि का उपादान कारण भी प्रकृति ही है।

ध्यान दें:

1.3) सृष्टि का प्रयोजन

अद्वैतवेदान्तिनां मते नास्ति सृष्टेः किञ्चिद् प्रयोजनम्, लीलारूपा एवेयं जगत्सृष्टिः परमेश्वरस्य इति यथा तद्वत् अस्ति वा किञ्चित् प्रयोजनं सृष्टेः इति चेदुच्यते पुरुषस्य मोक्षः प्रधानस्य च भोगः सृष्टेः प्रयोजनम्। तथाह्युच्यते सांख्यकारिकाकारेण

पुरुषस्य दर्शनार्थं केवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ इति। [सांख्यकारिका-21]

उभयोः पुरुषस्य प्रधानस्य च यः संयोगः, स दर्शनार्थं केवल्यार्थं च इति अन्वयः। तत्र प्रधानेन स्वस्य दर्शनार्थं सुखदुःखाद्यात्मक-स्वस्वरूपानुभवरूपभोगार्थं पुरुषः अपेक्ष्यते, पुरुषेण च स्वकेवल्यार्थम् केवल्यकारण-विवेकज्ञानार्थं प्रधानम् अपेक्ष्यते। अत्र दृष्टान्तः - पङ्ग्वन्धवदिति। यथा एकः पङ्गुः एकश्च अन्धः मार्गे गच्छन्तौ केनचित् कारणेन स्वबन्धुपरित्यक्तौ दैवात् संयोगम् उपयातौ। पङ्गुः द्रष्टुं शक्नोति, परन्तु गन्तुं न शक्नोति, अन्धश्च गन्तुं शक्नोति, परन्तु द्रष्टुं न शक्नोति। तदा अन्धः पङ्गुं स्वस्कन्धम् आरोप्य स्वशरीरारूढेन पङ्गुदर्शितेन च मार्गेण गच्छन् ईप्सितस्थानं प्राप्नोति। एवं पुरुषे दर्शनशक्तिरस्ति पङ्गुवत् न क्रिया, प्रधाने क्रियाशक्तिरस्ति अन्धवत् न दर्शनशक्तिः। तथा च यथा गतिशक्तिविहीनेन पङ्गुना अभीष्टदेशप्राप्तये गतिशक्तिमान् अन्धः अपेक्ष्यते, दर्शनशक्तिहीनेन चान्धने मार्गप्रदर्शनाय दर्शनशक्तिमान् पङ्गुः अपेक्ष्यते, तथेति दृष्टान्तार्थः। अत्र पङ्गूपमो निष्क्रियः पुरुषः, अन्धोपमं च अचेतनं प्रधानमिति बोध्य। यथा वा ईप्सितस्थानप्राप्तौ अनयोः पङ्ग्वन्धयोः कृतार्थयोः विभागो भविष्यति, एवं प्रधानमपि पुरुषस्य मोक्षं कृत्वा निवर्तते, पुरुषोऽपि प्रधानं दृष्ट्वा केवल्यं गच्छति, तयोः कृतार्थयोः विभागो भविष्यति।

सृष्टि का प्रयोजनम्

अद्वैतवेदान्तियों के मत में तो सृष्टि का कोई प्रयोजन ही नहीं है, लीला रूप ही परमेश्वर की जगत् की सृष्टि है।

जैसे प्रश्न करते हैं कि सृष्टि की उत्पत्ति का कोई प्रयोजन है क्या? तब कहते हैं पुरुष का मोक्ष तथा प्रधान का भोग ही सृष्टि का प्रयोजन है। इसलिए सांख्यकारिका में कहा गया है-

पुरुषस्य दर्शनार्थं केवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ इति। [सांख्यकारिका-21]

उभयोः दोनों पुरुष तथा प्रधान का जो संयोग होता है वह दर्शन के लिए तथा केवल्य के लिए होता है। वहाँ प्रधान के द्वारा स्वयं के दर्शन के लिए तथा सुखदुःखाद्यात्मक-स्वस्वरूपानुभवरूपभोग के लिए पुरुष की अपेक्षा होती है। पुरुष के द्वारा स्व केवल्य, केवल्यकारण तथा विवेकज्ञान के लिए प्रधान की अपेक्षा होती है। यहाँ पर एक दृष्टान्त दिया जाता है पङ्ग्वन्धवत् (लंगड़े तथा अंधे के समान) जैसे एक लंगड़ा और एक अन्धा एक मार्ग में जा रहे हैं। किसी कारण से अपने बन्धुओं से बिछुड़ने के कारण दैव संयोग से दोनों मिल जाते हैं। लंगड़ा देख तो सकता है लेकिन चल नहीं सकाता उसी प्रकार अन्धा चल तो सकता है लेकिन देख नहीं सकता। तब अन्धा लङ्गड़े को अपने कन्धों पर बिठाकर पङ्गु के द्वारा बताए गये मार्ग से जाते हुए अपने इच्छित स्थान को प्राप्त कर लेते हैं। इसी प्रकार पुरुष में दर्शन शक्ति तो रहती तो परन्तु पङ्गुवत् क्रिया का अभाव रहता है, और प्रधान में क्रिया शक्ति तो रहती है परन्तु अन्धवत् दर्शन शक्ति का अभाव रहता है। तब जैसे गति शक्ति विहीन पङ्गु के द्वारा अभीष्टदेश की प्राप्ति के लिए गतिशक्तिमान अन्धे की अपेक्षा होती है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। यहाँ पर पङ्गु यह उपमा निष्क्रिय पुरुष की है तथा अन्ध यह उपमा अचेतन प्रधान की है। जैसे ईप्सित स्थान की प्राप्ति के बाद पङ्गु तथा अन्धे अलग-अलग हो जाते हैं उसी प्रकार प्रधान भी पुरुष का मोक्ष

ध्यान दें:

कराकर निवृत हो जाता है तथा पुरुष भी प्रधान को देखकर केवल्य स्वरूप को प्राप्त करता है। उन दोनों का कृतार्थ होने पर विभाग हो जाता है।

पाठगत प्रश्न 1.1

1. प्रधान की दो दशाएँ कौन-कौन सी हैं?
2. कब तीनों गुणों में वैषम्य होता है?
3. तीनों गुणों के वैषम्य से क्या उत्पन्न होता है?
4. एक प्रधान विचित्र कार्य रचना को सम्पादित करता है यहाँ पर सांख्य कारिका की कारिका कौन-सी है?
5. प्रलय काल के समय में गुणों का किस प्रकार से परिणाम होता है?
6. सांख्य के मत में सृष्टि का क्या प्रयोजन है?
7. प्रकृति पुरुष के संयोग से सृष्टि में यहाँ पर किन दो दृष्टान्तों को कारिका में दिया गया है।
8. पुरुष के सानिध्य से ही बुद्धि में कर्तृव होता है यह कपिल सूत्र कौन-सा है?

1.4) सृष्टिक्रम

अस्तु तावत् पङ्ग्वन्धवत् प्रकृतिपुरुषयोः संयोगः। किम् तेन सिध्यति इति चेत् उच्यते- 'तत्कृतः सर्गः' इति। प्रकृतिपुरुषसंयोगात् हि सृष्टिर्भवति। तत्र उपादानकारणं तावत् प्रकृतिरेव। तथाहि उच्यते सृष्टिक्रमः -

प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडषकः।
तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ इति। [सांख्यकारिका 22]

प्रधानात् महत्तत्त्वम् अर्थात् बुद्धिः जायते, महत्तत्त्वात् अहङ्कारः उत्पद्यते, तस्मात् अहङ्कारात् षोडशकः गणः जायते। कः स षोडशकः गणः इति चेत् एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि चेति षोडशको गणः। तस्मादपि षोडशकात् गणात् पञ्चभ्यः पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि पञ्चमहाभूतानि आकाशादीनि जायन्ते इति कारिकार्थः।

प्रकृतिः,
▼
महत्व
▼
अहङ्कारः
▼
मनः चक्षुः श्रोत्रं जिह्वा नासिका त्वक् वाक् पाणिः पादः पायुः उपस्थः

शब्दः स्पर्शः रूपं रसः गन्धः (षोडशकः गणः)
↓ ↓ ↓ ↓ ↓
आकाशः वायुः तेजः जलम् पृथिवी

ध्यान दें:

तत्र शब्दतन्मात्राद् आकाशं शब्दगुणं जायते, शब्दतन्मात्रसहितात् स्पर्शतन्मात्राद् वायुः शब्दस्पर्शगुणः, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहिताद् रूपतन्मात्रात् तेजः शब्दस्पर्शरूपगुणं, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहिताद् रसतन्मात्राद् आपः शब्दस्पर्शरूपरसगुणाः, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहितात् गन्धतन्मात्रात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धगुणा पृथिवी जायते।

पञ्चविंशतितत्त्वमध्ये पुरुषः प्रकृतिश्च न कुतश्चित् सृज्यते। तयोः स्वरूपमपि प्राग् विस्तरेण निगदितम्। इदानीं प्रकृतितः यानि तत्त्वानि सृष्टानि तेषां विषये क्रमेण आलोचनं करिष्यते।

1.5) सृष्टि का क्रम

अस्तु तो पङ्ग्वन्धवत् रूप से प्रकृति तथा पुरुष का संयोग होता है तथा इस संयोग से क्या सिद्ध होता है तब कहते हैं "उसके द्वारा की गई सृष्टि"। अर्थ प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से ही सृष्टि बनती है। यहाँ उपादान कारण भी प्रकृति ही है। इसलिए सृष्टि के क्रम में कहा गया है कि

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडषकः।
तस्मादपि षोडषकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ इति। [सांख्यकारिका 22]

प्रधान से महतत्व अर्थात् बुद्धि की उत्पत्ति होती है, महतत्व से अहङ्कार उत्पन्न होता है, उस अहङ्कार से सोलह गण उत्पन्न होते है। सोलह गण क्या-क्या हैं? तब कहते है ग्यारह इन्द्रियाँ, पाँच तन्मात्राएँ षोडश गण कहलाते हैं। उस षोडश गण से भी पाँच तन्मात्राओं की पाँच महाभूत आकाशादि की उत्पत्ति होती है।

प्रकृतिः
▼
महत्व
▼
अहङ्कारः
▼

मनः चक्षुः श्रोत्रं जिह्वा नासिका त्वक् वाक् पाणिः पादः पायुः उपस्थः

शब्दः स्पर्शः रूपं रसः गन्धः (षोडषकः गणः)
↓ ↓ ↓ ↓ ↓
आकाशः वायुः तेजः जलम् पृथिवी

शब्द तन्मात्रा से आकाश की उत्पत्ति होती है जो जिसमें शब्द गुण होता है, शब्दतन्मात्रा के स्पर्श तन्मात्रा से वायु की उत्पत्ति होती जिसके शब्द तथा स्पर्श ये दो गुण होते है। शब्दस्पर्शतन्मात्रा के साथ रूप तन्मात्रा से तेज की उत्पत्ति होती है जिसके शब्द स्पर्श तथा रूप गुण होते है। शब्दस्पर्शरूप तन्मात्रा के सहित रस तन्मात्रा से जल की उत्पत्ति होती है जिसके शब्द,स्पर्श,रूप तथा रस गुण होते हैं। शब्द,स्पर्श,रूप तथा रस मात्रा के सहित गन्ध तन्मात्रा से पृथिवी की उत्पत्ति होती है जिसके शब्द,स्पर्श,रूप,रस तथा गन्ध गुण होते हैं। पच्चीस तत्वों के मध्य पुरुष तथा प्रकृति का सृजन नहीं होता है। उन दोनों के स्वरूपों का पूर्व में विस्तार से परिचय दे दिया गया है। अभी प्रकृति से जिन तत्वों की सृष्टि हुई हे उनके विषयों का क्रम से आलोचन करेंगे।

1.6) महत्तत्त्वम

प्रकृतेः सात्त्विकांशाद् यत्तत्त्वं प्रथमम् उत्पद्यते तदेव महत्तत्त्वम् इत्युच्यते। अस्यैव नामान्तरं बुद्धितत्त्वमिति।

ध्यान दें:

सत्त्वगुणस्य प्राधान्याद् अत्र लघुत्वं प्रकाशश्च विद्येते। तथाहि उच्यते सांख्यकारिकायाम् -

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।। इति। [23]

"मयेदं कर्तव्यम्" इत्याकारनिश्चयो हि अध्यवसायः। विषयमधिकृत्य अवसायः निश्चयः इति अध्यवसायः। अध्यवसायात्मिका हि बुद्धिः इति बुद्धेर्लक्षणम्। तथाहि सांख्यसूत्रम् - **"अध्यवसायो बुद्धिः"** (2.13) इति। लोके सामान्यः जनः यदा कस्मिंश्चित् कर्मणि प्रवृत्तो भवति तदा तस्य अन्तःकरणे तिस्रः वृत्तयः भवन्ति- यथा प्राग् आलोचनम् (वस्तुनो ज्ञानम्), ततः ''अहम् अत्राधिकारी अस्मि" इति अभिमानः, ततः "मयेदं कर्तव्यम्" इति अध्यवसायः (निश्चयज्ञानम्) इति। एतासु तृतीया वृत्तिः यत्र निश्चयात्मकं ज्ञानं भवति सैव बुद्धिः। तत्र बुद्धौ चत्वारः सात्त्विकाः धर्माः, चत्वारः तामसाश्च धर्माः विद्यन्ते। तत्र धर्मः, ज्ञानं, विरागः, ऐश्वर्यं चेति चत्वारः सात्त्विकधर्माः, तद्विपरीताः च अधर्मः, अज्ञानम्, अविरागः, अनैश्वर्यमिति चत्वारः तामसाः धर्माः।

ननु अचेतनायाः बुद्धेः कथं लोकवन्निश्चयः सम्भवतीति चेदुच्यते चौतन्यपुरुषसन्निधानात् इति। चिन्मात्रस्य पुरुषस्य बुद्धिरूपान्तःकरणवर्तित्वादिति भावः। यथा एकत्र उपस्थितयोः स्फटिकजपाकुसुमयोः स्फटिकं जपाकुसुमलौहित्यम् आपद्यते, तथा चित्सन्निधानाद् बुद्धिरपि चौतन्यम् आपन्ना लोकवन्निश्चयं करोतीति उपपद्यते।

1.7) महत्तत्त्व

प्रकृति के सात्विक अंश से जो तत्व सर्वप्रथम उत्पन्न होता है वह महत् तत्व कहलाता है। इसका ही नामान्त बुद्धितत्व होता है। सत्व गुण प्राधान्य से इसमें लघुत्व तथा प्रकाश रहता है, इसलिए सांख्यकारिका में कहा गया है।

अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्।
सात्त्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम्।। इति। [33]

"मेरे द्वारा यह किया गया" इस प्रकार के आकार का निश्चय ही अध्यवसाय कहलाता है। विषय को अधिकृत करके जो निश्चय किया जाता है वह अध्यवसाय कहलाता है।

अध्यवसायात्मिका ही बुद्धि का लक्षण है। इस लिए सांख्य शास्त्र में कहा गया है "अध्यवसायो बुद्धिः" (2.13) इति। संसार में सामान्य लोग जब किसी कर्म में प्रवृत्त होते हैं। तब उसके अन्तः करण में तीन वृत्तियाँ होती है,जैसे पहले आलोचन (वस्तु का ज्ञान) उससे "मैं अधिकारी हूँ" इस प्रकार का अभिमान, फिर उससे "मेरे द्वारा यह किया जाना चाहिए " यह अध्यवसाय (निश्चय ज्ञान)। इनमें जो तीसरी वृत्ति है जिसमें निश्चयात्मक ज्ञान होता है वह ही बुद्धि है। उस बुद्धि में चार सात्विक धर्म, चार तामस धर्म होते हैं। उसमें धर्म, ज्ञान, विराग, ऐश्वर्य, ये सात्विक धर्म होते हैं। तथा इसके विपरीत अधर्म, अज्ञान, अविराग, अनैश्वर्य ये चार तामासिक धर्म होते हैं।

तब प्रश्न करते हैं कि अचेतन बुद्धि से किस प्रकार लोकवत् निश्चय सम्भव होता है। तब कहते हैं कि चैतन्य पुरुष के सानिध्य से, तथा चित्त मात्र पुरुष के बुद्धिरुपी अन्तःकरण वर्तित्व होने से। जैसे एक स्थान में स्थित स्फटिक तथा जपाकुसम पुष्प, वहाँ स्फटिक में जपाकुसम का लोहित्य आ जाता है, वैसे ही चित्त की सन्निधि से बुद्धि भी चेतनवत् निश्चय कारिणी हो जाती है।

ध्यान दें:

1.8) अहङ्कार

महत्तत्त्वाज्जायते अहङ्काराख्यं तत्त्वम्। किम् तस्य लक्षणमिति चेदुच्यते सांख्यकारिकायाम् -

अभिमानोऽहङ्कारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव॥ इति। [24]

अभिमानो हि अहङ्कारः। ''अहमेव अत्र अधिकृतः", ''मदर्था इमे विषयाः", ''मत्तो नान्योऽत्राधि कृतः कश्चिदस्ति", ''अतोऽहमस्मि'' इति यः अभिमानः सः असाधारणव्यापारः अहङ्कारः। तमेव अहङ्कारम् उपजीव्य बुद्धिः अध्यवस्यति - ''कर्तव्यमेतन्मया'' इति। तस्माद् अहङ्काराद् द्विविधः सर्गः प्रवर्तते- क) इन्द्रियाख्यः एकादशकः गणः, ख) तन्मात्रपञ्चकश्च।

एकस्माद् अहङ्काराद् द्विविधः सर्गः प्रवर्तते इत्यत्र कारणं किमिति चेदुच्यते -
सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥ इति। [सांख्याकारिका-25]

सत्त्वगुणप्रधानः यः अहङ्कारः स वैकृताहङ्कारः इति नाम्ना प्रसिद्धम्। तस्मात् सत्त्वगुणप्रधानात् वैकृताद् अहङ्कारात् एकादशकः गणः अर्थात् एकादशेन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते। तमःप्रधानाद् अहङ्कारात् हि पञ्च तन्मात्राणि जायन्ते। रजोगुणात् तु उभयम् एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि च जायन्ते इति श्लोकार्थः।

अहङ्कारे हि त्रयो गुणाः तिष्ठन्ति - सत्त्वं रजस्तमः इति। तत्र यदा सत्त्वगुणेन रजस्तमसोः अभिभवो जायते तदा अहङ्कारस्य वैकृतसंज्ञा भवति। ततः वैकृताद् अहङ्कारात् सत्त्वगुणसाहाय्येन एकादशेन्द्रियाणि उत्पद्यन्ते। तत्रापि उत्कटसत्त्वप्रधानात् मनो जायते, मध्यमसत्त्वप्रधानाच्च ज्ञानेन्द्रियाणि, निकृष्टसत्त्वयुक्ताच्च अहङ्कारात् कर्मेन्द्रियाणि जायन्ते इति बोध्यम्। अत एव इन्द्रियाणि सात्त्विकानि इति उच्यन्ते। यदा च तमोगुणेन सत्त्वरजसोः तिरस्कारो भवति, तदा अहङ्कारस्य भूतादिसंज्ञा भवति, तमोगुणाधिक्याच्च तामस इत्यपि संज्ञा भवति। ततः भूतादेः तामसात् तत्समानस्वभाववन्ति शब्दादिपञ्चतन्मात्राणि उत्पद्यन्ते। एवं यदा रजोगुणेन सत्त्वरजसोः अभिभवो जायते तदा अहङ्कारस्य तैजससंज्ञा भवति। ततः तैजसाद् अहङ्कारात् एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि चेति उभयमुत्पद्यते। यतो यदा वैकृतोऽहङ्कारो विकृतो भूत्वा एकादशेन्द्रियाणि उत्पादयितुं वाञ्छति, तदा स निष्क्रियत्वात् स्वकार्यं कर्तुं न प्रभवति, अतः स क्रियास्वभावस्य तैजसाहङ्कारस्य साहाय्यं गृह्णाति। तथा तामसाहङ्कारोऽपि निष्क्रियत्वात् तन्मात्ररूपं स्वकार्यं नोत्पादयितुं प्रभवतीति सोऽपि तैजसाहङ्कारस्य साहाय्यं गृह्णाति। इत्थं वैकृतादहङ्कारेण भूताद्यहङ्कारेण च तयोः कार्ये सहायकत्वात् तैजसोऽहङ्कारो द्विविधकार्यस्य कारणं भवतीति सिध्यति।

1.9) अहङ्कार

महत् तत्व से अहङ्कार तत्व उत्पन्न होता है। उसका लक्षण क्या है? तब सांख्यकारिका में कहते है

अभिमानोऽहंकारस्तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।
एकादशकश्च गणस्तन्मात्रपञ्चकश्चैव॥ इति। [२४]

अभिमान ही अहङ्कार कहलाता है। "मैं यहाँ अधिकृत हूँ" "ये विषय मेरे लिए है" "मेरे अलावा और कोई अधिकृत है" "इसलिए मैं हूं" इस प्रकार का जो अभिमान है वह असाधारण व्यापार अहङ्कार कहलाता है। वह ही अहङ्कार में बुद्धि का यह अध्यवसाय होता है कि। "कर्तव्यमेतन्मया'' (मेरे द्वारा करना चाहिए) इति। उस अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है) इन्द्रियों का एकादश गण, ख) पाँच तन्मात्राएँ।

एक अहङ्कार से दो प्रकार की सृष्टि उत्पन्न होती है इसका क्या कारण है तब कहते हैं-

पाठ-3

सांख्य दर्शन में सृष्टि विचार

ध्यान दें:

सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥ इति। [सांख्याकारिका-25]

सत्व गुण प्रधान जो अहङ्कार है वह वैकृत इस नाम से प्रसिद्ध है। उस सत्व गुण प्रधान वाले वैकृत अहङ्कार से एकादश गण अर्थात् एकादश इन्द्रियों कि उत्पत्ति होती है। तम प्रधान अहङ्कार से पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। रजो गुण से दोनों ग्यारह इन्द्रियों की तथा पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है।

अहङ्कार में ही तीनों गुण रहते हैं। सत्व, रज तथा तम। जब सत्वगुण से रज तथा तमो गुण का अभिभव होता है तब अहङ्कार की वैकृत् संज्ञा होती है। उस वैकृत् अहङ्कार से सत्वगुण की सहायता से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। उनमें उच्च सत्वगुण प्रधान मन होता है। मध्यम सत्व प्रधान ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। निकृष्ट सत्व युक्त अहङ्कार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा जानना चाहिए। जब तमो गुण से सत्व तथा रज का तिरस्कार होता है अहङ्कार की भूतादि संज्ञाएँ होती है। तमोगुण की अधिकता से तामस ये भी संज्ञा होती है। इस भूतादि तमोगुण के कारण उसके समान स्वभाव वाले होते हैं तथा एवं उनसे शब्दादि पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती है। इस प्रकार से जब रजोगुण से सत्वरजो गुण का अभिभव होता है, तब अहङ्कार की तैजस संज्ञा होती है। उस तेजस अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राओं की उत्पत्ति होती है। जब वैकृत अहङ्कार विकृत होकर ग्यारह इन्द्रियाँ को उत्पन्न करना चाहता है, तब वह निष्क्रिय होने के कारण स्वकार्य को करने में समर्थ नहीं होता है, इसलिए वह क्रिया स्वभाव वाले तेजस अहङ्कार की सहायता ग्रहण करता है। तथा तामस अहङ्कार भी निष्क्रिय होने से तन्मात्ररूप अपने कार्य को उत्पन्न करने में प्रवर्तित नहीं होता है वह भी तैजस अहङ्कार की सहायता ग्रहण करता है। इस प्रकार से वैकृत अहङ्कार से तथा भूतादि अहङ्कार से उन दोनों की सहायता से तैजस अहङ्कार दो प्रकार के कार्यों का कारण सिद्धि होती है।

1.10) इन्द्रियाँ

पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणाख्यानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि, उभयात्मकं मनश्चेति एकादशेन्द्रियाणि। इन्द्रियत्वं च सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वम्। अहङ्कारकार्यत्वे सति कारणत्वम् इति अन्ये। तत्र इन्द्रस्य प्रत्यगात्मनः लिङ्गम् अनुमापकम् इति इन्द्रियम्। तथा च निरुक्तव्याख्यायां भगवद्दुर्गाचार्यः- "इन्द्रः आत्मा, स येन ईयते लिङ्ग्यते अनुमीयते चास्त्यसावात्मा कर्ता यस्येदं करणम्, नाकर्तृकं करणमस्तीति तद् इन्द्रियम्" इति। इन्द्रियाणि हि विषयग्राहकत्वेन ज्ञानसाधनानि। तथाहि उच्यते सांख्यकारिकायाम्

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥ इति। [26]

1.10.1) ज्ञानेन्द्रियाँ

श्रोत्रचक्षुस्त्वग्जिह्वाघ्राणानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि। तत्र ज्ञानसाधनानि इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि। श्रवणादिकार्यद्वारा ज्ञानसाधनत्वात् इन्द्रियाणां तत्पदाभिधेयत्वम्। ज्ञानार्थमिन्द्रियाणीति वा ज्ञानेन्द्रियाणि। तथाहि उच्यते-

एवं श्रोत्रं त्वचो नेत्रं रसना नासिका तथा।
पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुः शास्त्रज्ञा हि विचक्षणाः॥ इति।

श्रोत्रादीनां पञ्चानां इन्द्रियाणां पञ्च वृत्तयः सन्ति। तथाहि श्रोत्रस्य कार्यं शब्दश्रवणं, त्वचः

ध्यान दें:

स्पर्शग्रहणम्, चक्षुषोः रूपदर्शनं, रसनायाः रसग्रहणम्, घ्राणस्य च गन्धग्रहणम् इति। तत्र वृत्तिः व्यापारः। तथा च अक्षपादसूत्रम् – "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः" इति। अत्र वात्स्यायनभाष्यम् – "पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रमम् अर्थाः विषयाः इति"।। तथा चोक्तम् –

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धो ह्यनुक्रमात्।
बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः समाख्याता महर्षिभिः।। इति।

1.10.2) कर्म इन्द्रियाँ

वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। कर्मणाम् क्रियाणाम् साधनभूतानि इन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि। वचनादिकार्यद्वारा क्रियानिष्पादकत्वात् इन्द्रियाणां तत्पदवाच्यत्वम्। तथाहि उच्यते–

हस्तपादं गुदोपस्थं जिह्वेन्द्रियमथापि वा।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव कथयन्ति विपश्चितः।। इति।

अत्र पद्ये जिह्वेन्द्रियपदेन मुखम् अर्थात् वागिन्द्रियम् ग्राह्यम्, वागिन्द्रियस्य जिह्वाश्रयत्वात्। एतेषां पञ्च वागादीन्द्रियाणां पञ्च वृत्तयः सन्ति। ताः हि – वाचः वचनम्, हस्तस्य आदानम् ग्रहणमित्यर्थः, पादस्य गमनम्, पायोः विसर्जनम्, उपस्थस्य च आनन्दः इति। तथाहि उक्तम् – "वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्" इति।

1.10.3) ज्ञान कर्म इन्द्रियाँ

उभयात्मकं मनः ज्ञानेन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च। चक्षुरादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि वागादीनि च कर्मेन्द्रियाणि मनोऽधिष्ठितानि सन्ति एव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तानि भवन्ति इति कारणात् मनसः उभयात्मकत्वम्। ज्ञानकर्मणोः उभयोः साधकमिन्द्रियं ज्ञानकर्मेन्द्रियम्। सर्वेन्द्रियप्रवर्तकत्वादेव मनसः एतत्पदवाच्यता। तथाहि उच्यते –

मनो बुद्धीन्द्रियं विज्ञैः कर्मेन्द्रियमपि स्मृतम्।
मनोऽधिष्ठितमेवेदमिन्द्रियं यत्प्रवर्तते।। इति।
एवम् एकादशमिन्द्रियं हि मनः।

इन्द्रियाएँ

पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, होती हैं। वैसे ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाक्, हस्त, पैर, पायु, तथा उपुस्थ होती है। और इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों के साथ मन ग्यारहवीं इन्द्रिय होती है। इन्द्रियाँ सात्विक अहङ्कार के द्वारा उत्पन्न होती हैं। अहङ्कार कार्यत्व तथा कारणत्व अलग ही होता है। इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रिय की प्रत्यक्ष आत्मा के लिङ्ग का अनुमापक ही इन्द्रियाँ होती हैं। इसलिए निरुक्त व्याख्या में भगवद् दुर्गाचार्य ने कहा है कि- इन्द्रिय की आत्मा से जिसके द्वारा देखा जाता है, ग्रहण किया जाता है, अनुमान किया जाता है वहां आत्मा ही इस करण का कर्ता है। इन्द्रियाँ अकर्तृक करण नहीं होती है इन्द्रियाँ विषय ग्राहकत्व से ज्ञान के साधन होती हैं। इसलिए सांख्य कारिका में कहा गया है।

बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि।
वाक्पाणिपादपायूपस्थानि कर्मेन्द्रियाण्याहुः।। इति। [26]

ज्ञानेन्द्रियाणि–

श्रोत्र (कान), आँख, त्वचा, जिह्वा तथा नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं तथा ये ज्ञान का साधन करने के कारण ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। श्रवणादि कार्यों के द्वारा ये ज्ञान का साधन करती हैं। ज्ञान के

ध्यान दें:

लिए इन्द्रियाँ ही ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इसलिए कहा गया है-

एवं श्रोत्रं त्वचो नेत्रं रसना नासिका तथा।
पञ्च बुद्धीन्द्रियाण्याहुः शास्त्रज्ञा हि विचक्षणाः॥ इति।

श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियों की पाँच वृत्तियाँ होती हैं। श्रोत्र का कार्य शब्द श्रवण, त्वचा का कार्य स्पर्श ग्रहण, चक्षु का कार्य रूप दर्शन, रसना का कार्य रस ग्रहण तथा घ्राण का कार्य गन्ध ग्रहण होता है। इनकी वृत्ति व्यापार कहलाती है। इसलिए अक्षपादसूत्र में कहा गया है- "गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः" इति। अत्र वात्स्यायनभाष्यम् - "पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रमम् अर्थाः विषयाः इति"।। तथा चोक्तम् -

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धो ह्यनुक्रमात्।
बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः समाख्याता महर्षिभिः॥ इति।

कर्मेन्द्रियाँ

मुख, हाथ, पैर, पायु, उपस्थ, ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। कर्म को करने में जो साधन रूप हैं वे कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। वचनादि कार्य के द्वारा क्रिया की निष्पत्ति होने के कारण इन्द्रियों का वह कार्य वाचकत्व कहलाता है। इस लिए कहा गया है-

हस्तपादं गुदोपस्थं जिह्वेन्द्रियमथापि वा।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव कथयन्ति विपश्चितः॥ इति।

यहाँ पर जिह्वा इन्द्रिय के पद से मुख का ग्रहण करना चाहिए। इन पाँच इन्द्रियों की पाँच वृत्तियाँ भी होती हैं। वो हैं मुख को बोलना तथा भोजन करना, हाथ को लेना और पैर की चलना, पायु का विसर्जन करना तथा उपस्थ का आनन्द प्रदान करना। अतः कहा गया है -"वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्च पञ्चानाम्" इति।

ज्ञानकर्मेन्द्रियाँ

मन दोनों प्रकार का होता है ज्ञानेद्रिय भी तथा कर्मेन्द्रिय भी। चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वागादि कर्मेन्द्रियाँ मन में अधिष्ठित होती हुई अपने विषयों में प्रवृत्त होती है, इस कारण से मन उभयात्मक होता है। ज्ञान तथा कर्म दोनों की साधक इन्द्रियाएँ ज्ञानकर्मेन्द्रियाँ कहलाती है और मन सभी इन्द्रियों का प्रवर्तक होता है। अतः कहा गया है

मनो बुद्धीन्द्रियं विज्ञैः कर्मेन्द्रियमपि स्मृतम्।
मनोऽधिष्ठितमेवेदमिन्द्रियं यत्प्रवर्तते॥ इति।
एवम् अर्थात् ग्यारहवीं इन्द्रिय मन होती है।

1.11) तन्मात्र और महाभूता

अहङ्कारात् यः षोडशकः गणः उत्पद्यते, तस्मिन् गणे पञ्च तन्मात्राणि विराजन्ते। तानि हि तन्मात्राणि शब्दतन्मात्रं, स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रं चेति। तन्मात्रपदेन पञ्चमहाभूतानां सूक्ष्मत्वावस्थारूपाः गुणाः विवक्षिताः। तथाहि आकाशस्य गुणः शब्दः, वायोः स्पर्शः, तेजसः रूपम्, अपः रसः, पृथिव्याश्च गुणः गन्धः इति। एतेभ्यः शब्दादितन्मात्रेभ्यः एव पञ्च महाभूतानि आकाशादीनि उत्पद्यन्ते। एतेषामेव पञ्चमहाभूतानां परस्परसंमिश्रणेन इदं व्यवहारात्मकं स्थूलं जगत् सृष्टम्।

तन्मात्राएं तथा महाभूत

अहङ्कार से जो सोलह गण की उत्पत्ति होती है। उस गण में पाँच तन्मात्राएँ भी रहती हैं। वे तन्तमात्राएँ शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा, तथा गन्ध तन्मात्रा होती हैं। तन्मात्रा इस पद से पञ्चमहाभूतों की सूक्ष्मावस्था के रूप तथा गुण विविक्षित होते हैं। जैसे आकाश का गुण शब्द, वायु का स्पर्श, तेज का रूप, जल का रस और पृथिवी का गुण गन्ध होता है। इन शब्दादि तन्मात्राओं से पाँच महाभूत आकाशादि की उत्पत्ति होती है। इन पाँच महाभूतों के परस्पर समिश्रण से इस व्यवहारात्मक स्थूल जगत् की सृष्टि हुई है।

पाठगत प्रश्न 2.1

1. षोडशको गणः कस्मादुत्पद्यते?

   (क) प्रकृतेः (ख) महत्तत्त्वात् (ग) अहङ्कारात् (घ) पुरुषात्

2. ज्ञानेन्द्रियाणि कानि?
3. कर्मेन्द्रियाणि कानि?
4. किंस्वरूपा बुद्धिः?
5. अहङ्कारस्य लक्षणं किम्?
6. पञ्च तन्मात्राणि कानि?
7. पञ्च तन्मात्राणि कस्मात् उत्पद्यन्ते?

   (क) प्रकृतेः (ख) महत्तत्त्वात् (ग) तमःप्रधानाद् अहङ्कारात्

   (घ) सत्त्वप्रधानात् अहङ्कारात्

8. एकादशको गणः कस्मात् उत्पद्यते?

   (क) प्रकृतेः (ख) महत्तत्त्वात् (ग) तमःप्रधानाद् अहङ्कारात्

   (घ) सत्त्वप्रधानात् अहङ्कारात्

पाठगत प्रश्न 2

1. षोडश गण किससे उत्पन्न होते हैं?

   (क) प्रकृति से (ख) महत् तत्त्व से (ग) अहङ्कार से (घ) पुरुष से

2. ज्ञानेन्द्रियाँ कितनी होती हैं?
3. कर्मेन्द्रियाँ कितनी होती हैं?
4. बुद्धि कौन-से स्वरूप वाली होती है?
5. अहङ्कार का क्या लक्षण है?

6. पाँच तन्मात्राएँ कौन-कौन सी हैं?

7. पाँच तन्मात्राएँ किससे उत्पन्न होती हैं?

(क) प्रकृति से (ख) महत् तत्त्व से (ग) तमःप्रधान अहङ्कार से

(घ) सत्त्वप्रधानात् अहङ्कार से

8. एकादश गण किससे उत्पन्न होते हैं?

(क) प्रकृति से (ख) महत् तत्त्व से (ग) तमःप्रधान अहङ्कार से

(घ) सत्त्वप्रधानात् अहङ्कार से

1.12) अष्ट प्रकृतियाँ

शब्दादीनि पञ्च तन्मात्राणि, महत्तत्त्वम् (बुद्धिः), मूलप्रकृतिः, अहङ्कारः इति अष्टौ प्रकृतयः। अत्र प्रकृतिपदेन उपादानकारणानि अवगन्तव्यानि। एतेषु मूलप्रकृतिर्हि केवलप्रकृतिः अर्थात् अस्याः नास्ति किञ्चिद् उपादानकारणम्। मूलप्रकृतिर्हि नित्या। अन्यानि सर्वाणि स्वयं यथा उपादानकारणानि तथैव एतेषामपि उपादानकारणानि विद्यन्ते। तथाहि शब्दादीनि पञ्च तन्मात्राणि आकाशादीनां पञ्चमहाभूतानाम् उपादानकारणानि, कार्याणि च अहङ्कारस्य। अहङ्कारश्च पञ्चतन्मात्राणाम् एकादशेन्द्रियाणां चोपादानकारणानि, कार्यञ्च महत्तत्त्वस्य। महत्तत्त्वं च उपादानकारणम् अहङ्कारस्य, कार्यञ्च प्रधानस्य।

शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ, महत् (बुद्धि) मूलप्रकृति, तथा अहङ्कार ये आठ प्रकृति होती हैं। यहाँ पर प्रकृति इस पद से उपादान कारणों को समझना चाहिए। इनमें जो मूल प्रकृति अर्थात केवल प्रकृति है कोई उपादान कारण नहीं है। मूल प्रकृति नित्य है। जैसे अन्य सभी के स्वयं के उपादान कारण होते हैं, वैसे ही इनके भी उपादान कारण होते हैं। जैसे शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ आकाशादि पञ्चमहाभूतों के उपादान कारण है, उसी प्रकार कार्य अहङ्कार के उपादान कारण हैं। तथा अहङ्कार पाँच तन्मात्रा तथा ग्यारह इन्द्रियों का उपादान कारण है, कार्य महत्व के उपादान कारण है। महत् अहङ्कार तथा तथा कार्य प्रधान का उपादान कारण है।

1.13) करणा

महत्तत्त्वम् (बुद्धिः), अहङ्कारः, चक्षुः त्वक् रसनं नासिका श्रोत्रं चेति पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक् पाणिः पादं पायुः उपस्थं चेति पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः चेति त्रयोदशविधं करणम्। तत्र करणं कारणविशेषः। तत्र "यद्व्यतिरेकेण कार्यानुत्पत्तिस्तत् कारणम्" इति। यथा- दण्डं विना घटस्य अनुत्पत्तिः इत्यतः दण्डः घटस्य कारणम्। क्रियानिष्पत्तौ साक्षादव्यवधानेन साधनं कारकं करणम् इति शाब्दिकाः। यथोक्तं वाक्यपदीये

क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम्।
विवक्ष्यते यदा यत्र करणं तत् तदा स्मृतम्॥ इति।

क्रियते अनेन इति करणम्। बुद्ध्यादिभिरेव सर्वं ज्ञानजातं कार्यजातं च सम्पाद्यते इति तेषां करणपदाभिधेयता। तस्मात् पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनः, अहङ्कारः, बुद्धिश्चेति त्रयोदश करणानि।

1.14) अन्तःकरणत्रय

मनो बुद्धिः अहङ्कारः चित्तम् इति अन्तःकरणस्य वृत्तिचतुष्टयम्। तत्र सङ्कल्पविकल्पाकं मनः,

ध्यान दें:

निश्चयात्मिकाबुद्धिः, अहम्प्रत्ययाभिमानता अहङ्कारः, स्मरणात्मकं चित्तम् इति वेदान्तिनः।

अन्तःकरणं त्रिविधम् - मनोबुद्ध्यहङ्कारभेदात्। तत्र मन आदीनां त्रयाणाम् अपि शरीराभ्यन्तरवृत्तित्वाद् अन्तःकरणम् इति अभिख्या। तत्र क्रियन्ते कर्माणि अनेन इति करणम्, करणे ल्युट्। अन्तः शरीरमध्यस्थम् अदृश्यमिति यावत्, करणम् इन्द्रियम् अन्तःकरणम् इति कर्मधारयः। शरीरस्थपदार्थानां सुखादीनां करणम् साधकतमम् इति षष्ठीतत्पुरुषो वा। संकल्पात्मकं मनः, अध्यवसायात्मिका बुद्धिः, अभिमानात्मकः अहङ्कारः इति तेषाम् अन्तःकरणानां लक्षणं प्रतिपादितपूर्वम्।

अन्तःकरणत्रय

मन, बुद्धि, अहङ्कार तथा चित्त ये अन्तः करण की चार प्रकार की वृत्ति होती हैं। इनमें सङ्कल्पविकल्पात्मक मन होता है, बुद्धि निश्चयात्मिका होती है, 'मैं' इस पद के अभिमान वाला अहङ्कार होता है, स्मरण करने वाला चित्त होता है।

मन, बुद्धि तथा अहङ्कार के भेद से अन्तः करण तीन प्रकार का होता है। इनमें मन आदि तीनों शरीर की आभ्यन्तर वृत्ति होने के कारण अन्तः करण कहलाते हैं। जिसके द्वारा कर्म किये जाएँ वह करण कहलाता है। अन्दर अर्थात् शरीर में स्थित होते हुए जो अदृश्य होते हुए करण होते है वे अन्तः करण कहलाते है।

शरीर में स्थित पदार्थ सुखादि का जो साधन करते हैं वे करण होते है। संकल्पात्मक मन, अध्यवसायात्मिका बुद्धि तथा अभिमानात्मक अहङ्कार ये तीन लक्षण अन्तः करण के बताए गये हैं।

1.15) पञ्च वायव

बुद्ध्यहङ्कारमनसाम् अन्तःकरणत्रयाणां सामान्यवृत्तयः साधारणव्यापारभूताः वा पञ्च वायवः। ते ही प्राणः, अपानः, व्यानः, उदानः, समानश्चेति। तथाहि उच्यते सांख्यकारिकायाम्-

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥ [29] इति।

ननु किं नाम साधारणव्यापारः इति चेदुच्यते - यथा पञ्जरचालनरूपो व्यापारः संहतानां (मिलितानां) कपोतानां साधारणो व्यापारः, तथा शरीरधारणरूपो यो जीवनाख्यः प्राणनादिव्यापारः, स मिलितानाम् अन्तःकरणानां साधारणो व्यापारः। यथा अनेके पक्षिणः सम्भूय व्यापारिणो भूत्वा एकं पञ्जरं चालयन्ति तथा सम्भूय व्यापारवन्ति अनेकानि अन्तःकरणानि एकं शरीरं चालयन्ति इति भावः। प्राणादिरूपाः पञ्च वायुवत् सञ्चारात् वायवः, न तु प्रसिद्धवायवः। अस्ति तेषां शरीरेषु अवस्थानभेदः। अवस्थानभेदादेव तेषां पञ्चविध त्वम्। तथाहि प्राणः नासाग्रह-हृदय-नाभि-पादाङ्गुष्ठवृत्तिः, अपानः कृकाटिका-पृष्ठपाद-पायूपस्थपार्श्ववृत्तिः, समानः हृन्नाभिसरवसन्धिवृत्तिः, उदानः हृत्कण्ठतालुमूर्धभ्रूमध्यवृत्तिः, व्यानः त्वग्वृत्तिः। तथाह्युच्यते -

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥ इति।

न केवलं स्थानभेदादेव जीवनवृत्तेः पञ्चविधत्वम्, व्यापारभेदादपि जीवनवृत्तेः पञ्चविधत्वं बोध्यम्। तथाहि - प्राणनात् अन्नाशनादिना शरीरधारणात् प्राणः, मलमूत्रादेः अपनयनात् अधोनयनात् अपानः, समम् अनुरूपं नाडीषु रसानां नयनात् समानः, रसादीनाम् ऊर्ध्वनयनात् उदानः, बलवत्कर्महेतुत्वाच्च व्यानः।

बुद्धि, अहङ्कार तथा मन तथा तीनों अन्तः करण की जो सामान्य वृत्तियाँ हैं इनकी साधारणव्यापारभूत (क्रिया करवाने वाली) पाँच वायु होती है। वे हैं प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। अतः सांख्य कारिका में कहा गया है

ध्यान दें:

सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च॥ [29]

तब प्रश्न करते है कि साधारण व्यापार क्या है? उत्तर जैसे एक सामान्य जाल रूपी पिंचरे को उड़ाने के लिए सभी कबूतरों के द्वारा एक साथ मिलक के जो व्यापार किया जाता है,वैसे ही शरीर में जीवन धारण हेतु प्राणादि का व्यापार होता है, वह अन्तः करण के साथ मिलकर साधारण व्यापार करते हैं। जैसे अनेक पक्षी एक साथ मिलकर व्यापार (क्रिया) करते हुए एक पिंजरे को चलाते है वैसे ही एक साथ मिलकर अनेक अन्तः करण एक शरीर को चलाते हैं। प्राणादि रूप वायु के संचार करने के कारण वायु कहलाते हैं, ये प्रसिद्ध वायु नहीं होते हैं। उनका शरीर अवस्थान रूपी भेद होता है। अवस्थान के भेद से वे पाँच प्रकार की होती है। उनमें प्राण- नासिका, हृदय,नाभि तथा पैर के अङ्गुष्ठ तक होता है, अपान- गर्दन के पीछे के भाग में, पैर के पिछले हिस्से में, पायु तथा उपस्थ के पास में रहता है, समान- नाभि में तथा शरीर की सन्धियों में, उदान- हृदय, कण्ठ,तालु, मूर्धा तथा भ्रू के मध्य में ओर व्यान त्वचा में रहता है। अतः कहा गया है-

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः॥ इति।

न केवल स्थान भेद से जीवन की वृत्तियाँ (पाँच) पाँच प्रकार की होती है अपितु व्यापार के भेद भी इनके पाँच प्रकार के होते है। जैसे- प्राण का कार्य शरीर को धारण करने के लिए अन्नादि को पचाना, अपान का कार्य मलमूत्रादि को नीचे ले जाना, समान का कार्य नाडियों में रस के पहुँचाना, उदान का कार्य रसादियों को ऊपर ले जाना तथा व्यान का कार्य शक्ति तथा कर्म का हेतु बनना है।

1.16) व्यक्ता व्यक्त का साधर्म्य वैधर्म्य विचार

पञ्चविंशतितत्त्वानि सविशदमत्र निगदितानि। पञ्चविंशतितत्त्वेषु महत्तत्त्वाद् आरभ्य अवरोहक्रमेण पञ्चभूतानि यावत् त्रयोविंशतितत्त्वानि व्यक्तानि इति उच्यन्ते। प्रधानस्य च अव्यक्तपदेन व्यपदेशः। तस्यैव प्रकृतिः मूलप्रकृतिः कारणम् इति नामान्तरम्। व्यक्तानि सर्वाणि अव्यक्तस्थितानि। अव्यक्तादेव व्यक्तानां तत्त्वानाम् आविर्भावः। तयोश्च व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्यवैधर्म्ये इदानीमालोच्येते। तत्र व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्यप्रतिपादिका कारिका हि-

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ इति। [10]

व्यक्तं सर्वं तत्त्वं (1) हेतुमद्, (2) अनित्यम्, (3) अव्यापि, (4) सक्रियम्, (5) अनेकम्, (6) आश्रितम्, (7) लिङ्गम्, (8) सावयवं, (9) परतन्त्रम् च। अव्यक्तं ही अहेतुमत्, नित्यम्, सर्वव्यापि, अक्रियम्, एकम्, अनाश्रितम्, अलिङ्गम्, निरवयवम्, स्वतन्त्रं च। इदानीं व्यक्ताव्यक्तयोः वैधर्म्याणि संक्षेपेण विचार्यन्ते।

1. यस्य उत्पत्तिकारणम् अस्ति तत् हेतुमत्। प्रधानादेव हेतोः महत्तत्त्वादिपञ्चभूतपर्यन्तानि त्रयोविंशतिः तत्त्वानि समुत्पन्नानि। तस्मात् तानि हेतुमन्ति। नित्यत्वात् प्रधानस्य तु नास्ति किञ्चित् उत्पत्तिकारणम् इत्यतः तत् अहेतुमत्।
2. व्यक्तं ही अनित्यम्। सांख्यनये नास्ति कस्यचित् पदार्थस्य सम्पूर्णतः ध्वंसः इति कारणात् अनित्यपदस्य तिरोभावः इत्यर्थः। व्यक्तं यस्मात् उत्पत्तिमत् तस्मादेव तस्य अनित्यत्वम्। अकारणवन्नित्यमिति नित्यस्य लक्षणम्। तद्विपरीतत्वाद् व्यक्तम् अनित्यम्। तद्यथा - मृत्पिण्डाद् उत्पन्नो घटः अनित्यः दृश्यते। एवं महदादि प्रधानाद् उत्पन्नमिति कारणात् तेषाम् अनित्यता। प्रधानस्य तु नास्ति कस्माच्चिदुत्पत्तिः इति तस्य नित्यत्वम्।

ध्यान दें:

3. व्यक्तं च अप्यापि असर्वगतम्। यथा प्रधानपुरुषौ सर्वगतौ, न तथा इदमित्यर्थ:। प्रकृतिस्तावत् त्रयोविंशतितत्त्वं महदादि व्याप्नोति, न च महदादीनि प्रकृतिम् इति सिद्धम् अव्यक्तस्य प्रधानस्य सर्वव्यापित्वम्, व्यक्तानां च अव्यापित्वम्।

4. व्यक्तं हि सक्रियम्। यस्मात् संसरणकाले महदादिकार्यं सूक्ष्मशरीरम् आश्रित्य संसरति तस्मात् सक्रियम्। न चात्र क्रियामात्रस्य विवक्षा, तेन परिणामक्रियावत्त्वात् प्रधानस्यापि सक्रियत्वापत्ते:। इह तु परिस्पन्दनादिक्रियाविशेषस्य एवोपदेश:। नास्तिक प्रधाने परिस्पन्दनादिक्रिया इति कारणात् प्रधानं हि अक्रियम् इत्यर्थ:।

5. व्यक्तं हि अनेकं बहुविधम्। त्रयोविंशतिसंख्याकत्वेनैव व्यक्तानाम् अनेकत्वं सिद्ध्यति। पुनश्च अनेकत्वकथनं प्रतिपुरुषं बुद्ध्यादीनां भेदम् उपलक्ष्य इति अवधेयम्। अव्यक्ता प्रकृतिस्तु एकेव।

6. यद् यस्माद् उत्पद्यते तत् तदाश्रितम्। तेन बुद्धि: प्रधानाश्रिता, अहङ्कार: बुद्ध्याश्रित:, इन्द्रियाणि तन्मात्राणि च अहङ्काराश्रितानि, पञ्चभूतानि च तन्मात्राश्रितानि। अत: व्यक्तस्य वैशिष्ट्यं तावद् आश्रितत्वम्। कार्यकारणयो: अभेदत्वेऽपि अत्र तयोराश्रयाश्रयिभाव: 'इह वने तिलका:' इति उदाहरणवत् द्रष्टव्यम्। प्रधानं न कस्माच्चित् उत्पन्नम् इति कारणात् तस्य अनाश्रितत्वम्।

7. लिङ्गं तावत् व्यक्तम्। लीनं गमयति इति लिङ्गम् अनुमापकमित्यर्थ:। प्रधानस्य लिङ्गम् अनुमापकं हि व्यक्तम्। व्यक्तम् आश्रित्यैव तस्य कारणत्वेन प्रधानम् अनुमीयते। न तु प्रधानस्य कस्यचित् अनुमापकमिति तस्य अलिङ्गत्वम्।

8. व्यक्तं हि सावयवम्, अवयवै: संयुतम् इत्यर्थ:। अवयवनम् अवयव: इति व्युत्पत्त्या अवयवो नाम पदार्थद्वयमेलनं, संयोगो वा। महदादीनां व्यक्तानां परस्परसंयोग: सम्भव:, तस्मात् तानि सावयवानि। न च प्रकृति: संयोगवती। ननु सत्त्वरजस्तमसां संयोग: प्रकृतौ विद्यते इति चेन्न, अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिरेव संयोग:। प्रधाने तु सत्त्वरजस्तमांसि अविच्छेदेन विद्यन्ते इति न तेषाम् अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिरस्ति इति कारणात् न सयोग:। तस्मात् प्रधानस्य न सावयवत्वम्।

9. व्यक्तं हि परतन्त्रम्। यत् यत् कार्यं तत् तत् कारणपरतन्त्रमिति नियम:। एवं कार्यत्वात् व्यक्तं परतन्त्रम्म्। प्रकृतिस्तु न कस्यचित् कार्यमिति तस्य स्वातन्त्यम्।

इत्थं व्यक्ताव्यक्तयो: वैधर्म्याणि संक्षेपेण आलोचितानि। इदानीं तयो: साधर्म्याणि संक्षेपेण आलोच्यन्ते। तथाहि व्यक्ताव्यक्तयो: साधर्म्यप्रतिपादिका कारिका

त्रिगुणमविवेकि विषय: सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ इति। [11]

(1) त्रिगुणम्, (2) अविवेकि, (3) विषय:, (4) सामान्यम्, (5) अचेतनम्, (6) प्रसवधर्मि - इत्येतानि व्यक्ताव्यक्तयो: साधर्म्याणि।

1. सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था हि प्रकृति:, तेन प्रधानं त्रिगुणम्। कारणगुणा: हि कार्ये अनुवर्तन्ते इत्यत: प्रकृते: उत्पन्नं महदादि व्यक्तमपि त्रिगुणम्। यथा कृष्णतन्तुज: पट: कृष्ण एव भवति तद्वत्।

2. अविवेकित्वं च व्यक्ताव्यक्तयो: धर्मविशेष:। अत्र अविवेकिता नाम सम्भूयकारिता। न हि किञ्चिदेकं पर्याप्तं स्वकार्ये, अपि तु सम्भूय, तत्र न एकस्मात् कस्यचित् केनचित् सम्भव:। अथवा प्रधानं स्वत: न विविच्यते इति कारणात् अविवेकि। महदादीनि तत्त्वानि अपि प्रधानात् न विविच्यन्ते इति कारणात् अविवेकीनि। अमी गुणा: इदं व्यक्तम्, अमी गुणा: इदं च अव्यक्तम् इति विवेक: कर्तुं न शक्यते इति कारणात् व्यक्तादीनि अव्यक्तं च अविवेकि।

3. विषय: इति पदेन न आन्तरं विज्ञानं प्रधानादितत्त्वम् इति स्पष्टीकृतम्, एतेन विषयपदस्य अर्थ: बाह्य:

ध्यान दें:

ग्राह्यः भोग्यः पदार्थः इति अङ्गीकर्तव्यः। प्रधानं हि सुखदुःखमोहात्मकतया सर्वैः पुरुषैः भोग्यम्। एवं सर्वाणि व्यक्तानि त्रिगुणात्मकत्वेन सुखदुःखमोहात्मकतया सर्वैः पुरुषैः भोग्यानि। तेन च व्यक्ताव्यक्तयोः विषयत्वं सिद्ध्यति।

4. प्रधानं हि सामान्यम् इति उच्यते। अनेकेः पुरुषैः गृह्यते इति कारणात् तत् सामान्यम्। यथा घटपटादिकम् अनेकेः गृह्यते, यथा वा नर्तकीभ्रूलताभङ्गः बहूनां बहूनां प्रत्यक्षगोचरो भवति, तथैव व्यक्ताव्यक्तयोः उभयोः अपि बहुपुरुषग्राह्यत्वं समस्ति, पुरुषबहुत्वात्।

5. अव्यक्तं प्रधानं तथा व्यक्तानि सर्वाणि अपि अचेतनानि। चेतनस्तु केवलः पुरुषः।

6. प्रसवधर्मित्वं व्यक्ताव्यक्तयोः अपरः धर्मः। बुद्धेः अहङ्कारः, ततः इन्द्रियाणि तन्मात्राणि च, तेभ्यः तन्मात्रेभ्यः भूतानि जायन्ते। एवं प्रधानम् अपि बुद्धिं प्रसूते। तेन उभयोः प्रसवधर्मित्वं सिद्ध्यति। प्रसवधर्मित्वस्य अर्थस्तावत् परिणामित्वम् इति।

इत्थं व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्यवैधर्म्याणि संक्षेपेण निरूपितानि।

व्यक्त तथा अव्यक्त में साधर्म्य तथा वैधर्म्यविचार

पच्चीस तत्वों का यहाँ पर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है। पच्चीस तत्वों में महत् तत्व से लेकर पञ्चमहाभूतों तक तेईस तत्वों का वर्णन किया गया है। प्रधान के लिए अव्यक्त पद प्रयुक्त किया गया है। उसी के ही प्रकृति, मूलप्रकृतिः, तथा कारण इस प्रकार अनेक नाम हुए हैं। सभी व्यक्त उसी अव्यक्त में स्थित हैं। अव्यक्त से ही व्यक्त तत्वों का आविर्भाव हुआ है। उन व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य तथा वैधर्म्य का अभी आलोचन किया जा रहा है। व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य का प्रतिपादन करने वाली कारिका यह है।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥ इति। [10]

व्यक्त सभी तत्व (1) हेतुमद्, (2) अनित्य, (3) अव्यापि, (4) सक्रिय, (5) अनेक, (6) आश्रित, (7) लिङ्ग, (8) सावयव, तथा (9) परतन्त्र होते हैं तथा अव्यक्त ही अहेतुमत्, नित्यम्, सर्वव्यापि, अक्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, निरवयव, स्वतन्त्र होता है। अब व्यक्त तथा अव्यक्त के वैधर्म्य का संक्षेप में विचार किया जा रहा है।

1. जिसका उत्पत्ति तथा कारण होता है वह हेतुमद् कहलाता है। प्रधान से लेकर के हेतु के महतत्व से लेकर पञ्चमहाभूत पर्यन्त तेईस तत्व उत्पन्न होते हैं। इसलिए वे हेतुमान् कहे जाते हैं। नित्य होने के कारण प्रधान का कोई उत्पति कारण नही इसलिए यह अहेतुमान होता है।

2. व्यक्त भी अनित्य होता है। सांख्य शास्त्र में किसी पदार्थ के सम्पूर्ण रूप से ध्वंस होने का कोई भी कारण नही है इस कारण से यहाँ अनित्य पद का तिरोभाव हो जाता है। व्यक्त जिससे उत्पन्न हुआ है इस लिए ही उसमें अनित्यत्व धर्म रहता है। अकारणवान् होने के कारण यह नित्य है यही नित्य का लक्षण होता है। उसके विपरीत होने के कारण व्यक्त अनित्य कहलाता है। वह ऐसे मिट्टी से उत्पन्न घड़ा अनित्य दिखाई देता है। इसी प्रकार महदादि प्रधानों से उत्पन्न कारण की भी अनित्यता सिद्ध होती है। प्रधान की किसी से भी उत्पत्ति नहीं होने के कारण वह नित्य ही होता है।

3. व्यक्त अव्यापि होने के कारण सर्वगत नही है। जैसे प्रधान तथा पुरुष (सर्वगत) है लेकिन व्यक्त सर्वगत नहीं है। प्रकृति तो तेईस महदादि पदार्थों में व्याप्त रहती है। परन्तु महदादि प्रकृति नहीं होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि अव्यक्त तथा प्रधान सर्वव्याप्तहोते है तथा व्यक्त (प्रकृति रहति अन्त तत्व) अव्यापित्व धर्म वाले होते है।

ध्यान दें:

4. व्यक्त ही सक्रिय होता है (अर्थात क्रियाशील होता है)। संसरणकाल में (संसार में जन्म तथा मरण के समय) महदादि कार्य सूक्ष्मशरीर का आश्रय लेकर ससंरण करते हैं इसलिए सक्रिय कहलाते हैं। यहाँ पर क्रियामात्र की विवक्षा नहीं है, क्योंकि परिणाम में क्रियात्व आ जाने के कारण प्रधान में भी सक्रियत्व धर्म आ जाता। यहाँ पर क्रिया से तात्पर्य परिस्पन्दनादि क्रिया विशेष ही है। इसलिए प्रधान में परिस्पन्दनादि क्रिया के कारण ही वह निष्क्रिय रहता है।

5. व्यक्त अनेक तथा बहुत प्रकार का होता है। तेईस संख्या होने के कारण व्यक्त का अनेकत्व सिद्ध होता है। फिर भी अनेकत्व कथन से प्रति पुरुष तथा बुद्धि आदि मे भेद समझना चाहिए। अव्यक्तं प्रकृति तो एक ही है।

6. जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसके आश्रित रहता है। इसलिए बुद्धि प्रधान के आश्रित रहती है, अहङ्कार बुद्धि के आश्रित रहता है, इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ अहङ्कार के आश्रित रहती हैं, तथा पञ्च महाभूत तन्मात्राओं के आश्रित रहते हैं। अत: व्यक्त का वैशिष्ट्य आश्रितत्व होता है। कार्य तथा कारण के अभेद होने पर भी यहाँ उनके आश्रय तथा आश्रयी भाव को कहा जा रहा है जैसे 'इस वन में चन्दन के वृक्ष है' इस उदाहरण से अवगमन करना चाहिए। प्रधान भी किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है अत: वह अनाश्रित्व धर्म वाला है।

7. लिङ्ग (लय) होने से व्यक्त है। जो लीन हो जाता है वह लिङ्ग अर्थात् अनुमापक कहलाता है। प्रधान का लय अनुमापक होना ही व्यक्त है। व्यक्त के आश्रय से ही उसके कारणत्व के कारण प्रधान में लय हो जाता है। प्रधान में अनुमापकत्व होने के कारण वह अलिङ्गत्व धर्म वाला ही रहता है।

8. व्यक्त ही सावयव वाला होता है अर्थात् अवयवों के संयुत होता है। अवयव से तात्पर्य है दो पदार्थों के मिलन अथवा संयोग। महादादि व्यक्त को परस्पर संयोग संभव होता है इसलिए वे अवयव वाले कहलाते है। प्रकृति संयोग वाली नहीं होती है। तो कहते हैं कि सत्व रज तथा तम का संयोग तो प्रकृति में होता है, तब कहते हैं कि ऐसा नहीं है। अर्थात् अप्राप्ति पूर्वक प्राप्ति ही संयोग कहलाती है जैसे प्रधान में तो यह पहले से उपलब्ध रहते अत: पूर्व से ही होने के कारण अप्राप्ति पूर्वक प्राप्ति से इनका संयोग नहीं होता है। इसलिए प्रधान सावयव युक्त नहीं होता है।

9. व्यक्त ही परतन्त्र होता है। अर्थात् जो जो कारण होते हैं वे अपने कारण के परतन्त्र होते है यह नियम प्रचलित है। अत: कार्यत्व होने से व्यक्त परतन्त्र होते हैं। प्रकृति किसी का कार्य नही होने के कारण स्वतन्त्र ही रहती है।

इस प्रकार से व्यक्त तथा अव्यक्त के वैधर्म्य का संक्षेप मे आलोचन किया गया है। अब उन दोनों के साधर्म्य का संक्षेप में आलोचन प्रारम्भ करते हैं। व्यक्त तथा अव्यक्त की साधर्म्य प्रतिपादिका कारिका यह है-

त्रिगुणमविवेकि विषय: सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥ इति। [11]

(1) त्रिगुणम्, (2) अविवेकि, (3) विषय:, (4) सामान्यम्, (5) अचेतनम्, (6) प्रसवधर्मि ये व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य कहे गये है।

1. सत्व, रज तथा तम की साम्यावस्था ही प्रकृति कहलाती है। तथा तीनों गुण वाली व प्रधान होती है। कारण के गुण ही कार्य में अनुवर्तन करते है इसलिए प्रकृति से उत्पन्न महदादि व्यक्त होते हुए भी त्रिगुणात्मक होते हैं। जैसे काले धागे का वस्त्र काला ही बनता है।

2. अविवेकित्व व्यक्त तथा अव्यक्त धर्म विशेष होता है। यहाँ पर अविवेकिता से तात्पर्य

ध्यान दें:

सम्भूयकारिता से (तत्वों के समूह) है। कोई एक तत्व अपने कार्य में पर्याप्त नहीं होता है बल्कि सम्भूय रूप में ही कार्य होता है इसलिए किसी एक से कुछ भी सम्भव नहीं होता है। अथवा प्रधान स्वयं व्यक्त नहीं होने के कारण भी अविवेकी है। महद् आदि तत्व भी प्रधान से विवेचित नहीं होने के कारण अविवेकी ही कहलाते हैं। वे गुण ये व्यक्त तथा ये अव्यक्त है इस प्रकार से विवेक नहीं कर सकते है इस कारण से व्यक्तादि अव्यक्त तथा अविवेकी होते है।

3. विषय इस पद से आन्तरिक विज्ञान प्रधानादि तत्वों का स्पष्टीकरण किया गया है, इस विषय पद का यहाँ पर अर्थ बाहरी भोग पदार्थ ही अङ्गीकृत करना चाहिए। प्रधान तो सुख दु:ख तथा मोहात्मकता के कारण सभी पुरुषों के द्वारा भोग्य होता है। इस प्रकार सभी व्यक्त त्रिगुणात्म तथा सुख दु:ख मोहात्मक होने के कारण सभी पुरुषों के द्वारा भोग्य है। जिससे व्यक्त तथा अव्यक्त का वैशिष्ट्य सिद्ध होता है।

4. प्रधानं ही सामान्य कहा जाता है। अथवा अनेक पुरुषों के द्वारा ग्रहण होने के कारण भी सामान्य कहा जाता है। जैसै घट पट आदि का अनेको के द्वारा ग्रहण होता है, जैसे नर्तकी के भ्रूलता भङ्ग आदि प्रत्यक्ष गोचर होते हैं। वैसे ही व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों भी बहुपुरुषग्राह्यत्व होने के कारण सामान्य कहे जाते हैं।

5. अव्यक्त प्रधान होता है तथा व्यक्त के सभी कार्य अचेतन होते है। चेतन तो केवल पुरुष ही होता है।

6. प्रसवधर्मित्व व्यक्त तथा अव्यक्त का अपर धर्म होता है। बुद्धि से अहङ्कार, उससे इन्द्रियाँ तथा तन्मात्राएँ, उनसे भूतों की उत्पत्ति होती है। तथा प्रधान से बुद्धि की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार दोनों का प्रसवधर्मित्व सिद्ध होता है। प्रसवधर्मित्व का अर्थ परिणामित्व होता है।

इस प्रकार से व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य तथा वैधर्म्य का संक्षेप में निरूपण किया गया है।

पाठगत प्रश्न 3

1. अहङ्कार का उपादान कारण कौन-सा है?

   (क) प्रकृति (ख) महत् (ग) तन्मात्राएँ (घ) इन्द्रियाएं

2. सांख्य शास्त्र में कितने करण बताए गये हैं?

   (क) दश (ख) एकादश (ग) द्वादश (घ) त्रयोदश

3. सांख्यशास्त्र में कितने अन्त: करण है?

   (क) तीन (ख) चार (ग) पाँच (घ) ग्यारह

4. पाँच वायु कौन-कौन से है?

5. व्यक्त तथा अव्यक्त के कितने वैधर्म्य सांख्य कारिका में बताए गये हैं?

   (क) नौ (ख) आठ (ग) पाँच (घ) ग्यारह

6. व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य कौन-कौन से हैं?

पाठ-3

सांख्य दर्शन में सृष्टि विचार

ध्यान दें:

पाठ सार

प्रत्येकं दर्शनानां सृष्टिविषये स्वकीयं मतं विराजते। तत्र सांख्यनये तावत् प्रकृतिपुरुषसंयोगः एव सृष्टिकारणम्। संयोगः नाम अत्र न घटपटादिवत् साक्षात्सम्बन्धः बोद्धव्यः, अपि तु दर्पणप्रतिबिम्बितमुखवत् बिम्बप्रतिबिम्बसम्बन्धः ज्ञेयः। पुरुषसान्निध्यात् प्रकृतौ गुणानां परस्परं वैषम्यं जायते, ततः महत्तत्त्वादिक्रमेण स्थूलभूतान्तं जगत् उत्पद्यते। अस्मिन् मते सृष्टेः अस्ति किञ्चित् उद्देश्यम्। तथाहि परार्था प्रकृतेरियं प्रवृत्तिः प्रकृतेः भोगसाधिका, पुरुषस्य च केवल्यसाधिका। प्रकृतिपुरुषसंयोगः हि सृष्टेः निमित्तकारणम्, उपादानकारणं तु मूलप्रकृतिरेव। मूलप्रकृतेः अध्यवसायात्मकं महत्तत्त्वम्, ततः अभिमानात्मकः अहङ्कारः, ततः अहङ्कारात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः इति पञ्च तन्मात्राणि, सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च उत्पद्यन्ते। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्च महाभूतानि जायन्ते। प्राणापानव्यानोदानसमानाः इति पञ्च वायवः बुद्ध्यहङ्कारमनोरूपान्तःकरणत्रयस्य सामान्यव्यापारभूताः। अयमेव सांख्यनये सृष्टिक्रमः। अत्र प्रधानमेव केवलम् अव्यक्तम्, अन्यानि सर्वाणि तज्जातानि तत्त्वानि व्यक्तानि। तयोः व्यक्ताव्यक्तयोः विद्येते तावत् साधर्म्यवैधर्म्ये। तथाहि- त्रिगुणम्, अविवेकि, विषयः, सामान्यम्, अचेतनम्, प्रसवधर्मि - इत्येतानि व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्याणि। हेतुमद्, अनित्यम्, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितम्, लिङ्गम्, सावयवं, परतन्त्रं चेति व्यक्ताव्यक्तयोः वैधर्म्याणि।

प्रत्येक दर्शन का सृष्टि के विषय में स्वयं का अलग अलग मत। सांख्य शास्त्र मे प्रकृति पुरुष का संयोग ही सृष्टि का कारण है। संयोग से यहाँ पर घट तथा पट की तरह साक्षात सम्बन्ध जानना चाहिए, तथा साथ में ही दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख के समान बिम्ब प्रतिबिम्ब सम्बन्ध भी जानना चाहिए। पुरुष के सानिध्य से प्रकृति में गुणों की परस्पर विषमता उत्पन्न होती है, जिससे महतत्वादि क्रम से स्थूलभूत जगत् उत्पन्न होता है। इस मत में सृष्टि के कुछ उद्देश्य होते है। जैसे यह परार्थ प्रकृति की प्रवृत्ति प्रकृति के भोगसाधिका तथा पुरुष की केवल्य साधिका होती है। प्रकृति पुरुष का संयोग सृष्टि का निमित्त कारण है तथा उपादान कारण तो केवल मूलप्रकृति ही है। मूलप्रकृति से अध्यवसायात्म महत् तत्व तथा उससे अभिमानात्मक अहङ्कार उत्पन्न होता है, उस अहङ्कार से शब्द, स्पर्श, रूप, रसगन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ तथा संकल्प विकल्पात्मक मन पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं। पाँच तन्मात्रों से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान यह पाँच वायु होते हैं। ये पाँच वायु बुद्धि अहङ्कार तथा मनरूप अन्तः करण के सामान्य व्यापार कारक होते हैं। इसी प्रकार से सांख्य शास्त्र में सृष्टि का क्रम दिया गया है। यहाँ प्रधान ही केवल अव्यक्त कहलाता है। अन्य सभी उससे उत्पन्न तत्व व्यक्त कहलाते हैं। उन दोनों व्यक्त तथा अव्यक्त में साधर्म्य तथा वैधर्म्य रहता है। अतः कहा गया है त्रिगुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मि ये व्यक्ताव्यक्त के साधर्म्य होते हैं। हेतुमत्, अनित्यम्, अव्यापि, सक्रियम्, अनेकम्, आश्रितम्, लिङ्गम्, सावयमम्, परतन्त्रम्, ये व्यक्त तथा अव्यक्त के वैधर्म्य होते है।

पाठान्त प्रश्न

1. त्रिगुणपरिणामः सृष्टेः कारणम् इति विषये लघुटिप्पणीमेकां लिखत?
2. सांख्यनये सृष्टिक्रमं वर्णयत?
3. सृष्टेः किं तावत् प्रयोजनम्- इति सांख्यमतमाश्रित्य आलोचयत?
4. प्रकृतिपुरुषसंयोगात् कथं सृष्टिर्जायते इति विचारयत?

ध्यान दें:

5. इन्द्रियाणां विस्तरेण परिचयः प्रदीयताम्?
6. पञ्च वायूनां विषये लघुटिप्पणीं लिखत?
7. व्यक्ताव्यक्तयोः साधर्म्यविषये लघुटिप्पणीमेकां लिखत?
8. व्यक्ताव्यक्तयोः वैधर्म्यविषये लघुटिप्पणीमेकां लिखत?
9. सांख्यनये अहङ्कारस्य परिचयः दीयताम्?
10. सांख्यनये महत्तत्त्वस्य परिचयः दीयताम्?

हिन्दी भावार्थ

1. त्रिगुण परिणाम ही सृष्टि का कारण है इस विषय पर लघु टिप्पणी लिखिए ।
2. सांख्य शास्त्र के अनुसार सृष्टि के क्रम का वर्णन कीजिए।
3. सृष्टि का क्या प्रयोजन है? यहाँ पर सांख्यमत का आश्रय लेकर आलोचना कीजिए।
4. प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से किस प्रकार से सृष्टि उत्पन्न होती है विचार कीजिए।
5. इन्द्रियों का विस्तार से परिचय दीजिए।
6. पाँच वायुओं के विषय में लघु टिप्पणी लिखिए
7. व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य के विषय में लघुटिप्पणी लिखिए।
8. व्यक्त तथा अव्यक्त के वैधर्म्य के विषय में एक लघु टिप्पणी लिखिए।
9. सांख्यशास्त्र के अनुसार अहङ्कार का परिचय दीजिए।
10. सांख्यशास्त्र के अनुसार महत् तत्व का परिचय दीजिए।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर

1. साम्यावस्था वैषम्यावस्था चेति दशाद्वयं प्रधानस्य।
2. सृष्टिकाले।
3. पुरुषसन्निधानात् प्रकृतेः गुणत्रयवैषम्यं जायते।
4. कारणमस्त्यव्यक्त प्रवर्तते त्रिगुणतः समुदयाच्च। परिणामतः सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।।
5. सदृशपरिणामः।
6. पुरुषस्य मोक्षः, भोगश्च प्रकृतेः इति सृष्टेः प्रयोजनं सांख्यनये।
7. पङ्ग्वन्धयोः।
8. "उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्" इति।
9. ग) अहङ्कारात्
10. पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनाघ्राणाख्यानि।
11. पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि।

12. अध्यवसायात्मिका बुद्धि:।
13. अभिमानोऽहङ्कार: इति अहङ्कारस्य लक्षणम्।
14. शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा: पञ्च तन्मात्राणि।
15. (ग) तम:प्रधानाद् अहङ्कारात्।
16. (घ) सत्त्वप्रधानाद् अहङ्कारात्।
17. (ख) महत्।
18. (घ) त्रयोदश।
19. (क) त्रीणि।
20. प्राण:, अपान:, व्यान:, उदान:, समानश्चेति पञ्च वायव:।
21. (क) नव।
22. त्रिगुणम्, अविवेकि, विषय:, सामान्यम्, अचेतनम्, प्रसवधर्मि - इत्येतानि व्यक्ताव्यक्तयो: साधर्म्याणि।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.1

1. प्रधान की साम्यावस्था तथा वैषम्यावस्था इस प्रकाश से दो दशाएँ होती हैं।
2. सृष्टिकाल में
3. पुरुष की सन्निधि से प्रकृति के तीनों गुणों मे विषमता आ जाती है।
4. कारणमस्त्यव्यक्त प्रवर्तते त्रिगुणत: समुदयाच्च। परिणामत: सलिलवत्प्रतिप्रतिगुणाश्रयविशेषात्।।
5. सदृशपरिणाम
6. पुरुष का मोक्ष तथा भोग, ये दोनों ही प्रकृति का सृष्टि करने का प्रयोजन सांख्यशास्त्र में दिया गया है।
7. लंगड़ा तथा अंधा
8. "उपरागात् कर्तृत्व से तथा चित् सानिध्य से"

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 2.1

1. ग) अहङ्कारात्
2. पाँचज्ञानेन्द्रियाएँ है कान, त्वचा, आँख, नाक, जीभ
3. पाँच कर्मेन्द्रियाएँ है मुख, हाथ, पैर, गुह्येन्द्रि, तथा उपस्थ।
4. बुद्धि अध्यवसायात्मिका होती है।
5. अभिमान अहङ्कार का लक्षण होता है 'अभिमानोऽहङ्कार:'

ध्यान दें:

6. शब्दस्पर्शरूपरसगन्ध पाँच तन्मात्राएं होती है।
7. (ग) तम प्रधान अहङ्कार से
8. (घ) सत्वप्रधान अहङ्कार से

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 3.1

1. (ख) महत्
2. (घ) तेरह
3. (क) तीन
4. प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान ये पाँच वायु होती है।
5. क) नो
6. तीनों गुण, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मी, ये व्यक्त तथा अव्यक्त के साधर्म्य होते है।

ध्यान दें:

4

सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद

प्रत्येक दर्शन के कुछ विशेष विषय होते हैं जो उन दर्शनों की उत्कृष्टता का वर्णन करते है। उन दर्शनों के प्रधान वाद से वे प्रसिद्ध हो जाते हैं। जैसे न्याय वैशेषिक दर्शन में अनुमान प्रमाण, अद्वैत वेदान्त दर्शन में विवर्तवाद, वैसे ही सांख्यदर्शन में भी यह सत्कार्यवाद प्रसिद्ध है। वस्तुतः कार्य कारण सम्बन्ध तथा अनुसन्धान परम्परा प्रत्येक दर्शन में देखी जाती है। इसलिए प्रत्येक दर्शन के अन्तर्गत हेतुमद्‌भाव तत्व की व्याख्या की गई है। इसकी व्याख्या के वैचित्रय में प्रत्यके दर्शन का स्वातन्त्र्य रहा है। सत्कार्यवादि सांख्यों का कार्यकारण के विषय में अन्तिम निर्णय रहा है। सांख्य कारिका ग्रन्थ में प्रारम्भ में सांख्य सम्मत प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम इन तीनों प्रमाणों का विचार करके, सूक्ष्म होने के कारण प्रधानादि तत्वों की प्रत्यक्ष कारण से उपलब्धि न होती है, ऐसा कहकर के प्रधान की सिद्धि के लिए सत्कार्यवाद का युक्ति पूर्वक कारिकाकार प्रतिपादन करते हैं। कार्य उत्पत्ति के पहले सत् था अथवा असत् था यह मुख्य विचार किया जाता है। शून्यवादी बौद्धों के मत में असत् कारण से सत् कार्य उत्पन्न होता है। नैयायिक असत्कार्यवाद को अङ्गीकृत नहीं करते हैं उनके मत में सत् ही असत् हो जाता है। अद्वैतवादी तो विवर्तवाद को ही अङ्गीकार करते हैं। इस पाठ में सांख्य सम्मत सत्कार्यवाद का विस्तार से उपस्थापन होगा। तथा सम्पूर्ण सत्कार्यवाद से सम्बन्ध बहुत विषयों का आलोचन किया जायेगा।

उद्देश्य

इस पाठ के अध्ययन से आप सक्षम होंगे;

- सांख्य दर्शन के प्रसिद्ध सत्कार्यवाद का विस्तार से परिचय प्राप्त करने में;
- सत्कार्यवाद की सिद्धि के लिए सांख्याचार्यों ने जो युक्तियाँ उपस्थापित की उनका ज्ञान प्राप्त करने में;
- सत्कार्यवाद के सम्बन्ध में शून्यवाद का ज्ञान प्राप्त करने में;
- सत्कार्यवाद के सम्बन्ध में असत्कार्यवाद के विषय का ज्ञान प्राप्त करने में;
- सत्कार्यवाद के सम्बन्ध में विवर्तवाद के विषय का बोध प्राप्त करने में;
- सांख्यों द्वारा शून्यवाद के खण्डन के विषय का ज्ञान प्राप्त करने में;
- सांख्यों के विवर्तवाद के खण्डन के विषय का ज्ञान प्राप्त करने में;

पाठ-4

सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद

ध्यान दें:

असत्कार्यवाद

असत्कार्यवाद नैयायिकों का मत है। उनके मत में सत् से असत् उत्पन्न होता है, अर्थात् सत् कारण से असत् ही उत्पन्न होता है। जैसे सत् भावरूप से परमाणु के असत् पूर्व अविद्यमान द्वयणु आदि उत्पन्न होते है, पूर्व में असद् से हि घटादि कार्य दण्ड चक्र वस्त्र आदि सामग्री समवहितमृदादि कारण से भिन्न सत् से उत्पन्न होती है। यहाँ पर यह भाव है कि स्वयं कि उत्पत्ति के पूर्व वह कार्य नहीं था तथा बाद में कारणसामग्री के कारण उत्पन्न होता है। इसमें कार्य तथा कारण का अन्यत्व तथा परमार्थ तथा सत्यत्व को बताया गया है। इस प्रकार नैयायिकों के मत में घड़े की उत्पत्ति से पूर्व घड़ा था ही नहीं। दो कपाल के संयोग होने पर नये घड़े का निर्माण कार्य आरम्भ होता है इस कारण से यह आरम्भवाद कहलाता है।

शून्यकार्यवाद

"शून्यता ही जगत् की परमार्थता है" इस प्रकार से शून्यवादी बौद्ध लोग मानते हैं। उनके मत में असत् से सत् उत्पन्न होता है। इसका अर्थ ये है कि अभाव से भाव उत्पन्न होता है। विनष्ट बीज से ही अङ्कुर उत्पन्न होता है। नष्ट दूध से दही उत्पन्न होता है, विनष्ट मिट्टि से घड़ा इस प्रकार अभाव ग्रस्त बीजों से अङ्कुरादि की उत्पत्ति देखी गई है। "सभी कार्यरूप भाव अभावकारण के द्वारा होते है जैसे बीज के नाश के बाद में अङ्कुरादि उत्पन्न होते है" इस प्रकार से अनुमान किया जाता है, तब बौद्धमत वाले गौतम का सूत्र उपस्थापित करते हैं।

"अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात्" (4.1.14) इति, जो अङ्कुरादि कार्य अव्यवहितपूर्ववृतित्व के कारण बीजादि भाव को प्राप्त करते हैं। न की बीजादि के अभाव की सिद्धि में कारण होते हैं और न भाव की। ''असदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्, तस्मादसतः सज्जायते" इस श्रुति के अनुसार पहले संसार की उत्पत्ति से पहले सभी का अभाव ही था। उस अभाव से ही सृष्टि के समय सभी वस्तुओं की उत्पत्ति हुई, यह स्पष्ट रूप से प्रति पादित होता है। उसी प्रकार संसार में भी जो बीजों में अङ्कुरादि की उत्पत्ति देखी जाती है वहाँ पर भी बीज के नाश से ही अंकुर की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार से समझना चाहिए। सत से उत्पन्न हो, तो ऐसा नहीं हैं अपितु कारण मृत होकर कार्य को जन्म देता है जैसे बीज से अङ्कुर। कारण के मृत होने से अभाव नहीं होता है अतः निश्चित रूप से असत् सत् उत्पन्न होता है। सत् से सत् नहीं।

1.3) विवर्तवादः

सत्य का विवर्त ही यह कार्यरूपी जगत् है, इस प्रकार से अद्वैतवेदान्ति अङ्गीकृत करते हैं। इसलिए वेदान्तियों के मत में विवर्तवाद स्वीकार किया जाता है। विवर्त किसे कहते हैं? तब उत्तर देते हुए कहते हैं कि पूर्वरूप के अपरित्याग के द्वारा असत्य का पुनः प्रतिभास होना विवर्त कहलाता है। जैसे- सीपी में चादी की तथा रस्सी में सर्प की प्रतीति होती है, इसलिए विवर्तवाद के विषय में कहा गया है-

सतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदाहृतः॥ इति।

इसका अर्थ है- जब किसी वस्तु का वस्तुगत अथवा अन्यथा रूप से विकार होता है तब वह विकार परिणाम कहलाता है। जैसे दूध दही के रूप में परिणत हो जाता है। वस्तुगत दूध का दही के रूप में परिणाम होता है। दूध अपना स्वरूप त्याग करके दही रूप में नया ग्रहण करता है। परन्तु जब किसी वस्तु का वस्तुगत अन्यथागत विकार नहीं होता है, वस्तु उसी स्वरूप में रहती है, लेकिन भ्रान्ति के कारण भिन्नरूप में प्रतीत होती है वह विवर्त कहलाता है। जैसै शुक्ति में रजत का भ्रमज्ञान होने पर रजत को

ध्यान दें:

लेने के लिए भ्रान्ति जन्य प्रवृत्ति होती है। वस्तुत: शुक्ति शुक्तिरूप में ही विराजमान रहती है, न की चांदी के रूप में। चांदी के रूप में जो कार्य की भ्रान्ति होती है वस्तुत: वह मिथ्या ही होती है। इस कारण से वास्तविक स्थिति नहीं होते हुए भी भ्रान्ति के कारण से मिथ्या रूप से कार्य करने में जो प्रतीति होती है वहा विवर्त कहलाता है। इस मत में कारण ही कार्य के स्वरूप में भासित होता है। इससे कारण ही सत्यत्व धर्म वाला होता है न की कार्य की सत्यता। एक कारण सत्ता ही विविध कार्य के आकार के द्वारा भासित होती है।

1.4) सत्कार्यवाद

भारतीय दर्शनों मे सत्कार्यवाद अत्यन्त प्रसिद्ध है, अत: सांख्य दर्शन में सत्कार्यवाद स्वीकार किया जाता है। सत्कार्यवाद किसे कहते हैं? कार्य उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान है अथवा नहीं है इस प्रकार का प्रश्न होने पर दार्शनिकों के भिन्न-भिन्न मत प्राप्त होते है। जिसमें शून्यवादी बौद्धों के मत में कारण अभावात्मक असत् के रूप में होता है, जिससे सत् कार्य के रूप में उत्पन्न होता है। आरम्भवादी नैयायिक तथा वैशेषिक लोग कहते हैं कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् होता है अर्थात् विद्यमान रूप में नहीं रहता है, जिससे वे असत् कार्यवादी कहलाते हैं। अद्वैतवेदान्तियों के मत में कारण ही सत् के रूप में होता है उससे ही अनिर्वचनीय कार्य उत्पन्न होता है, इस प्रकार विवर्तवादी लोग मानते हैं। सांख्यों के मत में उत्पत्ति से पूर्व कार्य सत् होता है अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कार्य कारण के रूप में अथवा अव्यक्त के रूप मे विराजमान होता है अत: वे सत्कार्यवादी कहलाते हैं। इसलिए इनके मत में तिल से उत्पन्न होने वाला तेल पहले से ही अव्यक्त रूप से तिलो में स्थित रहता है, ऐसा स्वीकार करना चाहिए। यदि तिलों में तेल पहले से अविद्यामान होता तो वह कार्य रूप में कदापि उत्पन्न नहीं होता। इस प्रकार सत् के भाव रूप से प्रधानादि के सत् के कारण में विद्यमान होने से ही वह अव्यक्त रूप कार्य के रूप में उत्पन्न होता है तथा कारक व्यापार भी कहलाता है। जायते तथा उत्पद्यते इस प्रकार के शब्दों का सम्पूर्ण रूप से नूतन वस्तु की सृष्टि के रूप में तात्पर्य ग्रहण करना नहीं चाहिए अपितु अव्यक्त रूप की व्यक्त रूप में अभिव्यक्ति ही ग्रहण करनी चाहिए।

पाठगत प्रश्न 1.1

1. असत्कार्यवाद किनका कहलाता है?

   (क) बौद्धों का (ख) सांख्यों का (ग) नैयायिकों का (घ) अद्वैतवेदान्तियों का

2. सत्कार्यवाद किनका कहलाता है?

   (क) बौद्धों का (ख) सांख्यों का (ग) नैयायिकों का (घ) अद्वैतवेदान्तियों का

3. विवर्तवाद किनका कहलाता है

   (क) बौद्धों का (ख) सांख्यों का (ग) नैयायिकों का (घ) अद्वैतवेदान्तियों का

4. 'शून्यता एव जगत: परमार्थता'- यह किनका मत है?

   (क) बौद्धों का (ख) सांख्यों का (ग) नैयायिकों का (घ) अद्वैतवेदान्तियों का

5. अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा।

   (क) विकार: (ख) परिणाम: (ग) विवर्त: घ) संस्कार:।

ध्यान दें:

6. विकार किसे कहते हैं?

7. विवर्त किसे कहते हैं?

8. सत्कार्यवाद के मत में कार्य कारण में किस प्रकार से रहता है?

1.5) सत्कार्यवाद को मानने पर कारण

सत्कार्यवाद को मानने में सांख्यवादियों की अपनी युक्तियाँ हैं। इसलिए सांख्यकारिका में कहा गया है-

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ इति। [9]

सांख्यकारिका में सत्कार्यवाद को अङ्गीकृत करने के लिए पाँच कारण बाताए गये हैं। वे हैं-

1. असदकरणात् 2. उपादानग्रहणात् 3. सर्वसम्भवाभावात्

4. शक्तस्य शक्यकरणात् और 5. कारणभावात्।

कारण व्यापार से बाद में उत्पन्न होने वाला कार्य सत् के रूप में ही रहता है। किस प्रकार?

1. असदकरणात्- असत् में करने के सामर्थ्य के अभाव से अर्थात् सत् उत्पन्न करने में समर्थ है न कि असत्। पुनः प्रश्न करते है किस प्रकार?

2. उपादानग्रहणात्- कारणों के साथ कार्य का सम्बन्ध होने से अर्थात् कार्य का कारण से सम्बन्ध होने से कारण कार्य का पिता होता है। सम्बन्ध होने से कार्य का असत् भाव सम्भव नहीं होता है। इसलिए यह सत् ही होता है। पुनः प्रश्न करते हैं किस प्रकार?

3. सर्वसम्भवाभावात् किसी की उत्पत्ति में कोई निश्चित उपादान अवश्य होता है, सभी की सभी से उत्पत्ति हो जाएं तो ऐसा नहीं है। यह कार्य तथा कारण का नियम होता है जिसमें उत्पत्ति से पूर्व कार्य का असत् पक्ष में सङ्गत नहीं होता है। अतः घड़े की उत्पत्ति के लिए मिट्टि का ही ग्रहण होता है, न कि तन्तु आदि का। यदि उत्पत्ति से पूर्व कार्य को असत् माने तो असत् कार्य के सर्वत्र होने से तन्तु आदि से भी घट का निर्माण होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतः कार्य असत् नहीं है। सत्व के पक्ष में तो घड़े का कारण मिट्टि में सत् होने से मिट्टि से घट की उत्पत्ति सम्भव होती है। यदि असम्बन्ध माने तो सभी से कार्य उत्पन्न हो सकता है इस कारण सभी से सभी की उत्पत्ति हो पर ऐसा नहीं। अतः असत् नहीं होकर के कार्य सत् ही होता है। पुनः प्रश्न करते हैं और किस प्रकार से?

4. शक्तस्य शक्यकरणात्- अर्थात् समर्थ से कार्य की उत्पत्ति हो सकती है, न की असमर्थ से। जैसे शक्ति युक्त कारण समर्थ से संबंध होने से कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ होता है, असम्बन्धित कारण उसके कार्य को नहीं कर सकता अतः समर्थ कारण की असत् से उत्पत्ति नहीं होती है। वस्तुतः कारण में उसकी आत्मा के रूप में वर्तमान कार्य की अव्यकृतावस्था तथा अनागतावस्था ही कार्य की नियामक शक्ति होती है, जो भावी कार्य को करने में समर्थ होती है, इसलिए वह कार्य शक्ति अनागतावस्थात्व रूप में कारण में होने के कारण भाव कार्य की सत्वावस्था ही होती है, अतः असत्व तत्व होता ही नहीं है। पुनः प्रश्न करते हैं और किस प्रकार से?

ध्यान दें:

5. कारणभावात्- अर्थात् कार्य का कारणत्व भाव होने से। कारण से भिन्न कार्य नहीं हो सकता है। क्योंकि कारण सत्व धर्म वाला होता है तो उससे भिन्न कार्य असत्व धर्म वाला कैसे होगा। इसलिए कार्य सत् ही होता है।

1.5.1) असत्करण

उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य की सत्ता के प्रथम हेतु के लिए असत्करण कहा गया है। असत्करण से तात्पर्य है कि अभावात्मक कारण में किसी प्रकार से भी करने का सामर्थ्य नहीं होना। सांख्यों के शास्त्र में कारक व्यापार के पूर्व कार्य असत् अभावात्मक होने से वह किसी भी प्रकार से उसके कार्य की उत्पत्ति नहीं कर सकता है। कारण के मध्य में सूक्ष्म रूप से विद्यमान अव्यक्त कार्य ही कारक व्यापार को व्यक्त रूप से प्रकाशन करनें मे समर्थ होता है। इसलिए सांख्यतत्व कौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने कहा है – "असच्चेत् कारणव्यापारात् पूर्व कार्य नास्य सत्त्वं कर्तुं केनापि शक्यं, न हि नीलं शिल्पिसहस्रेणापि पीतं कर्तुं शक्यते"।

(असत् कारण व्यापार से पूर्व किसी के द्वारा भी इसे सत् नहीं किया जा सकता है जैसे हजार शिल्पी भी नीले को पीला नहीं कर सकते हैं।)

निश्चित रूप से "घट सत्व धर्म रूप वाला है, असत्व धर्म वाला होता है" इस प्रकार का व्यवहार हम लोगों के द्वारा किया जाता है। पकाने से पहले जैसे "घड़ा काला है" इस प्रकार घट में श्यामता, पकाने के बाद "घड़ा लाल है" इस प्रकार घट में रक्तता उत्पन्न होती है, उसी प्रकार उत्पत्ति से पहले घट में असत्वधर्म होता है तथा उत्पत्ति के बाद घट में सत्व धर्म होता है। इस प्रकार से सत् तथा असत्व में भी दोनों को अङ्गीकृत कर सकते है। तब कहते हैं ऐसा नहीं है। सद् तथा असत् दोनों ही धर्म है इन दोनों को धर्मी के रूप में अलग नहीं कर सकते। जैसे धर्मी में सत्व के बिना धर्मसत्व अनुपपन्न होता है, उसकी उत्पत्ति से पहले भी कार्य सत्व रूप में स्थित रहता है यह अङ्गीकार करना चाहिए। इसका अर्थ ये है कि यदि सत्व तथा असत्व को स्वीकार करते हैं। तो असत्व के समय वह नहीं है इस प्रकार से कहा जायेगा। तब किसका धर्म असत्व है यह कहना चाहिए, अविद्यमान धर्मी में उसका ध र्म विद्यमान नहीं है ऐसा कहीं-कहीं कहा जाता है। सत्व की अवधारणा करने पर सत्वधर्म स्वयं ही सिद्ध होता है, तथा सत्व कार्य की ही पहले उत्पत्ति सिद्ध होती है। इसलिए कार्य सत्व ही है।

धर्मी का सम्बन्ध विद्यमान धर्म के तदाश्रयत्व होने से साथ में चलता है, इस प्रकार से नियम करने पर उत्पत्ति से पहले ' घट असत् ' था इस प्रकार का अभिधान सङ्गत नहीं होता है। घट असत् है इसका तो यह अर्थ हुआ कि असत्वरूप घट का आश्रय भी घट ही है। उत्पत्ति से पूर्व धर्मी के साथ सम्बन्ध मानने से असत्व रूप धर्म का धर्माश्रय कैसे भी सङ्गत नहीं होता है। जैसे 'नीलं कमलम् ' इसमें नील रूप धर्म का आश्रय कमल ही है इस प्रकार का अर्थ जाना जाता है। इसी प्रकार 'घट असत् है' इसका भी 'असत्वरूप धर्माश्रय घट है इस प्रकार का अर्थ जानना चाहिए। परन्तु ये भी युक्ति संगत नहीं है कमल के साथ नील का इस तरह असत् के साथ घट का सम्बन्ध असम्बन्धत्वात् नहीं होता है। इसलिए धर्मी के सम्बन्ध से विद्यमान धर्म का ही सम्बन्ध तदाश्रयत्वनियम से असम्बन्ध असत्व धर्म का कारण तदाश्रयत्व सम्भव है।

निश्चित रूप से कुलेलादि व्यापार से कार्य पहले (कारण रूप में) भी सद् ही होता है ऐसा मानना चाहिए। यदि कुलेलादि व्यापार को अर्थवान् मानें तो अन्य कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता है। घटादि स्वरूपों की सिद्धि के लिए कारक व्यापार को नहीं मानना चाहिए क्योंकि वे तो पहले ही सिद्ध हो चुके हैं। करण ही उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार है, उससे सत् किसी समय में सम्भव नहीं होता है। तथा न विद्यामान्

ध्यान दें:

की उत्पत्ति किसी के द्वारा कुछ देखी गयी है। उसी प्रकार जैसे पूर्व में सिद्ध होने से मिट्टी पिण्डादि के कारण के स्वरूप सिद्धि के लिए कुछ भी अभीप्सित नहीं है। वैसे ही पहले सिद्ध होने से कार्यस्वरूप भी उसकी प्रसिद्धि के लिए अभीप्सित नहीं है। वैसे संसार में देखा जाता है कि कार्यस्वरूप की सिद्धि के लिए लोक इच्छा करता है। इसलिए उत्पत्ति से पहले भी कार्य का अभाव है जिससे कारक व्यापार अर्थवान् होता है इस प्रकार से कहने पर वाचस्पति मिश्र कहते है – ''कारणाच्च सतोऽभिव्यक्तिरेवावशिष्यते'' इति। इसका अर्थ है कारण व्यापार से पूर्व भी व्यवहार योग्य सूक्ष्म रूप से सिद्ध होता है उसकी सत् कार्य की जो व्यवहार योग्य स्थूल रूप उपादान अभिव्यक्ति होती है वह फिर कारण तथा कुलेलादि व्यापार से होती है। इस प्रकार से यह अभिव्यक्ति ही साध्यतया के रूप में अवशिष्ट रहती है, न की उत्पत्ति के लिए। इसलिए कहा गया है जिस वस्तु की अभिव्यक्ति होगी वह उसकी अनागतावस्था होती है, जिसकी अभिव्यक्ति पहले थी वह उसकी अतीतावस्था होती है। जो वस्तु स्वव्यापाररूढ अभिव्यक्ति से आपन्न होती हुई होती है, वह उसकी वर्तमान अवस्था की स्थिति होती है। वहाँ पर उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य विद्यामान हो और अविद्यामान इस कारण से दण्डचक्रादि की नूतनता के द्वारा क्या सिद्ध किया जाता है, इस प्रकार से नैयायिक आक्षेप करते हैं।

तब सांख्यदर्शनवादी इस प्रकार से समाधान करते हैं, दण्डादि जो कारण होते हैं वे किसी भी काल में अपूर्व असद् घटादि कार्य को उत्पन्न नहीं करते हैं। किन्तु अव्यक्तावस्था से कारण में विद्यामान घटादिकार्य को वर्तमान अवस्था में लाते हैं। कारण व्यापार कारण ही पृथुबुध्नोदरादि कार्य कारणों की व्यवस्था करते हैं।

निश्चित रूप से वर्तमान स्थित मिट्टी के पिण्ड से घड़े का निर्माण होता है फिर घट में उत्पन्न अतीत अवस्था की सहायता से मिट्टी के पिण्डादियों से फिर घट की उत्पत्ति क्यों नहीं होती है? सांख्यों के मत में तो घट का वर्तमान काल भी अतीतावस्था वाली मिट्टी के पिण्ड का वर्तमान काल में भी विद्यमानत्व है। तब कहते हैं- वर्तमान अवस्था को प्राप्त करके जो कारण होता है वह ही कार्य की व्यक्तावस्था को सम्पादन करने में समर्थ होता है न की अतीत अवस्था अतीतावस्थित कारण से कार्य का आविर्भाव होता है। यदि कार्य उत्पत्ति के पहले भी अत्यन्त असत् हो तो कारण व्यापार से उत्पन्न नहीं होता है। जैसे अत्यन्त असत् होने के कारण खरगोश में सींग आदि कारण व्यापार से कुछ उत्पन्न करनें में समर्थ होते हैं। सत् होने पर तो कारण व्यापार का कोई प्रयोजन ही नहीं है उसकी पूर्व में विद्यमानता के कारण। इसलिए पूर्व में उत्पन्न कारण की आत्म सत् होते हुए भी कार्य की आत्मा से असत् होता है। इस प्रकार से समझना चाहिए। इससे असत् वाद उत्पन्न नहीं होता है अपितु कारण व्यापार ही सप्रयोजन युक्त कहलाते हैं। इस प्रकार से लोक में ऐसे कारण व्यापार हैं ही नहीं जो किसी भी रूप से उत्पत्ति से पूर्व नहीं थे। जैसे रेत में तेल। यहाँ पर ना तो कार्य को समझना चाहिए और ना ही असत् वाद को मानना चाहिए। अतः वह पूर्व में उत्पत्ति से कार्य रूप से असद् होता हुआ भी कारण रूप से सत् ही समझा जाता है। उसकी कारण व्यापार से उत्पत्ति मानने पर कोई विरोध नहीं है। अपने सामर्थ्य के अभाव से कारण व्यापार कुछ भी अपूर्व नहीं कर सकता। नहीं तो रेत से भी तेल निकालता। परन्तु उसके द्वारा इस प्रकार के कार्य नहीं देखे जाते हैं। तो फिर उसके द्वारा क्या किया जाता है? कारण रूप से सत् होते हुआ कार्य जिसके द्वारा कार्य रूप में सत् हो जाए वही उसका कार्य है।

कार्य की अभिव्यक्ति असत् कारण व्यापार से हो तो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि पूर्व में सत् वस्तुओं की ही अभिव्यक्ति होती है न की असत् की। जैसे पीड़न करने पर तिल से तेल निकलता है धान से चावल, दोहन से गायों से दुग्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार तिल आदि में पहले से विद्यमान तेल आदि ही पीडनादि के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं इस प्रकार से यह सत्व की ही अभिव्यक्ति है न की असत् की। परन्तु असत् की अभिव्यक्ति का तो कोई दृष्टान्त ही नहीं है। इसलिए सांख्य सूत्र में कहा गया है।

"नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्" (1.114) इति। जैसे असत् नर विषाण (मुनष्य में सींग) की उत्पत्ति कैसे भी नहीं हो सकती वैसे असत् कार्य की किसी भी प्रकार से कारक व्यापार से उत्पत्ति करना गलत ही है इस प्रकार से तार्किकाभिमत रूप से असत् कार्यवाद होता है। अतः "असदकरणात" इस प्रथम हेतु की व्यख्या की जाती है।

1.5.2) उपादान के ग्रहण से

ध्यान दें:

कारण व्यापार से पहले कार्य के सत्व में द्वितीय हेतु "उपादान ग्रहणात्" है। उपादान कारणों के ग्रहण से कार्य के साथ सम्बन्ध उपादान ग्रहण कहलाता है। उससे उपादान कारणों के द्वारा कार्य के सम्बन्ध से भी कार्य की उत्पत्ति के पूर्व सत् ही होता है। कार्य के सम्बन्ध होने से कारण ही कार्य का जनक होता है। सम्बन्ध ही द्विनिष्ठ होता है। कार्य असत् होता तो एकसम्बन्धि कार्य के असत् होने से उसके साथ कारण का सम्बन्ध उचित नहीं है। उससे असम्बद्ध कार्य के उत्पादन के कारण का सामर्थ्य उपयुक्त नहीं होता है। इसलिए उत्पत्ति से पहले कार्य के सतत्व को ही अङ्गीकृत करना चाहिए। अतः एक सांख्यसूत्र कहा गया है ''उपादाननियमात्" (1.115) इति।

जिस कार्य का निश्चत रूप से जो कारण होता है जैसै मिट्टी का घट,तन्तओं का पट, वह सत् ही उस (कार्य) रूप में उपलब्ध होता है न की असत् में। यदि कार्य उत्पत्ति से पहले कारण से अलग नहीं होता है तो उसमे वह सत् ही उपलब्ध होता है। जैसै मृत्तिका से अलग पट का सत्व मृत्तिका में उपलब्ध नहीं होता है, उसी प्रकार तन्तुओं से अलग घट का सत्व तन्तुओं में नहीं मिलता है। निश्चित रूप से मृत्तिका से घट अलग है तथा तन्तुओं से पट अलग है। तथा मृत्तिका ही घट है तथा तन्तु ही पट है तो ऐसा भी नहीं है तो जैसे मिट्टी से घट अलग है वैसे ही मिट्टी से पट भी अलग ही है। ऐसे ही तन्तुओं से जैसे पट अलग है वैसे ही तन्तुओं से घट भी अलग ही है। फिर भी कोई विशेष जिसके द्वारा घट की उत्पत्ति में मृत्तिका ही उपादान होती है न तन्तु, तथा पट की उत्पत्ति में तन्तु ही उपादान कारण है न की मिट्टी। इसलिए सभी जगह मिट्टी में घट तथा तन्तुओं में पट उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है। जिस भाव से अथवा जिस नियम से यह उपलब्ध होता है उससे उसकी उत्पत्ति से पहले सिद्ध होता हैं। अन्वय तथा व्यतिरेक के उपलब्धि पथ पर आरूढ होते हुए कार्य तथा कारण के भाव रूप में होते है। मिट्टी तथा घट में और तन्तु तथा पट में जिस प्रकार से अन्वय तथा व्यतिरेक दिखाई देता है, उस प्रकार से मिट्टी तथा पट का एव तन्तु तथा घट प्राप्त होता है। क्या कारण है की उत्पत्ति से पहले मिट्टी तथा घट में अनन्यत्व है और तन्तु तथा पट में भी अनन्यत्व है। यहाँ पर यह न तो विपरीत है और न अलग है इस प्रकार से यहाँ पर कोई संशयावकाश भी नहीं हैं।

इस प्रकार से संसार में भी दही आदि का उपादान दूध ही दिखाई देता है, घट आदि का मिट्टी। कार्य से उत्पत्ति से पहले कारण से अलग हो ही नहीं सकता है तब उस उस कार्यार्थी का उस-उस के उपादान का नियम यह नहीं दिखाई देता है। किन्तु उससे विपरीत ही अनुभव होता है। इस प्रकार दही आदि की उपादान मिट्टी तथा घटादि का उपादान दूध। यहाँ पर क्या कारण हो सकता है। यहाँ पर यह ही कारण है कि न तो उत्पत्ति से पहले मिट्टी से अनन्य दही दिखता है न दूध से अनन्य घट दिखाई देता है। जिसका उत्पत्ति से पहले ही कार्य असत् हो उसका सर्वत्र असत्व भाव होने के कारण दूध ही दही का उपादान होता है न की मृत्तिका तथा मिट्टी ही घट का उपदान होता है न की दूध। यदि कहा जाए की असत्व विशेष भी उन कारणों उस कार्य का उत्पादक है तो यहाँ पर कोई अतिशय हेतु होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है प्रकारान्तर से असत्वाद का परित्याग करके सत्वाद का ही ग्रहण करना होता है। कार्य के कारण में अनन्यत्व से अवस्थान का अतिशय पदार्थ होता है। इस प्रकार यह असत्कार्यवाद में जरूरी होता है।

ध्यान दें:

1.5.3) सर्वसम्भवाभाव

उपादानग्रहणाद् इस द्वितीय हेतु में प्रतिपादित किया गया की कार्य के साथ सम्बन्ध होने से कारण ही कार्य का जनक होता है। न की असम्बद्ध सम्बन्ध के द्विनिष्ठ नियम से। वहाँ यदि इस प्रकार का आक्षेप किया जाए कि असम्बद्ध ही कार्य और कारण से उत्पन्न हो। अर्थात् असत् ही कार्य को उत्पन्न करे इस आक्षेप के निराकरण के लिए एक अनन्तर हेतु बताया गया है जो है 'सर्वसम्भवाभावत् ' इस प्रकार से। यदि असम्बद्ध कारण से असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति स्वीकार करते है तब जिस किसी कारण से जिस किसी भी कार्य कि उत्पत्ति हो जाए, सभी से ही सभी कार्यों की उत्पत्ति हो जाए। तन्तुओं से घट की मिट्टी से पट की। परन्तु यह तो सम्भव नहीं है। अत: जिस कारण से जिस कार्य का सम्बन्ध है उस कारण से ही उस कार्य की उत्पत्ति होती है,यह अङ्गीकार करना चाहिए । तथा स्वीकार करने पर पूर्वोक्त युक्ति से असत सम्बन्ध का अनुचित होने से सत् कार्य को ही स्वीकार करना चाहिए। इसलिए सांख्याचार्यों ने कहा है।

असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभि:।
असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः॥ इति।

श्लोकार्थ:- असत्व में कार्य की उत्पत्ति पहले ही अविद्यमान होने के कारण (उन कार्यों का) सत्वसङ्ग तथा सत्वधर्माश्रय कारणों के साथ सम्बन्ध सद् तथा असद् के सम्बन्ध अनुपात से नहीं है तथा नहीं होना चाहिए। कारणों के द्वारा असम्बद्ध कार्य के इच्छित मत में यह व्यवस्थिति होती है की "मिट्टी ही घट है तथा कनक से ही कटक होता है" "दूध से ही दही उत्पन्न होता है" इस प्रकार की व्यवस्था नहीं होनी चाहिए, अपितु "सभी से सभी की उत्पत्ति" इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए इसका यह अर्थ होना चाहिए। इसलिए सांख्य सूत्र में कहा गया है, "सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात्" (1. 116)

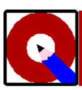

पाठगत प्रश्न 2.1

1. सत्कार्यवाद का प्रतिपादन करने वाली सांख्यकारिका कौन-सी है?
2. सत्कार्यवाद को मानने पर कितने कारण कारिकाकार बताएँ हैं?

   (क) तीन (ख) चार (ग) पाँच (घ) षट्
3. शक्ति के शक्यकरण में यहां पर कौन-सी शक्ति है?
4. "नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्" इस सांख्य सूत्र से किसका बोध होता है?
5. "उपादानग्रहणात्" यहाँ पर उपादान ग्रहण से क्या तात्पर्य है?
6. "असत्त्वे नास्ति सम्बन्ध:" .... इस श्लोक पूरा कीजीए।

1.5.4) शक्तस्य शक्यकरणात्

कारण सम्बद्ध ही कार्य सम्बन्ध के रूप में कारण के द्वारा उत्पन्न होता है। न की असम्बद्ध असम्बद्ध से। यहाँ पर अन्यथा है अथवा अनवस्था है इस प्रकार से नहीं सहने वाले तार्किक लोग शङ्का करते हैं- कार्य के असम्बद्ध होने पर भी सत् कारण वही कार्य करता है जिस कार्य में जो कारण शक्ति होती है वह उस कारण को तथा उस कार्य को जन्म देती है, न की सभी को। उससे "मिट्टी से ही

ध्यान दें:

घड़ा बनता है" कनक से ही कटक है। यह व्यवस्था असत् कार्यवाद में भी संघटित होती है। मिट्टी आदि का घटादि के उत्पादन में शक्तित्व होने से। उससे कार्य कारण के सम्बन्ध में कल्पना का कुछ प्रयोजन नहीं है। कार्य उत्पन्न करने वाली शक्ति ही कारण कहलाती है, इस कारण से शक्ति ही कार्य निष्ठा होती है। उसे कैसे समझा जाए? तब कहते हैं कार्य दर्शनात् कार्य के दर्शन से "मिट्टी से ही घड़ा बनता है तथा कनक से कटक बनता है" इस प्रतिनियत कार्योत्पत्ति के अन्यथा अनुपपत्ति ज्ञान से। जैसे अनुमान करते हैं "अग्नि में जलाने के अनुकूल शक्ति रहती है" दाह रूप कार्य को जन्म देनें के कारण, जो उसमें नहीं वह नहीं है। वहाँ कार्य नियामक कोई अतिशय विशेष होता है, वह सामर्थ्य विशेष ही शक्ति कहलाता है। उस के द्वारा शक्तिमान का ही कारण का कार्यजनकत्व समझने से सभी से सभी की उत्पत्ति वाली अव्यवस्था साथ में नहीं चलती है। इसलिए तो कहा गया है सत्कार्यवाद को समझने का चतुर्थ हेतु शक्तस्यशक्यकरणात् है।

कार्य जनन शक्ति के मत में कारण में विद्यमान वह शक्ति क्या सभी कार्यों के विषय में है (अर्थात् सभी कार्यों के उत्पादन में समर्थ है) क्या वह शक्यकार्यविषय है (जो जिस कार्य को उत्पन्न करने में सक्षम है उस कार्य की विषय है)। यदि सर्वकार्य विषय इस प्रथम पक्ष को स्वीकार करते है तो " सभी सबसे उत्पन्न हो जाएँ" इस प्रकार की अव्यवस्था हो जाएगी। उसके द्वारा ही कनक में सर्व कार्य विषय शक्ति है आ जाए, तो फिर उससे घटादि की भी उत्पत्ति होनी चाहिए " मिट्टी से घट तथा कनक से कटक" तो फिर इस व्यवस्था की तो अनुपत्ति हो जाए। शक्यकार्यविषय शक्ति यदि यह द्वितीय पक्ष स्वीकार करते है तो अविद्यमान शक्यकार्य में उस विषय की शक्ति है ऐसा कैसे भी नहीं कह सकते, इस प्रकार से यहाँ दोष उत्पन्न होगा। यहाँ पर कहते हैं की यदि उस शक्ति शक्य कार्य विषय इस प्रकार से स्वीकार करते है तो तब कारण व्यापार से पहले होना चाहिए तब तो कारण में वह शक्य कार्य विषय शक्ति है ही नहीं। अर्थात् विद्यमान कारण में अविद्यमान शक्यकार्यविषय शक्ति यदि कुछ रहने के योग्य है तो वह विषय विषयी भाव सम्बन्ध से ही सम्भव है। कारण के विद्यमानत्व से तथा शक्यकार्य के अविद्यमानत्व से उन दोनो में कैसे भी विषयविषयी भाव घटित नहीं होता है।

निश्चत प्रकार से 'वह शक्ति सर्वत्र है' ऐसा स्वीकार किया जाता है परन्तु सभी से सभी कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। वह तो कार्य में होने वाली अलग ही शक्ति विशेष होती है। जिस शक्ति भेद से कारण कुछ ही कार्य को जन्म दे सकता है न की सभी को जैसे "मिट्टी से घट् तथा तन्तु से पट "। इस प्रकार की व्यवस्था यदि असत् कार्यवाद में भी घटित होती है तो वहाँ पर भी कोई दोष नहीं होता है, तो ऐसा नहीं है। कारण निष्ठ वह शक्ति भेद कार्य से सम्बद्ध होता है, तो फिर यह सम्भव नहीं होता की अविद्यमान कारण से साथ विद्यमान कारण निष्ठ शक्ति विशेष सम्बन्ध है यह नहीं कहा जा सकता। न ही विद्यमान कारण निष्ठ शक्ति भेद सम्बन्ध अविद्यामान कारण के साथ कहा जा सकता है। यहां पर सत् तथा असत् की अनुपत्ति होती है। यदि उस शक्ति भेद को कार्य से असम्बद्ध मान भी लिया जाए तो उससे ''सर्वं सर्वस्मात् सम्भवेत्" यह पहले कही गयी अव्यवस्था हो जाएगी अतः कारण में कार्योत्पादिका शक्ति होती है और वह शक्ति किसी सत् कार्य से सम्बद्ध है ऐसा अङ्गीकार करना चाहिए। इसलिए कहा गया है 'शक्तस्य शक्यकरणात्'। कारण में तदात्मना वर्तमान कार्य की अनभिव्यक्त अवस्थारूप अनागतावस्था ही कार्यनियामक शक्ति है। उसके द्वारा सम्बन्ध कार्य ही होने में समर्थ है। अनागत अवस्थात्व कारण में कार्य के सत्व होने से कार्य असत् नहीं हो सकता। इसलिए भगवत्पाद शंकराचार्य ने कहा है "शक्तिश्च कारणस्य कार्यनियमार्था कल्प्यमाना नान्या, असती वा कार्यं नियच्छेत्, असत्त्वाविशेषात् अन्यत्त्वाविशेषाच्च। तस्मात् कारणस्यात्मभूता शक्तिः, शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्" इति।

1.5.5) कारणभाव

सत्कार्यवाद को समझने में पाँचवा हेतु है कारणभाव। कार्य तथा कारण में तादात्म्य होने पर भी इस हेतु से सत्कार्यवाद की प्रतिष्ठा होती है। कारणभावात् इसका अर्थ है कार्य का कारणात्मकत्व भाव। क्योंकि कारण से भिन्न कार्य नहीं है इसलिए कारण के सत् होने से उससे भिन्न कार्य कैसे भी असत् नहीं हो सकता है। इसलिए अनुमान किया जाता है कि कारण से अभिन्न होने के कारण तथा कारण स्वरूपवत् होने के कारण घट हमेशा सत् ही होता है। कार्य तथा कारण के भेद साधन में बहुत सारे प्रमाण हैं "तन्तु पट से अलग नहीं हो सकते तद्धर्मत्वात्। जो जिससे अलग हो जाता है वह उसका धर्म नहीं होता है जैसे गौर वर्ण अश्व से तथा पट तन्तुओं से। इस प्रकार यहाँ पर अर्थान्तर नहीं है। तद वस्तु विशेष होने के कारण पट ही तन्तओं का धर्म होता है। इसलिए पट तथा तन्तुओं में अभेद रहता है। कुछ तन्तु तथा पट में भेद उपादान तथा उपादेय भाव से भी सिद्ध होता है। जिससे कार्य उत्पन्न होते हैं, अथवा कार्यों को जन्म मिलता है वह उपादान कहलाता है। कार्य की अनागत अवस्था का आश्रयी भूत कारण होता है। उपादेय व्यवहार्थियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य कार्य होना चाहिए। जिन दोनों का उपादान तथा उपादेय भाव होता है उन दोनों में ही तादात्म्य सिद्ध होता है। तन्तु और पट का उपादान तथा उपादेय भाव लोक में ही सिद्ध होता है। इसलिए संसार में तन्तु उपादायों से ही पट का निर्माण लोगों के द्वारा किया जाता है। जिन दोनों में अर्थान्तरत्व भाव हो उन दोनों का उपादान तथा उपादेय भाव सिद्ध नहीं होता है। जैसै घट तथा पट का। तन्तु तथा पट में अर्थान्तरत्व नहीं है क्योंकि उन दोनों का उपादान तथा उपादेय निरन्तर साथ में ही चलता है। उससे उन दोनों का तादात्म्य सिद्ध होता है और संयोग अभाव से तथा अप्राप्ति के अभाव से तन्तु और पट का अर्थान्तरत्व भी सिद्ध नहीं होता है। वहाँ पर अप्राप्त तथा प्राप्त का संयोग होता है तथा अप्राप्ति का विभाग होता है। और संयोग के अनाश्रित्व से तथा विभाग के अनाश्रितत्व से वस्तुओं का अभेद सिद्ध होता है। तब अनुमान करते हैं- तद् विभाग अनाश्रितत्व के कारण पट तन्तुओं से अलग नहीं हो सकता। क्योंकि जो अलग होता है वहाँ विभाग देखे जाते हैं हिमाचल तथा विन्ध्याचल का। इस प्रकार से कार्य कारण में अभेद सिद्ध होने पर कारक व्यापार से उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य का सत्व सिद्ध होता है। निश्चित रूप से तन्तु पट की एकता समझना चाहिए। तब 'ये तन्तु है और यह पट है' इस प्रकार की संज्ञा भेद की अनुपपत्ति होने पर कहते हैं की अवयव विन्यास विशेष संस्थान भेद से युक्त ही संज्ञा भेद होता है इसमें कुछ असमञ्जस नहीं है।

निश्चित रूप से उत्पत्ति के विनाश से बुद्धि भेद से व्यपदेश भेद से अर्थ क्रिया भेद से व्यवस्था भेद से वस्तुओं का भेद सिद्ध होता है, इस प्रकार यहाँ पर कार्य कारण में अभेद सिद्धि नहीं कर सकते। उससे उत्पत्ति के पहले असत् ही कार्य के रूप में सिद्ध होता है। इसलिए कहा गया है- " पट तन्तुओं से अलग हो सकता है, उसके नष्ट होने से अथवा प्रतीयमान होने से" इस प्रकार उत्पत्ति बुद्धि से तथा विनाश बुद्धि से तन्तु तथा पट में भेद सिद्ध होता है। संसार में देखा भी गया है कि उत्पत्ति तथा विनाश भिन्न वस्तुओं में ही सम्भव होता है। न कि अभिन्न वस्तुओं में। इस प्रकार से बुद्धि भेद भी वस्तुओं में भेद सिद्ध करती है। इसलिए कहा गया है " ये तन्तु है तथा यह पट है " इस प्रकार का ज्ञानवैलक्ष्यण्य भी तन्तु और पट में भेद का साधक होता है। इस प्रकार से यहाँ पर व्यपदेश भेद होता है " तन्तुओं में वस्त्र है " इस प्रकार का आधार तथा आधेय भेद भी वस्तुओं में भेद साधक है। अर्थ क्रिया भेद जैसे धागों के द्वारा वस्त्र सिला जाता है तथा वस्त्र के द्वारा शरीर ढका जाता है। इस प्रकार का प्रयोजन उत्पादन भेद भी कार्य तथा कारण के भेद साधक है। इस प्रकार अर्थ क्रिया तथा व्यवस्था के भेद से विभिन्न प्रयोजन जनकत्व नियम भी भेद साधक होता है। जैसे घट के द्वारा जल ले जाया जाता है, लेकिन मिट्टी से नहीं, इस प्रकार अर्थक्रियाकारित्व से मिट्टी तथा घट में भेद सिद्ध होता है। कार्य तथ कारण मे यदि अभेद होता तो मिट्टी के पिण्ड से भी जल ले जाया जाए तथा घट से भी भित्ती सम्पादित की जाए,

ध्यान दें:

तब यहाँ पर इस प्रकार की अव्यवस्था उपलब्ध होती है। परन्तु वह उपलब्ध नहीं होती है इसलिए कार्य तथा कारण मे भेद अङ्गीकृत करना चाहिए। इस प्रकार से उत्पत्ति विनाश, बुद्धि तथा व्यपदेशार्थ क्रिया व्यवस्था के भेद हेतु तथा कार्य कारण इन दोनों में भेद साधती है। न की कार्य तथा कारण में तादात्म्य। इस प्रकार से ये हेतु वास्तविकरूप से कार्य तथा कारण में भेद साधने के योग्य नहीं हैं।

कहीं भी एक अभिन्न वस्तु में भी तत् तत् विशेष आविर्भाव तिरोभाव रूप औपाधिक भेद को लेकर इनका उत्पत्ति विनाशादि हेतुओं का अविरोध सिद्ध होता है। इसलिए किसी का विरोध नहीं है। इसलिए वाचस्पति मिश्र ने कहा है- "जैसे कछुए के अङ्ग कछुए के शरीर में प्रवेश करके छिप जाते हैं, अन्दर भी चले जाते हैं तथा उत्पन्न भी हो जाते है, वे अङ्ग कछुए से उत्पन्न नहीं होते हैं और न कछुए के द्वारा उनका नाश होता है। इस प्रकार एक मिट्टी तथा सुवर्ण से घट मुकुटादि विशेष उत्पन्न होते हैं तथा विनष्ट होते हैं। इस प्रकार से फिर असत् की उत्पत्ति तथा सत् का निरोध नहीं है। इसलिए भगवान् कृष्णद्वैपायन ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है।

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः" इस प्रकार से।

असत् का नरविषादादि के जैसे अविद्यामान का सत्व भाव नहीं होता है। तथा सत् का विद्यमान अर्थ का अभाव असत्व भी सम्भव नहीं है। इस प्रकार से श्लोक का अर्थ किया जा रहा है।

मिट्टी सुवर्णादि जब आविर्भावरूप में विकाशशाली होती है तब "घटादी उत्पन्न होते हैं" इस प्रकार से व्यवहार होता है तथा जब मिट्टी आदि कार्य के अतीतावस्थारूपसंकोचशाली भाव होता है तब "घटादि प्रध्वस्त" होते हैं इस प्रकार का व्यहार करना चाहिए। इस प्रकार से संस्था भेद से एक में भी उत्पत्ति तथा विनाश के उपपन्नत्व से घटादियों की उत्पत्ति तथा विनाश से मिट्टी आदि से भिन्नता की शङ्का नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार से बुद्धि भेद भी भेद साधक नहीं होता है। उसी प्रकार पट अनागतावस्थाओं में तन्तुओं में " ये तन्तु है " इस प्रकार से ज्ञात होते हैं। पट की भी वर्तमानावस्थाओं में " यह पट है" इस प्रकार से एक में भी विलक्षण बुद्धि उत्पन्न होती है। "तन्तुषु पटः" यहाँ पर आधार तथा आधेय रूप अलग रूप होने पर भी भेद के साधक नहीं हैं। जैसे "इस वन में तिलक (वृक्ष) रहते है" इस प्रकार का व्यवहार सिद्ध होता है वैसे ही "तन्तुओं में पट है" यह भी जानना चाहिए। तिलक से तात्पर्य है वृक्षों के समुदाय, इस प्रकार वृक्ष तथा वन का अभेद होने पर भी जैसे आधार और आधेय का व्यवहार होता है उसी प्रकार तन्तु तथा पट में भी अभेद होने से आधार तथा आधेय व्यवहार उत्पन्न होता है, इस प्रकार का व्यपदेश भेद भी भेदसाधक नहीं होता है। अर्थ क्रिया भेद भी भेद साधक नहीं होते हैं। अग्नि आदि में व्यभिचार के दर्शन से। जैसे एक ही आग दाहक पाचक तथा प्रकाशक होने के कारण से " जहाँ जहाँ विभिन्न कार्य कारित्व होगा वहाँ पर वस्तु भेद होगा तथा व्याप्ति फलित नहीं होगी। इस प्रकार अर्थ क्रिया तथा व्यवस्था भी वस्तु भेद में हेतु नहीं है। अतः जैसे प्रत्येक नौकर मार्ग दर्शन लक्षणों से अर्थ क्रिया को करते हैं न कि डोली का वहन, मिलकर ही डोली का वहन करते हैं। इसी प्रकार तन्तु भी प्रत्येक वस्त्र को बनाते हुए, वस्त्र रूप में आविर्भूत होकर शरीरादि को आच्छादित करते हैं। यह ही उत्पत्ति विनाश-बुद्धि व्यपदेश-अर्थ- क्रिया तथा व्यवस्था भेद होता है। इस प्रकार से उपरोक्त हेतु कार्य तथा कारण मे भेद सिद्ध नहीं कर सकते यह सिद्ध किया गया है। उनसे तो कार्य तथा कारण में तादात्म्य ही सिद्ध होता है। उत्पत्ति से पहले कार्य का सत्व धर्म था इस प्रकार से सत्कार्यवाद को समझने के लिए कारिकाकार द्वारा उल्लिखित पाँच हेतुओं का सविस्तार वर्णन पूरा हुआ।

1.6) शून्यवाद खण्डन

इस प्रकार से सत्कार्यवाद को सयुक्ति साधने पर बौद्धों के मत को असत् से सत् उत्पन्न होने से

ध्यान दें:

समीचीन नहीं मानते हैं। जिस प्रकार वन्ध्यापुत्र की उत्पत्ति दिखाई देती हैं तथा न वन्ध्यापुत्रा से किसी की उत्पत्ति सम्भव होती है। इसी प्रकार खरगोश के सींग भी दृष्टि पथ में अवतरित नहीं होते हैं। तथा बीज के नाश होने पर अङ्कुरोत्पत्ति के दर्शन से अभाव से ही भावोत्पत्ति दिखाई देती है परन्तु ऐसा नहीं है। अङ्कुरादि स्थल में भी बीजों के अवयवों में ही किसी निमित्त से क्रिया उत्पन्न होती है जिससे बीजों के अवयव पूर्व अवयव संस्थान को त्यागकर दूसरे संस्थान में चले जाते हैं। उस संस्थान अनन्त रस अङ्कुर उत्पन्न होते हैं जो बीज के अवयव कारण से उत्पन्न होते हैं यहाँ पर अभाव की सिद्धि नहीं होती है।

1.7) विवर्तवाद खण्डन

अद्वैत वेदान्ति जिस विवर्तवाद को मानते हैं तथा वह भी समीचीनता के योग्य नहीं है। क्योकि उनके मत में यथा मिथ्या जगत् शुक्ति में रजत की भ्रान्ति वत् तथा रस्सी में सर्प की भ्रान्तिवत् है, उनके मत में शुक्ति स्वरूप तथा रस्सी स्वरूप का स्वयं ही प्रकाश करती है। दृष्टान्त तो अच्छा है परन्तु यह असत्व के बाधित होने में प्रत्यक्ष सिद्ध जगत् के मिथ्यात्व कहने में असमर्थता से दृष्टान्त साथ नहीं चल रहा है। जहाँ बाध ज्ञान कोई अन्य कारण हो सकता है वहाँ ही मिथ्यात्व कह सकते हैं परन्तु प्रत्यक्ष सिद्ध जगत् कभी भी बाधित नहीं होता है इस कारण से यह मिथ्यात्व के साथ नहीं चलता है, इसलिए कपिल सूत्र में कहा गया है "जगत्सत्यत्वम् अदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात्" (6.52) इति। दुष्टकारण जन्यत्व से तात्पर्य है पीले सङ्ख का ज्ञान। बाधक अर्थात् 'यह रजत नहीं है ' इस प्रकार का ज्ञान। जगत् भी दुष्टकारणजन्यत्व नहीं होता है प्रकृति आदि के अदुष्टत्वात्। 'यह जगत् नहीं है' इस प्रत्यय के अभाव के कारण यह बाधक नहीं है। इसलिए जगत का मिथ्यात्व उपयुक्त नहीं है। श्रुतियाँ भी जगत् का मिथ्यात्व सत्य रूप से प्रतिपादित करती हैं। "जो यह कुछ भी है वह उस सत्य को दिखाता है " और " जैसे विधाता ने पूर्व में सूर्य चन्द्र तथा इस जगत् की कल्पना की थी " वेदान्त सूत्रकार बादरायण भी "परिणामात्" इत्यादि सूत्रों के द्वारा प्रपञ्च को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं न की विवर्त।

निश्चित रूप से "यहाँ पर नाना प्रकार का कुछ भी नहीं है " इत्यादि श्रुति के द्वारा जगत् के बाधित्व से अविद्या नाम का कोई दोष है ऐसा मानना चाहिए तो नहीं। "नेह नानास्ति किञ्चन" इस प्रकार की श्रुतियाँ जो अद्वैत प्रपञ्च बाधकता से अभिप्रेरित करती हैं वे वस्तुतः प्रकरणानुसार विभाग प्रतिषेध परक होती हैं। न की प्रपञ्च की अत्यन्त तुच्छ सम्पादिका होती हैं। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इस प्रकार की श्रुतियाँ तो नित्यता रूप पारमार्थिक सत्ता विरह रूप अर्थ को प्रकाशित करती है, नहीं तो मृत्तिका दृष्टान्त की असिद्धि होती है। संसार मृत्तिका आदि के विकारों का अत्यन्ततुच्छत्व सिद्ध नहीं करता है जिससे ये दृष्टान्त सिद्ध हो जाए। इस प्रकार से विवर्तवाद सही नहीं है अपितु सत्कार्यवाद ही सही है।

आपने क्या सीखा

- सत्कार्यवाद का विस्तृत परिचय,
- सत्यकार्यवाद की सिद्धि के लिए सांख्याचार्यों की उक्ति को जाना,
- सत्यकार्यवाद के संबंध में शून्यवाद को जाना,
- सत्यकार्यवाद से असद्कार्यवाद को जाना,

- सत्यकार्यवाद के संबंध में विवृतवाद को जाना,
- शून्यवाद के विषय के खंडन को जाना,
- विवर्तवाद के खण्डन को जाना

पाठान्त प्रश्न

1. असत्कार्यवाद का संक्षेप में परिचय दीजिए।
2. शून्यवाद का संक्षेप में परिचय दीजिए।
3. विवर्तवाद का समास विधि से परिचय दीजिए।
4. सत्कार्यवाद का समास विधि से परिचय दीजिए।
5. सत्कार्यवाद को मानने के कौन-कौन से कारण हैं। उनमें दो का विस्तार पूर्वक आलोचन कीजिए।
6. सत्कार्यवाद को मानने में कारणभावात् हेतु को विस्तार से प्रतिपादित कीजिए ।
7. सत्कार्यवाद की दिशा में शून्यवाद का खण्डन समास विधि से लिखिए।
8. विवर्तवाद शास्त्र सम्मत क्यों नहीं है। इसमे सांख्यदर्शन की दिशा का विचार कीजिए ।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.1

1. (ग) नैयायिकों का
2. (ख) सांख्यों का
3. (घ) अद्वैतवेदान्तियों का
4. (क) बौद्धों का
5. (ग) विवर्त
6. सत्व से जो अलग प्रकार का होता है वहा विकार कहलाता है
7. पूर्वरूप का परित्याग करने से जो नाना प्रकार के असत्यकारणों का प्रतिभास होता है वह विवर्त है। जैसे सीपी में चाँदी का तथा रस्सी में सर्प का।
8. अव्यक्तरूप से।

पाठगत प्रश्न 2.1

1. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्।। इति।
2. (ग) पाँच

3. कारण में तदात्मना वर्तमान कार्य की अव्याकृत अवस्था रूप अनागतगावस्था ही कार्य की नियामक शक्ति है।

4. मनुष्यों में सींग की तरह असत् है, अर्थात मनुष्यों में सींग की उत्पत्ति नहीं होती है, इस प्रकार से जानना चाहिए।

5. उपादान कारणों का ग्रहण का कार्य के साथ सम्बन्ध उपादान ग्रहण कहलाता है।

6. असत्त्वे नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः। असम्बद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः।। इति।

ध्यान दें:

5

वेदान्त में प्रमाण

प्रत्यक्ष खण्ड में प्रमा

भारत में आस्तिक तथा नास्तिक भेद से दर्शनों के विभाग किये गये हैं। आस्तिक दर्शनों में वेदान्त दर्शन अन्यतम है। वेदान्त मत में छः आस्तिक प्रमाण होते हैं। इस पाठ में दर्शन, दर्शन प्रयोजन, दर्शन भेद तथा दर्शन भेद से प्रमाण भेद, इत्यादि के विषय में समास विधि से दिये गये हैं। लेकिन वेदान्त दर्शन में अद्वैतवेदान्त विशिष्टाद्वैत वेदान्त, द्वैत वेदान्त इत्यादि विभाग दिये गये हैं। फिर भी वेदान्त दर्शन इस प्रकार कहने पर अद्वैत वेदान्त को ही यहाँ पर मानकर अद्वैत वेदान्त के मत में जो प्रमाण है उनका यहाँ पर वर्णन किया जा रहा है। इसलिए ये प्रमाण अद्वैत वेदान्त दर्शन सम्मत हैं ऐसा मानना चाहिए।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे;

- दर्शन क्या है इस विषय में ज्ञान प्राप्ति में;
- दर्शनों के भेदों को जानने में;
- दर्शन के प्रयोजनों की समझ विकसित करने में;
- पुरुषार्थों को जानकर अपना जीवन व्यतीत करने लिए ज्ञान प्राप्त करने में;
- प्रमाणों के पदार्थों को जानकर प्रमाण की महिमा को समझ सकेंगे;
- अद्वैत वेदान्त के मत में प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है यह जान पाने में;

2.1) दर्शन

दृशिर प्रेक्षणे इस धातु से ल्युट् प्रत्यय के योग से दर्शन शब्द निष्पादित होता है। देखना इसका तात्पर्य केवल आँखों के द्वारा देखना ही नहीं हैं अपितु सामान्य ज्ञान करना है। अर्थात् जिस भी ज्ञान का बोध बुद्धि प्रमाण प्रमित इन सभी से होता है वह देखना कहलाता है।

धातु का अर्थ फल तथा व्यापार दोनों ही होता है। दृश् धातु का अर्थ है ज्ञानरूपी फल तथा तदनुकूल व्यापार, वह व्यापार फलानुकूल हो अर्थात् फलजनक हो। यहाँ पर अनुकूलत्व ही जनकत्व होता

ध्यान दें:

है। अतः फल का व्यापार में अनुकूलत्व सम्बन्ध से ही अन्वय करना चाहिए।

कृत्यलुटो बहुलम् इस सूत्र से ल्युट् प्रत्यय बाहुल अर्थ में होता है। जिससे दर्शन शब्द के विभिन्न अर्थ संभव होते हैं। इस प्रकार से दर्शन की ये व्युत्पत्तियाँ होती हैं।

जिसके द्वारा देखा जाए दर्शन शब्द करण अर्थ में व्युत्पन्न होता है। तब ज्ञानानुकूल व्यापार करण होता है इस प्रकार का अर्थ भी प्राप्त होता है। ज्ञान जनक व्यापार का करण शास्त्र होता है ज्ञान के करण सुप्रसिद्ध प्रमाण भी होते हैं। इसलिए दर्शन तो शास्त्र प्रमाण को मानते हैं।

देखता है इस प्रकार कर्तार्थक व्युत्पन्न दर्शन शब्द होता है। अर्थात् कर्ता अर्थ में ल्युट् प्रत्यय हुआ है। तब ज्ञानानुकूलव्यापारवान दर्शन इस प्रकार का अर्थ प्राप्त होता है, ज्ञानजनक व्यापार का आश्रय तु ज्ञाता अर्थात् प्रमाता है।

जो देखा जाए वह दर्शन है इस प्रकार कर्म अर्थ में भी यह शब्द व्युत्पन्न होता है। तब ज्ञानानुकूलव्यापारजन्य ज्ञान का विषय दर्शन होता है। ज्ञान का विषय प्रमेय भी होता है।

जिससे देखा वह दर्शन है यहाँ पर भाव व्युत्पन्न दर्शन शब्द है। ज्ञानानुकूल व्यापारजन्य ज्ञान इस प्रकार का अर्थ प्राप्त होता है। यह ज्ञान प्रमा ही है।

इस प्रकार से दर्शन शब्द की चार प्रकार से व्युत्पत्ति संभव होती है। इस प्रकार से दर्शन शब्द का प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय तथा प्रमा ये चार अर्थ होते हैं।

जब भारतीय दर्शन में नास्तिक दर्शन तथा आस्तिक दर्शन इस शब्द का प्रयोग होता है तब दर्शन पढ़ता हूँ अथवा दर्शन पढ़ाता हूँ इत्यादि में भी तब दर्शन शब्द का अर्थ प्रमाण अथवा शास्त्र ही होता है।

शास्त्रम्-

शास्त्र क्या है? तब कहते है शासु अनुशिष्टौ इस धातु से करण अर्थ में ष्ट्रन प्रत्यय के संयोग से शास्त्रशब्द व्युत्पन्न होता है। विधि तथा निषेध के भेद से अनुशासन दो प्रकार का होता है। इसलिए उक्ति प्रसिद्ध है-

प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमभिधीयते॥

मनुष्य की नित्य की प्रवृत्ति के लिए जो उपदेश देते है तथा अनित्य निवृति के उपदेश देते हैं वह शास्त्र कहलाते हैं।

2.2) दर्शन

भारत में आस्तिक तथा नास्तिक भेद से दर्शनों के दो प्रकार के विभाग किये गये हैं। आस्तिकत्व क्या है? तथा नास्तिकत्व क्या है? इस प्रकार कहने पर कहते हैं कि जो वेद के प्रमाण को अङ्गीकृत करते हैं वे दर्शन आस्तिक दर्शन कहलाते हैं तथा जो वेद के प्रमाण को नहीं मानते हैं वे नास्तिक दर्शन कहलाते हैं। अर्थात वेद प्रतिपाद्य को स्वीकार करते हैं उसका समर्थन करते हैं तथा विधान करते हैं वे आस्तिक दर्शन हैं, और जो वेद प्रतिपाद्य का विरोध करते हैं वे नास्तिक दर्शन होते हैं। मनु मुनि के अनुसार नास्तिक वेद निन्दक होते हैं।

नास्तिक दर्शन तीन प्रकार के होते है तथा आस्तिक दर्शन छः प्रकार के होते हैं।

नास्तिक दर्शन- 1) चार्वाकदर्शनम् 2) जैनदर्शनम् 3) बौद्धदर्शनम्। बौद्धदर्शन के भी चार भेद हैं जो क्रम से इस प्रकार है 1) माध्यमिकदर्शनम् 2) योगाचारदर्शनम् 3) सौत्रान्तिकदर्शनम् 4) वैभाषिकदर्शनम् इति। इस प्रकार सभी को मिलाकर नास्तिक दर्शन छः प्रकार के होते हैं।

छः आस्तिक दर्शन इस प्रकार से है - 1) न्यायदर्शनम् 2) वैशेषिकदर्शनम् 3) सांख्यदर्शनम् 4) योगदर्शनम् 5) पूर्वमीमांसादर्शनम् 6) उत्तरमीमांसादर्शनम् इति। यहाँ पर उत्तर मीमांसा दर्शन से वेदान्तदर्शन को समझना चाहिए।

2.3) प्रमाण

कौन-से दर्शन कितने प्रमाणों को स्वीकार करते हैं, तो संक्षेप में कहते हैं। इसके लिए कारिका है प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणाद-सुगतौ पुनः। (आर्हताः प्रत्यक्षमनुमानं चेति)

अनुमानं च तच्चापि साङ्ख्याः शब्दं च ते उभे।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केचन।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याह प्रभाकरः॥ (माध्वाः प्रत्यक्षं शब्दश्चेति)
अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः॥

सरलार्थ चार्वाक केवल प्रत्यक्ष इस एक प्रमाण को ही मानते हैं, कणाद वैशेषिक बौद्ध शाक्य आर्हत तथा जैन प्रत्यक्ष तथा अनुमान इन दोनों प्रमाणों को मानते हैं। सांख्य तथा नैयायिक प्रत्यक्ष और अनुमान तथा शब्द इन तीनों प्रमाणों को मानते है। कुछ नैयायिक तो उपमान को भी मानते हैं। इस प्रकार से नैयायिक चार प्रमाण को स्वीकार करते हैं इस प्रकार की प्रसिद्धि है। मीमांसक एकदेशि प्रभाकर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति इस प्रकार से पाँच प्रमाणों को स्वीकार करते हैं। भट्ट मीमांसक तथा वेदान्ति प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इस प्रकार से छः प्रमाणों को मानते हैं और पौराणिक तो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव, ऐतिह्य इस प्रकार से आठ प्रमाणों को स्वीकार करते है।

पाठगत प्रश्न 1.1

1. दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति को लिखिए?
2. बौद्धमत में यह प्रमाण नहीं है?

   (1) अनुमानम् (2) प्रत्यक्षम् (3) शब्दः

   (4) इनमें से कोई भी नहीं।
3. शब्द प्रमाण को ये नहीं मानते हैं?

   (1) पौराणिक (2) वेदान्ति (3) भाट्ट (4) बौद्ध
4. अनुमान प्रमाण को ये नहीं मानते हैं?

   (1) चार्वाक (2) वेदान्ति (3) भाट्ट (4) बौद्ध

ध्यान दें:

5. अर्थापत्ति प्रमाण को ये नहीं मानते हैं?

(1) पौराणिक (2) वेदान्ति (3) भाट्ट (4) नैयायिक

6. प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये दो ही प्रमाण हैं ऐसा कौन नहीं कहते हैं?

(1) चार्वाक (2) वैशेषिक (3) आर्हत (4) नैयायिक

7. स्तम्भ में स्थितों को परस्पर मिलाइये।

(क) - स्तम्भः	**(ख) - स्तम्भः**
(1) प्रमाणम्	(क) दृश्-धातोः भावे ल्युट्
(2) प्रमाता	(ख) दृश्-धातोः कर्मणि ल्युट्
(3) प्रमेय	(ग) दृश्-धातोः करणे ल्युट्
(4) प्रमा	(घ) दृश्-धातोः कर्तरि ल्युट्
(5) आस्तिकदर्शनम्	(ङ) वेदस्य प्रामाण्यं नाभिमतम्
(6) नास्तिकदर्शनम्	(च) वेदस्य प्रामाण्यम् अभिमतम्

2.4) पुरुषार्थ

सभी प्राणी इष्ट की प्राप्ति की इच्छा करते हैं तथा अनिष्ट को दूर करने की इच्छा करते हैं। इष्ट क्या है तथा अनिष्ट क्या है? सुख इष्ट है तथा दु:ख अनिष्ट है। सुख का उपाय इष्ट है तथा दु:ख का उपाय अनिष्ट है।

सभी प्राणी सुख को प्राप्त करने के लिए तथा दु:ख को दूर करने के लिए प्रयास करते हैं। सुख दो प्रकार का होता है नित्य तथा अनित्य। नित्य सुख आत्मसुख होता है वह जन्य नहीं होता है। वह सुख किसी कारण से उत्पन्न नहीं होता है इसलिए वह सुख तो आत्मस्वभाव ही होता है। अनित्य सुख जन्यसुख होता है उसका कोई कारण होता है। अनित्यसुख का कारण ही धर्म होता है। धर्म के विना सुख नहीं होता है। और धर्म भी जन्य होता है। वेद विहित यागादि धर्म कहलाते हैं। उस याग से उत्पन्न पुण्यादि अदृष्ट विशेष कोई धर्म ही होता है। धर्म अन्तः करण में विद्यमान कोई गुण विशेष होता है। अथवा स्वर्गादि ही धर्म कहे जाते हैं।

दु:ख का कोई कारण तो होना ही चाहिए। सुख तथा दु:ख कारण के विना उत्पन्न नहीं होते हैं सुख का कारण है कि जिससे असन्दिग्ध ज्ञान की आवश्यकता होती है। उससे जो सुख इष्ट हो उस का जो साधन हो उसमें निष्ठा होनी चाहिए। कुछ सुख के कितने भेद होते है। वह भी जानना चाहिए। ऐसे 'इदं मदिष्टसाधनम् इस ज्ञान से प्रवृत्ति के प्रति कारण होता है।

जिससे अर्थ किया जाए वह अर्थ कहलाता है। पुरुष का अर्थ ही पुरुषार्थ कहलाता है। अथवा पुरुष के द्वारा जो प्राप्त किया जाए वह पुरुषार्थ कहलाता है। अर्थात् पुरुष नर हो या नारी जो कुछ भी जो भी चाहता है अथवा इच्छा करता है वह पुरुषार्थ कहलाता है।

पुरुष सुख के लिए ही प्रयास करता है। इसलिए सुख ही सभी साधारण प्राणियों का पुरुषार्थ कहलाता है। सुख के भी प्रकार होते हैं। इसलिए पुरुषार्थ के भी प्रकार भी होते हैं। नित्य सुख ही मोक्ष

ध्यान दें:

कहलाता है। अनित्य सुख ही काम कहलाता है। काम का कारण ही धर्म कहलाता है। तथा धर्म का साधन ही अर्थ कहलाता है। अर्थ ही धर्म की सामग्री धनादि होते हैं। इस प्रकार से धर्म, अर्थ, काम मोक्ष, चार पुरुषार्थ वैदिक संस्कृति में प्रसिद्ध हैं। उनमें काम तथा मोक्ष मुख्य है। काम का साक्षात् कारण धर्म होता है। धर्म का प्रयोजक अर्थ है। कामलाभ के लिए ही धर्म अर्थ की सेवा की जाती है और किसी प्रकार से नहीं। इसलिए धर्म तथा अर्थ गोण हो जाते है। मुख्य काम मोक्ष में भी मोक्ष नित्य है। इसलिए मोक्ष ही परमपुरुषार्थ है। अर्थ अनित्य है यह प्रत्यक्ष से जाना जाता है। इन्द्रियों से प्राप्त होने वाला सुख क्षणिक है वह भी अनित्य ही है ऐसा अनुभव के द्वारा सिद्ध है। अनित्य सुख का कारण धर्म भी अनित्य ही है। कारण के सत्व होने से कार्य का अभाव नहीं होता है।

वेदान्त में श्रुति तथा तदनुकूल युक्ति और अनुभव ये तीनों सदा प्रमाण के द्वारा सिद्ध होते हैं।

कामादि की अनित्यता में श्रुति प्रमाण होती है। वह इस प्रकार से है - एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।

(अर्थ- इस संसार में धर्म तथा अधर्म कर्म के द्वारा निर्मित देखे जाते हैं तथा घट आदि भी नष्ट होते हैं उसी प्रकार लोकान्तर में भी पुण्यनिर्मित लोक स्वर्गादि भी नष्ट होते है।)

इसलिए स्मृतियों मे कहा जाता है- **ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।** (गीता 9.21)।

(अर्थ- जो लोग पुण्यों को प्राप्त करके स्वर्ग जाते हैं वे उस विशाल विस्तीर्ण स्वर्गलोक का भोग करके जब उनके वह भोग जनक पुण्य क्षीण होते हैं तब पुनः वे मर्त्य लोक में जन्म ग्रहण करते हैं।)

यहाँ इस गीता की उक्ति ने यह स्प्ष्ट किया है कि पुण्य क्षीण होते हैं। अर्थात् धर्म पुण्य अनित्य है। इसलिए उससे उत्पन्न सुख तथा काम भी अनित्य ही है।

एक युक्ति कही जाती है जो किया जाए वह नित्य है यह नियम दृष्ट तथा अनुमान दोनों से ही सिद्ध है। धर्म कर्मजन्य होता है इसलिए अनित्य है। काम धर्मजन्य होता है इसलिए वह भी अनित्य है। हमें धर्म ज्ञात कैसे होता है यह जैमिनी मुनि द्वारा प्रणीत धर्ममिमांसा शास्त्र में विस्तार पूर्वक बताया गया है। जिसमें सर्वप्रथम सूत्र है अथातो धर्म जिज्ञासा।

इस प्रकार से यह सिद्ध होता है की मोक्ष परमपुरुषार्थ है जो नित्य भी है। मोक्ष ब्रह्मज्ञान से ही होता है ऐसा अद्वैतवेदान्त का सिद्धान्त है। इसलिए ब्रह्म क्या है? तथा उसका ज्ञान क्या है? तथा उसके लाभ के प्रमाण क्या है? इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसकी निवृत्ति के लिए अद्वैतवेदान्त मतानुकूल प्रमाणों का निरूपण करता है। ये प्रमाण ही इस पाठ का विषय है।

पाठगत प्रश्न 2.1

1. सभी प्राणी क्या चाहते हैं?
2. सभी प्राणी क्या नहीं चाहते हैं?
3. सुख कितने प्रकार का होता है? और वह क्या है?
4. क्या सुख नित्य होता है?

ध्यान दें:

5. क्या सुख अनित्य होता है?
6. अनित्य सुख का कारण क्या है?
7. दु:ख का कारण क्या है?
8. प्रवृत्ति के प्रति ज्ञान का कौन-सा कारण होता है?
9. पुरुषार्थ पद की व्युत्पत्ति क्या है?
10. पुरुषार्थ कितने होते है? तथा कौन-कौन से है?
11. गौण तथा मुख्य भेद से पुरुषार्थों को लिखिए।
12. मोक्ष परमपुरुषार्थ का क्या हेतु है।
13. मोक्ष किससे होता है?

2.5) ज्ञान

2.5.1) प्रस्तुति

ज्ञान के बोध, प्रमा, प्रमिति, बुद्धि, प्रतीति इस प्रकार के प्राय: समानार्थक शब्द होते हैं।

लौकिक व्यवहार में 'यह ज्ञानी है' 'वह बहुत जानता है' 'वह बुद्धिमान है' इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किये जाते हैं। 'यह अधिक जानता है' इस वाक्य में ज्ञान शब्द का जो अर्थ है व शास्त्र में अभिप्रेत नहीं है। शास्त्र में भले ही बहुत ज्ञान के लक्षण किये हैं फिर भी सामान्य रूप से ज्ञान क्या है यह जानना चाहिए। प्रमाणादि विषयों को पढ़ने के लिए तथा उनके ज्ञान के लिए बहुत से परिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं। उनके विषय में स्पष्ट ज्ञान अपेक्षित होता है। अत: अब इसके बाद में उन सब को प्रस्तुत करते है।

2.5.2) ज्ञान

सबसे पहले ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है इस प्रकिया को प्रदर्शित करते हैं।

मेरे सामने घट है। दोनों आँखो से घट को देख रहा हूँ। तब तक अन्यत्र स्थित पट को नहीं देख रहा हूँ। जब अन्यत्र स्थित पट को देखता हूँ तब पूर्व में स्थित घट को अथवा अन्यत्र स्थित घट को नहीं देखता हूँ। इस प्रकार एक पदार्थ का जब ज्ञान होता है तब अन्य पदार्थ का उस क्षण में भान नहीं होता है। पट देखने के बाद फिर से जब उसी घट को देखता हूँ तो उत्तर क्षण में घट का ज्ञान होने योग्य होता है। लेकिन एककाल में इन्द्रिय का जिस पदार्थ के द्वारा सम्बन्ध होता है उसका ही भान होता है, न की अन्य का। उस क्षण में उत्पन्न भान ही बोध तथा ज्ञान कहलाता है। जब घट देखता हूँ तब घट ज्ञान अर्थात् घटविषयक ज्ञान होता है। तब पटज्ञान नहीं होता है। जब पट को देखता तब पट विषयक ज्ञान होता है। लेकिन तब घट का ज्ञान नहीं होता है भले ही पूर्व के क्षण में घट का ज्ञान था और वर्तमान क्षण में पट का ज्ञान है पर घट का ज्ञान नहीं है, वर्तमान क्षण में जो भान होता है वही ज्ञान कहलाता है। पूर्वक्षण में एक ज्ञान उत्पन्न हुआ तथा दूसरे क्षण में अर्थात वर्तमान क्षण में द्वितीय ज्ञान उत्पन्न हुआ। परन्तु पूर्व क्षण का ज्ञान वर्तमान क्षण में भी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। इसलिए घट दर्शन के बाद जब पट देखता हूँ तब घट तथा पट दोनों का ज्ञान हो तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। निश्चित रूप से यदि बहुत क्षण तक एक ही विषय को देखता हूँ। यदि घट को ही निरन्तर कुछ काल तक देखता हूँ तब उस कालांश

ध्यान दें:

में सभी क्षणों में विद्यमान ज्ञान एक ही कहलाता है। एक ही ज्ञान निरन्तर होता है। अर्थात् प्रतिक्षण भिन्न-भिन्न विषयों का ज्ञान होता है तो प्रतिक्षण का ज्ञान भिन्न ही कहलाता है। पूर्व क्षण में उत्पन्न ज्ञान को वर्तमान क्षण में भी ज्ञान रूप से ग्रहण करते हैं। जैसे एक पुस्तक पढ़ी उसके बाद दूसरी पुस्तक को पढ़ते हैं अथवा घट को देखते हैं। तब प्रथम पुस्तक का ज्ञान उसको है इसे शास्त्रीय शैली में तो नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि वर्तमान क्षण में तो उसको उसके अन्दर वर्तमान ज्ञान ही रहता है।

2.5.3) अनुभव संस्कार और संस्कृति

ज्ञान का जो विषय है वह अर्थ, पदार्थ, ज्ञेय, ज्ञातव्य तथा प्रमेय कहलाता है। जब विषय का ज्ञान होता है तब कुछ अपेक्षाबुद्धि भी होती है। कभी कभी उपेक्षा बुद्धि भी होती है। जैसे नगरादि में जाते समय बहुत लोगों को, घरों को, वृक्षादि को देखते हैं। परन्तु उन सभी का वास्तविक रूप से दर्शन हो ऐसा हमारा मनोभान नहीं होता है। अर्थात् उनका दर्शन हो चाहे नहीं हो इसमें हमारा मनोभाव उदासीन रहता है। अर्थात् दर्शन की उपेक्षा रहती है परन्तु जब किसी भवन किला दृश्य आदि को देखने के लिए जाते हैं तब वह अवधान आवश्यक होता है। और आते समय कहते भी हैं मैंने दुर्ग देखा है। किले में राजा का महल दृष्टवान्,मन्दिर देखा है। मन्दिर बहुत ही प्राचीन था इत्यादि। परन्तु मार्ग में जिन लोगों को वृक्षों को देखा था उनका वापस आते समय स्मरण नहीं होता है। वापस आते समय जब स्मरण होता हैं तब न तो वह दुर्ग रहता है और न मन्दिर रहता है फिर भी तद्विषय स्मरण होता है। हम वहाँ देखे हुए बहुत सारे दृश्यों का वर्णन करते हैं। तो पूर्व में देखे गये का कोई चिह्न अथवा कोई संस्कार अन्तः करण में उत्पन्न होता है। वह चिह्न अथवा संस्कार ही वापस आते समय स्मृति में कारण बनता है। जब दुर्ग दर्शन होता है और दुर्ग दर्शन जो जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सभी ज्ञान अनुभव कहलाता है। यह अनुभव ही अपेक्षा बुद्धि के कारण अन्तः करण में कोई चिह्न अथवा संस्कार करता है। वह संस्कार ही उत्पन्न होकर स्मृति को जन्मदेता है तथा उत्पन्न करता है। संस्कार के उद्‌बोध के लिए अथवा जागने के लिए कोई कारण तो आवश्यक होगा ही। जैसे यात्रा पूरी करके आने के बाद मेरे मित्र मुझसे पूछते हैं, क्या क्या देखा है? तब मैं मित्रों को देखी वस्तुओं का वर्णन सुनाता हूँ। अर्थात् में स्मरण कर कर के कहता हूँ। यहां मित्रों के प्रश्न करने के कारण संस्कार उत्पन्न होते है, वे संस्कार स्मृति को उत्पन्न करते है।

इस प्रकार से अपेक्षा बुद्धि के साथ किया गया अनुभव संस्कार को जन्म देता है। वह संस्कार ही उद्‌बोधवश स्मृति को जन्म देता है।

इस प्रकार ज्ञान दो प्रकार का होता है- अनुभव तथा स्मृति।

जब पहले देखे मन्दिर का मैंने अभी स्मरण किया तब यह ज्ञान स्मृति कहलाया। स्मृति से भिन्न ज्ञान ही अनुभव होता है।

जो यह जानता है वह ज्ञाता कहलता है, जिसकी प्रमा होती है वह प्रमाता कहलाता है, ज्ञाता ही प्रमाता है।

संसार में 'यह व्यक्ति ज्ञानी है' इस प्रकार से लोग कहते हैं। उसका अर्थ यह है कि यह व्यक्ति बहुत विषयों को जान लिया है। जब उसने जाना तब उस ज्ञान ने उसके अन्तः करण में संस्कार उत्पन्न किये। जब वह इच्छा करता है तब वह संस्कारों की सहायता से बहुत विषयों का स्मरण कर सकता है। इसलिए हर व्यक्ति ज्ञानी है इस प्रकार से व्यवहार होता है। लेकिन वर्तमान क्षण में (अभ्यास के बिना) वह सभी विषयों को जानता है पर शास्त्रीय शैली में बोल नहीं सकता है। इस प्रकार से यह ज्ञानी है इसका अर्थ यह हुआ की यह अनुभवजन्य संस्कारवान है।

ध्यान दें:

2.5.4) प्रमा प्रमाता प्रमेय

ज्ञान का विषय ही अर्थ, पदार्थ, ज्ञेय, ज्ञातव्य, तथा प्रमेय कहलाता है यह पहले भी कहा जा चुका है। सामान्य रूप से ऐसा कहा जाता है कि दोष रहित ज्ञान ही प्रमा होता है। उस प्रकार के ज्ञान का विषय ही प्रमा का विषय होता है। प्रमा का विषय ही प्रमेय कहलाता है। प्रमेय प्रमा जिसको होते हैं वह प्रमाता कहलाता है वह प्रमाता ही ज्ञाता कहलाता है। जो-जो प्रमा के विषय होते हैं अर्थात् प्रमेय होते हैं, उनका कुछ न कुछ नाम अवश्य होता है। वह नाम ही अभिधेय कहलाता है। जिसका नाम है वह अभिधेय है और अभिधेय को ही अर्थ कहते हैं। नाम कोई पद ही होता है। अत: पद के द्वारा जो अर्थ प्रकट होता है वह ही पदार्थ कहलाता है। अर्थात् पद के द्वारा बोध्य अर्थ ही पदार्थ होता है।

अब तक लौकिक व्यवहार का सामान्य शास्त्रीय विवेचन प्रदर्शित किया गया है परन्तु वेदान्त शास्त्र में और भी भिन्न विषय है। उसका क्रम से नीचे विवरण दिया जा रहा है।

यथार्थ ज्ञान प्रमा होती है तथा अयथार्थ को अप्रमा कहते हैं अर्थात् भ्रम कहते हैं।

ज्ञान के दो प्रकार होते हैं, अनुभव तथा स्मृति। वेदान्त में स्मृति प्रमा नहीं होती है। प्रमा का भाव ही प्रमात्व कहलाता है। यह प्रमात्व स्मृति में नहीं होता है।

2.5.5) लक्षण का लक्षण

जिसका लक्षण बताया जाए वह ही लक्षण का लक्ष्य होता है। जो विषय ज्ञापनीय होता है उस विषय का कोई चिह्न अथवा लिङ्ग ज्ञापक कहलाता है। वह लिङ्ग ही लक्षण होता है। जिसका लक्ष्य होता है वह ही लक्षित तथा लक्ष्य कहलाता है। लक्षण कोई धर्म होता है। जिस धर्म में अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असम्भव ये तीन दोष नहीं होते हैं वह ही असाधारण धर्म लक्षण कहलाता है। लक्ष्य में यदि लक्षण है तो वह लक्षण समन्वय कहलाता है। लक्ष्य के एकदेश वृतित्व होने पर यदि लक्ष्य का अपरदेशवृतित्व भी हो तो वह अव्याप्ति का लक्षण होता है। जितना लक्ष्यवृतित्व में रहता है उतना ही यदि अलक्ष्यवृतित्व में हो तो वह अतिव्याप्ति का लक्षण होता है। लक्ष्यमात्रवृतित्व असम्भव का लक्षण होता है। इनका यहाँ पर उदाहरण सहित वर्णन किया जा रहा है।

अव्याप्ति:- लक्ष्य एक देश वृतित्व रहने होने पर उसी लक्ष्य का अपरदेशवृतित्व होना अव्याप्ति का लक्षण है। यदि गाय का कपिलत्व लक्षण करे तो कपिलत्व कपिल गायों में तो होता है पर श्वेत गायों में नहीं होता है। इसलिए लक्ष्यीभूत गायों में एकदेश में होने के कारण अपर देश में नहीं होने के कारण इस लक्षण का दोष अव्याप्ति दोष कहलाता है।

अतिव्याप्ति:- जितना लक्ष्य वृतित्व में होता है उतना ही यदि अलक्ष्य वृतित्व में हो तो वह अति व्याप्ति का लक्षण होता है। जिसके सींग हो वह गाय है तो सभी गायों को सींग है परन्तु अलक्ष्य भैंस आदि को भी सींग के भी सींग होते है। जितना लक्ष्य में है उतना ही गायों से भिन्न महिषादि में भी होने के कारण सींग रूपी यह लक्षण अति व्याप्ति दोष के कारण दुष्ट लक्षण कहलाता है।

असम्भव:- लक्ष्य मात्र वृतित्व असम्भव का लक्षण है। गाय के चारों पैरों में दो-दो खुर होते हैं। कुल मिलाकर के आठ खुर होते हैं एक गाय के। अब यदि गाय का यह लक्षण किया जाए कि जिसके एक पैर एक खुर हो वह गाय है,तब तो सभी गायों में किसी भी गाय के एक पैर में एक खुर नहीं मिलेगा। अत: लक्ष्यमात्र में अवर्तमान होना है यह लक्षण कहलाता है। अत: उसको भी असम्भव दोष के कारण दुष्ट ही मानना चाहिए।

स्वरूपं लक्षणं च- अपनी आत्मा का रूप ही स्वरूप होता है अर्थात् स्वात्मक पदार्थ होता है। जैसे घट स्वरूप द्रव्य है लक्षण में एक से अधिक पद हो सकते हैं। जैसे रूप रहित जो स्पर्श से युक्त हो वह वायु का स्वरूप है। वायु का लक्षण रूप रहित होने पर भी स्पर्श से युक्त होता है। सुन्दर तथा सुगन्ध युक्त पुष्प का स्वरूप होता है अर्थात् सुन्दरत्व होने पर भी जिसमें सुगन्धत्व हो वह पुष्प का लक्षण होता है। इस प्रकार स्वरूप तथा लक्षण इन दोनों के प्रकट करने में भेद को जानना चाहिए। गन्धवती पृथ्वी यह पृथ्वी का स्वरूप होता है। तथा गन्धवत्वम् यह पृथ्वी का लक्षण होता है। इस प्रकार से इनके उपस्थापन में वैचित्र्य को समझना चाहिए।

दलकृत्यम्- लक्षण में जितने पद होते है उनमें एक एक सार्थक है या नहीं इस प्रकार की परीक्षा की जाती है। तब एक एक पद को लक्षण- शरीर से हटाकर अवशिष्टांश जो लक्षण शरीर होता है उसमें क्या दोष है। इस प्रकार से परीक्षा की जाती है। यदि दोष उत्पन्न होता है तो हटाये हुए पद को लाकर के लक्षण शरीर में लगाकर के स्थित लक्षण की परीक्षा की जाती है। यदि उपस्थित दोष पद लगाने से हट जाता है तो पद सार्थक कहलाता है। इस प्रकार से परीक्षा के द्वारा पद का सार्थक्य प्रदर्शन ही पदकृत्य अथवा दलकृत्य कहलाता है।

पाठगत प्रश्न 3.1

1. अनुभव किसे कहते हैं?
2. संस्कार किसे कहते हैं?
3. स्मृति किसे कहते हैं?
4. ज्ञान का जो विषय होता है वह क्या कहलाता है?
5. किस प्रकार का अनुभव संस्कार को जन्म देता है?
6. समन्वय किसे कहते हैं?
7. असाधारण धर्म किसे कहते हैं?
8. अव्याप्ति किसे कहते हैं?
9. अतिव्याप्ति किसे कहते हैं?
10. असम्भव किसे कहते हैं?

2.5.6) उपलक्षणम् उपाधि और विशेषणं

वेदान्त में उपलक्षण, उपाधि तथा विशेषण इस प्रकार के शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में देखा जाता है। उपाधि किसे कहते हैं इसे पहले ही जानना चाहिए।

एक स्थान पर अलग अलग वर्ण के उत्पल (पुष्प) थे। वहाँ चैत्र नाम का कोई व्यक्ति मैत्र से उत्पल लाने के लिए 'उत्पल लाओ' ऐसा कहता है। तब उनमें से किसी भी एक उत्पल को मैत्र ले आता है। लेकिन यदि चैत्र ऐसा कहे की 'नीला उत्पल लाओ' तब मैत्र अन्य उत्पलों को छोड़कर के नीला ही उत्पल ले आता है। यहाँ लाल आदि पुष्पों से नीला पुष्प स्वयं का अलग ही बोध कराता है। यहाँ पर अलग भेद होने से यह व्यावर्तक कहलाता है। व्यावर्तक व्यावर्ति को करता है। और व्यावर्ति ही

ध्यान दें:

अलग भेद है।

उपलक्षण, उपाधि तथा विशेषण ये तीनों ही व्यावर्तक होते हैं।

उपलक्षण

वर्तमान होते हुए भी जिसमें व्यावर्तकत्व होता है वह उपलक्षण का लक्षण होता है। उपलक्षण लक्ष्य में नहीं होता है। परन्तु व्यावृत्ति करता है। कौओं से युक्त घर को देख। इस वाक्य में कौए उपलक्षण है। भले ही कौए घर नहीं हैं फिर भी व्यावर्तन में समर्थ है। जैसे शाखा में चन्द्र है, इस उदाहरण में शाखा में अविद्यमान होने पर भी चन्द्र को उलक्षित किया जा रहा है। इसलिए यहाँ शाखा उपलक्षण है।

विशेषण

उपाधि तथा विशेषण दोनों ही लक्ष्य में होते हैं तथा व्यावृत्ति भी करते हैं। कुछ होते हैं तब व्यावृत्ति करते हैं। अर्थात् लक्ष्य में वर्तमानत्व होने पर व्यावर्तकत्व उपाधि तथा विशेषण का साधारण लक्षण होता है। यहाँ पर भी दोनों में भेद होता है। लक्षण क्या करता है? लक्षण एक उद्देश्य के किसी विधेय का बोध कराता है। जैसे जहाँ घट का तो ज्ञान है परन्तु घट किस प्रकार है यह ज्ञात नहीं है। तब घट नीला, इस वाक्य से घट को उद्देश्य करके नीलत्व का विधान करते हैं, इसलिए। घट का उद्देश्य नीलत्व ही विधेय है।

नीला घट नित्य है अथवा अनित्य जो जानता है वह उसके प्रति 'नीला घट अनित्य है' यह वाक्य बोलता है। उस घट को उद्देश्य करके उसके नीलत्व विशेषण का अनित्यत्व के रूप में विधान किया जाता है। वहाँ जैसे घट अनित्य है वैसे ही नीलत्व भी अनित्य है, इस प्रकार का भी बोध उत्पन्न होता है। नीलत्व के उद्देश्य का घट में भी अन्वय होता है। उद्देश्य जो घट है उसका नीलत्व भी अनित्य के रूप में अन्वय होता है, भले ही नीलत्व अनित्य है।

इसलिए नीलत्व के उद्देश्य में घट का अन्वय होता है। नीलत्व का स्वान्वित घट होता है। घट का विधेय अनित्यत्व है जिससे नीलत्व भी स्वान्वित घट के विधेय में अन्वित हो जाता है। अर्थात् नीलत्व स्व अन्वितांश विधेय में ही अन्वित हो जाता है। वैसे नीलत्व घट में रहता है। नीलत्व उस घट के अन्य घटों से व्यावर्तित करता है। इसलिए नीलत्व में स्वान्वितांशविधेय अन्वितत्व होने से वर्तमान मे व्यावर्तकत्व होता है। इसलिए नीलत्व विशेषण होता है यह ही विशेषण का लक्षण है।

" स्वान्वितांशविधेयान्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति व्यावर्तकत्वम् इति विशेषणस्य लक्षणम्।"

उपाधि

कर्णशष्कुल्यच्छिन्नं नभः श्रोत्रम् (शष्कुली से तात्पर्य कर्ण के छिद्र है। और नभः से तात्पर्य आकाश है। इसलिए कर्ण का छिद्र और आकाश इन दोनों से तात्पर्य रूप में कान होते हैं) इस वाक्य में श्रोत्रत्व विधेय तथा नभः उद्देश्य के रूप में जाना जाता है। वहाँ कर्णशष्कुली उपलक्षण है विशेषण है अथवा उपाधि है इनका विचार करते हैं। सम्पूर्ण आकाश श्रोत्र नहीं है लेकिन कर्णविवर के द्वारा जिसे जाना जाता है वह आकाश श्रोत्र कहलाता है। जैसे घटाकाश, मठाकाश इत्यादि प्रयोगों के द्वारा एक ही आकाश घटसम्बन्धवश अथवा मठसम्बन्धवश भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। वैसे कर्णशष्कुली भी अन्य आकाश से शष्कुली सम्बन्ध आकाश को अलग बोध कराती है अर्थात् व्यावर्तन करती है। अतः यहाँ पर कर्णशष्कुली व्यावर्तन करती है। इस प्रकार से केवल व्यावृत्त आकाश ही श्रोत्र है। कर्णशष्कुली श्रोत्र नहीं है। इसलिए विधेय श्रोतत्व में तो आकाश का अन्वय (सम्बन्ध) है लेकिन कर्णविवर का अन्वय नहीं

ध्यान दें:

है। कर्णशष्कुली श्रोत्र नहीं है।

सम्पूर्ण आकाश श्रोत्र नहीं है। क्योंकि कर्णविवर द्वारा यह जाना जाता है कि वह आकाश श्रोत्र है। जैसे घटाकाश तथा मठाकाश इस प्रयोग से एक ही आकाश घट सम्बन्धवशात् तथा मठसम्बन्धवशात् भिन्न भिन्न प्रतीत होता है। वैसे ही कर्णशष्कुली भी अन्य आकाश से शष्कुली सम्बन्ध आकाश को अलग करके बोध कराती है, व्यावर्तन करती है। अतः कर्णशष्कुली व्यावर्तन करती है। और केवल व्यावृत्त आकाश ही श्रोत्र होता है, कर्णशष्कुली श्रोत्र नहीं होती है। अथः विधेय श्रोत्रत्व में आकाश का अन्वय (सम्बन्ध) है। लेकिन कर्णविवर का अन्वय नहीं है। अर्थात् कर्णशष्कुली श्रोत्र नहीं है। इसलिए वह कर्णशष्कुली है। कर्णशष्कुली वर्तमान में होती हुई उसके द्वारा सम्बन्धित आकाश का अन्य आकाश से व्यावर्त कराती है। आकाश व्यावर्तन करके श्रोत्रत्व को सम्बन्ध योग्य करता है। लेकिन स्वयं का जो आकाश से सम्बन्ध होता है उसमें आकाश में जो विधेय श्रोतत्व होता है उसमें अन्वित नहीं होता है। अतः कर्णशष्कुली आकाश के विधेय में अनन्विता है, लेकिन वर्तमान होने के कारण आकाश की आकाशान्तर से व्यावर्तिका भी है। इसलिए कर्णशष्कुली आकाश की उपाधि होती है न की विशेषण। इसलिए कहा गया है स्वान्वितांशविधेयानन्वयित्वे सति वर्तमानत्वे सति व्यावर्तकत्वम् इति उपाधेः लक्षणम्।

यह ही उपाधि तथा विशेषण में भेद होता है कि जिसका व्यावर्तन करने पर उसका विधेय में विशेषण रूप से अन्वय होता है न की उपाधि में अन्वय होता है। दोनों में वर्तमानत्व होने के कारण व्यावर्तकत्व होता है। जिसको सरल भाषा में ऐसे कहा जाता हैं कि विशेषण ही कार्यान्वयी वर्तमान का व्यावर्तक होता है।

पण्डित का पुत्र मुर्ख है, इस उदाहरण में विधेय मूर्खत्व है तथा उद्देश्य पुत्र है। पण्डित का पुत्र। अतः पण्डित का अपने पुत्र में पुत्रत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। पुत्र का मूर्खत्व से अन्वय होता है। लेकिन पण्डित का मूर्खत्व से अन्वय नहीं होता है। पण्डित मूर्ख नहीं है, पुत्र ही मूर्खत्व का हेतु है। इसलिए स्वविशेष्य के विधेय में पण्डित मूर्खत्व रहित होता है। इसलिए पण्डित यहाँ पर उपाधि है।

घट तथा पट को देखो, यहाँ पर घट का पट में अन्वय है।

और पट की विधेया जो दर्शनक्रिया है उसमें घट का अन्वय होता है। क्योंकि घट भी दर्शन का विषय है। घट वहाँ पर वर्तमान है। इसलिए घट में वर्तमानत्व है। स्वान्वित जो पट है उसका विधेय में अन्वित्व होने के कारण भी वह घट का है। घट पट का व्यावर्तक नहीं है। इसलिए यदि लक्षण में व्यावर्तक पद नहीं होता तो घट पट का विशेषण होता यह आपत्ति यहाँ उपस्थित होते। इसलिए लक्षण में व्यावर्तकत्व को जोड़ा है।

आपने क्या सीखा

- दर्शन क्या है इस विषय में ज्ञान प्राप्ति,
- दर्शनों के भेद तथा उनके प्रयोजनों को जानने में समझ विकसित करना,
- पुरुषार्थ को जानकर अपना जीवन व्यतीत करने का तरीका,
- प्रमाणों के पदार्थ को जानकर प्रमाण की महिमा की समझ,
- अद्वैत वेदान्त के मत में प्रत्यक्ष प्रमाण।

पाठ-5

प्रत्यक्ष खण्ड में प्रमा

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 4.1

1. व्यावर्तक कितने होते हैं?
2. उपलक्षण का लक्षण क्या है?
3. विशेषण का लक्षण क्या है?
4. उपाधि का क्या लक्षण है?
5. पण्डित का पुत्र मूर्ख है, इस उदाहरण में पण्डित उपाधि,उपलक्षण अथवा विशेषण है?
6. कर्णशष्कुली आकाश की उपाधि है अथवा विशेषण?
7. नीलघट अनित्य है इस उदाहरण में नीलत्व उपाधि है अथवा विशेषण?

2.6) प्रमा

प्रमा का करण प्रमाण होता है तो कहते हैं कि प्रमा क्या है? इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। वस्तुत: ज्ञान ही प्रमा होता है, इसलिए ज्ञानत्व ही प्रमा का लक्षण है। वहाँ क्या दोष है, तो इसका प्रदर्शन किया जा रहा है।

राहु का शिर यह प्रसिद्ध वाक्य है। यहाँ पर राहु का शिर यह भेद प्रकट होता है। लेकिन इन दोनों में कोई भेद नहीं होता है। वस्तुत: सिर ही राहु है और राहु ही सिर है। उन दोनों में भेद नहीं है। फिर भी यह वाक् व्यवहार संसार में होता है। इस व्यवहार का तिरस्कार नहीं कर सकते। इस वाक्य से ज्ञान ही उत्पन्न होता है। इस ज्ञान में जो बताया गया है वह भेद भले ही अलीक(झूठा), अप्रसिद्ध पदार्थ, तथा इसका अन्वय केवलान्वयी है फिर भी ज्ञान तो होता ही है। भले ही ज्ञान का कोई भी विषय नहीं है फिर भी ज्ञान अङ्गीकार करना चाहिए। यह ज्ञान ही योगशास्त्र में विकल्प ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान प्रमा नहीं है। अभी जिस विषय में ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय यदि बाद में बाधित हो जाता है तो वह ज्ञान भ्रम कहलाता है, जैसे मद में अन्धे को रस्सी में साँप दिखाई देता है। लेकिन प्रकाश आने पर रस्सी में रज्जुत्व का ही ग्रहण होता है न की सर्प का। इसलिए रस्सी में सर्प का ज्ञान भ्रम ही है। राहु का सिर यहाँ पर भी भेद का ज्ञान जब होता है तब भी भेद झूठा होता है, वह बाधित होता हुआ भी ज्ञान कहलाता है। अत: बाधित होने पर तथा बोध होने पर उत्पन्न ज्ञान भ्रम नहीं होता है। यह सत्य है कि राहु का सिर है इसमें किसी की भी विमति नहीं है और न किसी का वि संवाद है। इसलिए ही वह ज्ञान भ्रम भिन्न प्रमा भिन्न तृतीय ज्ञान के रूप में अङ्गीकृत करना चाहिए।

इसलिए ज्ञानत्व ही यदि प्रमा का लक्षण हो तो उक्त प्रकार से राहु का शिर भी इस अर्थ शून्य ज्ञान में ज्ञानत्व है। परन्तु उससे इस ज्ञान में प्रमा के लक्षण की अति व्याप्ति हो जाती है। इसलिए "अर्थ विषयक ज्ञानत्वम् प्रमाया: लक्षणम्" इस प्रकार से किया जाता है। जिसका अर्थ है वस्तु विषय उसका अर्थ विषयक ज्ञान होता है, विकल्प ज्ञान अर्थ विषयक ज्ञान नहीं होता है। वह तो अर्थ शून्य ज्ञान होता है और मिथ्या ज्ञान वस्तुभूत का ज्ञान नहीं होता है, इस विकल्प के ज्ञान में इस प्रमा के लक्षण में अतिव्याप्ति नहीं होती है।

रस्सी में सर्पत्व ग्रहण से तथा शुक्ति में चांदी के ग्रहण आदि उदाहरणों में जो ज्ञान होता है,उसका

ध्यान दें:

कोई विषय तो होता ही है। यह निर्विषयक अथवा अर्थ शून्य ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान के विषय सर्पत्व रजत्व आदि आगे बाधित होते हैं। इसलिए यह ज्ञान भ्रम कहलाता है। यह ज्ञान अर्थ विषयक होता है। इस ज्ञान में अर्थ विषयक ज्ञानत्व के सत्व से प्रमाल क्षण की अतिव्याप्ति होती है। इसलिए 'अबाधितार्थ विषयक ज्ञानत्वं प्रमाया: लक्षणम्' प्रमा का लक्षण किया जाता है। रस्सी में सर्पत्व तथा शुक्ति में रजत्व बाधित होते हैं। इसलिए वह ज्ञान बाधितार्थ विषयक ज्ञान होता है। उस ज्ञान में अबाधितार्थ विषक ज्ञानत्व नहीं होता है। इसलिए इस प्रमाल क्षण की वहाँ अति व्याप्ति नहीं होती है।

घट का अनुभव होता है। उससे संस्कार उत्पन्न होते हैं। पर कभी वे संस्कार उत्पन्न होकर के स्मृति को जन्म देते हैं। यहाँ पर जो स्मृति है वह उसका विषय घट है। वह घट बाधित नहीं होता है। जब तक घट बाधित नहीं होता है तब तक घट घटत्व रूप में ही प्रतीत होता है। इसलिए घट का बाध नहीं होता है। स्मृति विषयक घट बाधित नहीं होता है अत: अबाधित अर्थ ही घट कहलाता है। उसका विषय स्मृति होता है। और स्मृति ही ज्ञान होती है। यह ज्ञान अबाधितार्थविषयक होता है इसलिए अबाधितार्थ विषयक ज्ञानत्व वहाँ सत्व से प्रमाल क्षण की अति व्याप्ति होती है। अतिव्याप्ति के निराकरण के लिए लक्षण का परिष्कार आवश्यक है। इसलिए नया लक्षण प्रस्तुत किया जाता है वह है- अनधिगताबाधितार्थ विषयक ज्ञानत्वं प्रमाया: लक्षणम्। जो अर्थ पूर्व में नहीं ज्ञात था तथा अधिगत भी नहीं था वह अनधिगत अर्थ कहलाता है। तथा जो अर्थ बाधित नहीं है वह अबाधित कहलाता है। अनधिगतार्थ विषयक तथा अबाधितार्थ विषयक ज्ञान होता है। स्मृतिविषय घटादि तो पूर्व में अनुभूत ही है अर्थात् घट की स्मृति पहले ही अनुभव के माध्यमे से अधिगत है। जिसका पूर्व में अनुभव नहीं होता है उसकी स्मृति नहीं होती है। इसलिए स्मृति विषयक ज्ञान अधिगत ज्ञान होता है अनधिगत नहीं। अत: स्मृति में अनधिगतबाधितार्थ विषयक ज्ञानत्व के असत्व से अतिव्याप्ति नहीं है। स्मृति में ज्ञानत्व होता है वह अर्थ विषयक तथा अबाधितार्थ विषयक ज्ञानत्व है लेकिन अनधिगतार्थविषयक ज्ञानत्व नहीं है, इस प्रकार से यहाँ अति व्याप्ति नहीं होती है। इसलिए अव्याप्ति अतिव्याप्ति असम्भवरूप इन तीनों दूषणों से रहित यह लक्ष्य प्रमा का असाधारण धर्म भी है इसलिए अनधिगताबाधितार्थविषयकज्ञानत्वं प्रमाया: लक्षणम् यह सिद्ध होता है।

किन्हीं के मत में स्मृति भी प्रमा ही होती है। तब उक्त प्रमा के लक्षण की स्मृति में अव्याप्ति होती है। स्मृति में अबाधितार्थविषयकज्ञात्व से सत्व में भी अनधिगतार्थविषयकज्ञानत्व की अविद्यमानता से अव्याप्ति होती है। इसलिए अव्याप्ति निवारण के लिए अबाधितार्थविषयज्ञानत्व प्रमा का लक्षण किया जाता है। यह साधारण स्मृति का लक्षण है। स्मृति विषय अनुभव से अधिगत होता है, लेकिन यदि बाधित नहीं है तो तादृशार्थविषयक ज्ञान तो अबाधितार्तविषयक ज्ञान ही कहलाता है। इसलिए स्मृति में अबाधितार्थ विषयक ज्ञानत्व के सत्व से अव्याप्ति नहीं होती है।

सभी शास्त्र स्वसिद्धान्त के अनुकलत्व से प्रमेय उपस्थापन करते है। इसलिए अनुभूय मान जगत के ही विभिन्न पदार्थो का तथा नामों के द्वारा विभिन्न लक्षणों के द्वारा प्रतिपादन किया गया है। शास्त्रों में बहुत जगह इसके विरोध भी परिलक्षित होते है। जब कोई भी शास्त्र कुछ सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है तब उसमे बहुत से दार्शनिक आक्षेपादि करते है। अत: उसके समाधान के लिए सिद्धान्तियों के प्रयासों का विधान किया गया है। वहां पर सभी की सम्मति तथा परार्थानुमानपद्धति का अवलम्बन लिया जाता है।

ध्यान दें:

नैयायिक आक्षेप-1 समाधि

न्याय के मत में सभी प्रकार का ज्ञान क्षणिक होता है अर्थात् एक क्षण स्थायी होता है। धारावाहिक ज्ञान में न्याय के मत में पहला दूसरा तीसरा इस प्रकार की ज्ञान की प्रमा होती है। परन्तु द्वितीय तथा तृतीय इत्यादि ज्ञान भी प्रमा कहलाते हैं। लेकिन द्वितीय तृतीय ज्ञानादि में उक्त लक्षण की अव्याप्ति रहती है। इसलिए धारावाहिक ज्ञान का निरन्तर घट के समान ही ज्ञान का विषय होता है। अर्थात् प्रथम क्षण में द्वितीय क्षण में तथा तृतीय क्षण में घट समान ही दिखाई देता है। तब प्रथम क्षण में ज्ञात अधिगत घट ही द्वितीय क्षण में ज्ञान का विषय होता है। इसी प्रकार प्रथम क्षण में तथा द्वितीय क्षण में ज्ञात अधिगत घट ही तृतीय क्षण में ज्ञान का विषय होता है। प्रथम क्षण में जो घट का ज्ञान होता है उसी क्षण मे वह प्रमा का लक्षण भी होता है। लेकिन द्वितीय क्षण में जो ज्ञान होता है वहाँ अव्याप्ति होती है। क्योंकि द्वितीय क्षण में ज्ञान का विषय घट अनधिगत नहीं होता है। अत: द्वितीय तृतीयादि ज्ञानों में अनधिगतार्थ विषयकत्व नहीं होता है केवल अबाधितार्थ विषयकत्व होता है। इसलिए लक्षण में अव्याप्ति होती है यह आक्षेप किया जाता है।

विशेषण के भेद से विशिष्ट में भी भेद होता है। अर्थात् गतिमान जन, यहाँ ज्ञान में गति विशेषण है तथा विशेष्य जन है। जब वह व्यक्ति गति का विराम करता है तब रुका हुआ वह व्यक्ति इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। उसमें रूकी हुई स्थिति तो विशेषण है तथा जन विशेष्य। गतिमान जन तथा रूका हुआ जन, इन दोनों जगह विशेषण भिन्न-भिन्न है। विशेष्य वह व्यक्ति ही है फिर भी विशेषण भिन्न-भिन्न है। इसलिए सभी व्यक्तियों के द्वारा अलग अलग विषय ही गिने जाते हैं।

अभी में घट को देखता हूँ। इसमें केलव घट ही भासित नहीं हो रहा है अपितु काल भी भासित हो रहा है। यदि काल भासित नहीं होता तो काल ज्ञान का विषय नहीं होता। तो एतत्कालवृत्तिघटविषयक ज्ञान वाला "मैं" अनुव्यवसाय रूप में समय विशेषणत्व से प्रतीत नहीं होता है। (प्रथम ज्ञान का ज्ञान अनुव्यवसाय कहलाता है तथा ज्ञानविषयक ज्ञान भी अनुव्यवसाय क ज्ञान कहलाता है) और घट में वर्तमान है या नहीं यहाँ घट में स्थित काल का नहीं होता है परन्तु घट का वर्तमानत्व तो ज्ञात होता ही है। क्रिया के काल के विषय मे किसी का सन्देह ही नहीं है। इसलिए काल भी ज्ञान रूप में भासित होता है इस प्रकार से सभी को समझना चाहिए। जिस किसी भी इन्द्रिय से जब ज्ञान होता है तब अभी में यह अनुभव करता हूँ इस प्रकार का ज्ञान होता है। इसलिए सभी इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य है।

इसलिए धारावाहिक के ज्ञान में प्रथम क्षण विशिष्ट घट ही प्रथम ज्ञान का विषय है। तब द्वितीय क्षण में नहीं होता है। इसलिए प्रथम ज्ञान द्वितीय क्षण में भासित नहीं होता है। तथा तृतीय क्षण में भी भासित नहीं होता है। द्वितीयज्ञान में द्वितीयक्षण विशिष्ट घट का ज्ञान होता है तब तृतीय क्षण नहीं होता है। तब उसमें तृतीयादि क्षण भासित नहीं होते हैं। प्रथम ज्ञान में प्रथम क्षण विशेषण होता है द्वितीय क्षण विशेषण नहीं होता है। द्वितीय ज्ञान में द्वितीय क्षण विशेषण होता है प्रथम क्षण विशेषण नहीं होता है। इसलिए प्रथम का विषय द्वितीय ज्ञान के विषय से भिन्न ही होता है और द्वितीय ज्ञान का विषय प्रथम ज्ञान के विषय से भिन्न होता है। प्रतिक्षण उसक्षण विशिष्ट घट का अर्थ अनधिगत ही है न की अधिगत। इस प्रकार से धारावाहिक ज्ञान में भी प्रतिक्षण विषय अनधिगत रहता है। इसलिए अनधिगतार्थविषकत्व तथा अबाधितार्थविषयकत्व ज्ञान में होता है यहाँ अव्याप्ति नहीं है यह प्रथम समाधान हुआ।

दूसरा समाधान तो मधुसूदन सरस्वती ने किया ही है। धारावाहिक ज्ञान के स्थल में द्वितीयादि ज्ञान ज्ञात के अर्थ का ज्ञापक मात्र ही होता है। अत: वह अनुवाद मात्र ही है। न की अज्ञात ज्ञापक। अत अनुवाद में प्रमात्व प्रयोजक अज्ञात ज्ञापकत्व नहीं है। इस प्रकार से द्वितीयादिज्ञान प्रमा नहीं है,इसलिए वहाँ लक्षण का आगमन उपयुक्त ही है .

ध्यान दें:

नैयायिकानाम् आक्षेपः -2 तत्समाधिश्च
नैयायिकों का आक्षेप तत्समाधि

शुक्ति में रजत के रूप में भान तथा रज्जु में सर्प का भान तो जगत में प्रसिद्ध ही है। शुक्ति का अज्ञानावृत अंश रज तत्व के रूप में प्रतीत होता है। रज्जु का अज्ञानावृत अंश सर्पत्व रूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार ब्रह्म के अज्ञानावृत अंश को बद्ध पुरुष घट पटादि के रूप में ग्रहण करता है। इसलिए जैसे सर्पादिक मिथ्या है वैसे ही यह परिदृश्यमान जगत् भी मिथ्या है। शुक्तित्व के साक्षात्कार से रजतत्व का विलोप हो जाता है। उसी प्रकार अच्छे प्रकाश में रज्जु के साक्षात्कार से सर्पत्व का विलोप हो जाता है। रजतत्वादि बाधित हो जाते हैं। जैसे श्रवण मननादि के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार में 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छा. उ. 3.14.1) इस प्रकार का ज्ञान होता है। घटादिक बाधित होते हैं। तब ब्रह्म चैतन्य रूप में प्रकाशित होता है। तब अन्य वस्तु नहीं होती है। यह वेदान्त का सिद्धान्त है।

इस सिद्धान्त का आश्रय लेकर वेदान्ति आक्षेप करते हैं कि वेदान्त मत में घटादिक मिथ्या होते हैं अर्थात् ब्रह्मज्ञान बाधित होता है। इसलिए घट ज्ञान तो बाधितार्थ विषयक ज्ञान है। अतः घटादि विषयक ज्ञान भले ही अनधिगतार्थ विषयक हो फिर भी अबाधितार्थ विषयक नहीं होते हैं। इसलिए घटादि विषयक ज्ञान में प्रमालक्षण की अव्याप्ति होती है।

तब सिद्धान्ती जन समाधान करते हैं- सत्य है। लेकिन जो अबाधितार्थविषयक ज्ञान यहाँ संसार दशा में अबाधितार्थ इसका अर्थ तात्पर्य है। घटादिक संसार के समय में किसी को भी बाधित नहीं होता है, ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद ही बाधित होता है। अतः इस लक्षण में कोई दोष नहीं है। स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए यह कह सकते है कि अनधिगतार्थविषयक ज्ञान तथा संसार दशा में जो अबाधितार्थ तद्विषयक ज्ञान होता है वह ही प्रमा है।

जैसे चन्द्र एक ही होता है फिर भी नेत्रदोष वश किसी को दो चन्द्रमा भी दिखाई देते हैं। जहाँ चन्द्र में भेद नहीं होता है वहा नेत्र दोष के कारण भेद का अनुभव होता है।

ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद भी घटादि का बाध होता है। वहां पर श्रुति का यह प्रमाण होता है- यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येद् इत्यादि। (जब ब्रह्मज्ञ पुरुष का समस्त प्रपञ्च ब्रह्म रूप होता है तब किस इन्द्रिय से किस विषय को देखें। अर्थात् जहाँ रज्जु में सर्पत्व का भास होता है वहाँ रज्जु दर्शन से सर्पत्वादि नहीं दिखाई देते हैं। तब संसार दशा में ब्रह्मा में जगत का भास होता है। लेकिन ब्रह्मदर्शन से जगत् नहीं दिखाई देता है।)

संसार दशा में घटादि का बाध नहीं होता है। वहाँ पर श्रुति का प्रमाण है- यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति इति।

(जब वस्तुतः द्वैत नहीं होता है फिर भी अज्ञानवश द्वैत जैसे कल्पित भेद होते है। तब ब्रह्म भिन्न जीव भी जगत् कर्तृकर्मकारक फलादि रूपों में भिन्न ही दिखाई देता है।

इस प्रकार से प्रमालक्षण का यहाँ पूर्ण रूप आलोचन किया है।

[विमर्श- अनधिगतार्थविषयकज्ञानत्व से विशेषण की स्मृति में अतिव्याप्ति निवारण के लिए अबाधितार्थविषयकज्ञानत्व इस विशेषण भ्रम में अतिव्याप्ति के निवारण के लिए यहाँ पर आलोचित (वर्णन दिया गया) की गई है। वेदान्त मत में तो अज्ञान का निवर्तक ही ज्ञान होता है । इसलिए स्मृति तथा भ्रम अज्ञान का निवारण नहीं करते हैं। अतः स्मृति तथा भ्रम में ज्ञानत्व नहीं होता है। और न प्रमाण वृत्ति होती है। अद्वैत मत में प्रमा का लक्षण तो अज्ञातार्थ विषयक निश्चयत्व रूप में होता है]

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न-5.1

1. राहु का सर यहां पर ज्ञान का विषय क्या है?
2. प्रमा का परिष्कृत लक्षण क्या है?
3. जिनके मत में स्मृति भी प्रमा है उनके मत में प्रमा का क्या लक्षण है?
4. ज्ञान क्षणिक होता है यह किनके मत है?
5. विशेषण के भेद से विशिष्ट में भेद होता है या नहीं?
6. अभी घट देखता हूँ इस ज्ञान में काल भी भासित होता है या नहीं?

पाठ सार

यह प्रमा का प्रकरण है और प्रमा के प्रकरण का यहा प्रथम पाठ है। प्रमाण के आलोचन के लिए बहुत पारिभाषिक पदों का ज्ञान आवश्यक है। उन पदों का जैसा उपास्थापन यहाँ दिया गया है वैसा उपस्थापन अन्य पाठों में नहीं है। इसलिए इन प्रमाणों के प्रथम पाठ में उस प्रकार के बहुलता से संकलित किया गया है।

दर्शन शब्द, तथा जो ल्युट् प्रत्यय है उसके विभिन्न अर्थों को लेकर दर्शन शब्द का प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमा इस प्रकार के जो चार अर्थ होते हैं उनका यहाँ आलोचन किया गया है। शास्त्र क्या होता है। जो मनुष्य की नित्य की प्रवृत्ति का उपदेश देता है, विधान करता है, और अनित्य में निवृत्ति का उपदेश देता है वह शास्त्र कहलाता है।

दर्शन बहुत प्रकार के हैं। दर्शनों के आस्तिक तथा नास्तिक भेद के द्वारा विवरण इस पाठ में प्रस्तुत किया गया है। दर्शन भेद से प्रमाण भेद भी परिलक्षित होता है। इसलिए किस दर्शन के कितने प्रमाण होते है इस विषय का भी इस पाठ में संक्षेप से प्रतिपादन किया गया है।

पुरुषार्थ परक पुरुष होता है। धर्म अर्थ काम तथा मोक्ष ये पुरुषार्थ होते हैं। धर्म तथा अर्थ गौंण होते हैं तथा काम और मोक्ष मुख्य होते हैं। काम अनित्य है तथा मोक्ष नित्य है। अत: मोक्ष परम पुरुषार्थ है और वह ब्रह्मज्ञान से होता है।

ज्ञान क्या है? इस विषय में व्यवहार है या भ्रान्ति इसका पूर्ण रूप से तथा शास्त्रों में ज्ञान क्या है? इसका भी पूर्ण रूप से इस पाठ में प्रतिपादन किया गया है। अनुभव तथा स्मृति भेद से ज्ञान दो प्रकार का होता है। जिसमें अनुभव संस्कार को जन्म देता है, तथा संस्कार उत्पन्न होकर स्मृति को जन्म देता है।

किसी भी पदार्थ का परिचय उसके लक्षण से होता है। और लक्षण असाधारण धर्म होता है। लक्षण मे अव्याप्ति अतिव्याप्ति तथा असम्भव इस प्रकार से जो तीन दोष होते हैं उनका भी इस पाठ में उल्लेख किया गया है।

वेदान्त में उपलक्षण,उपाधि तथा विशेषण इन शब्दों का प्रयोग प्राचुर्य मात्रा है अत: इनका सविस्तार पूर्वक आलोचन यहाँ दिया गया है।

प्रमा स्थान से तथा वस्तु से इस विषय को आरम्भ किया गया है। इससे पहले सब कुछ प्रस्तुत

था। अनधिकगताबाधितार्थविषकज्ञानत्व प्रमा का लक्षण है, यह भी प्रतिपादित किया गया। जो अर्थ पूर्व में ज्ञान नहीं था, और न अधिगत है तथा अनधिगत भी नहीं है। लेकिन जो अर्थ बाधित नहीं है वह अबाधित अर्थ है। अनधिगतार्थविषयक और अबाधितार्थविषयक ज्ञान होता है। अनधिगतार्थविषयकज्ञान तथा तत्व प्रमा का लक्षण होता है। इस प्रकार से सरलार्थ विषयक ज्ञान का वर्णन तथा दल कृत्य का वर्णन भी यहां प्रदर्शित किया गया है। इस लक्षण में जो दोष या आक्षेप है उनका भी निवारण प्रदर्शित किया गया है।

पाठान्त प्रश्न 1.1

1. दर्शन शब्द की व्युत्पत्ति भेद से अर्थ भेद की उपस्थापना कीजिए।
2. शास्त्र क्या होता है?
3. दर्शन के भेद को प्रकट कीजिए।
4. किस दर्शन के कितने प्रमाण होते है यह लिखिए।
5. पुरुषार्थ का युक्ति पूर्वक विवरण लिखिए।
6. पुरुषार्थ का वर्णन करके मोक्ष के परमत्व का प्रतिपादन कीजीए।
7. पदार्थ किसे कहते हैं?
8. समान्य रूप से ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है?
9. लक्षण के लक्षण का वर्णन कीजिए।
10. लक्षण तथा लक्षण के दोषों में कौन-कौन होते हैं? इनका उदाहण सहित प्रतिपादन कीजिए।
11. दलकृत्य क्या होता है?
12. उपाधिलक्षण में व्यावर्तकत्व के सार्थक्य का प्रतिपादन कीजिए।
13. उपलक्षण का लक्षण देकर उसका प्रतिपादन कीजिए।
14. विशेषण लक्षण का प्रतिपादन कीजिए।
15. उपाधिलक्षण का प्रतिपादन कीजिए।
16. उपाधि तथा विशेषण में क्या भेद होते हैं?
17. प्रमा के लक्षण का दलकृत्य करक परिष्कार कीजिए।
18. काल ज्ञान में भासित होता है इसका युक्ति पूर्वक प्रतिपादन कीजिए।
19. धारवाहिक के ज्ञान में प्रतिक्षण विषय किस प्रकार से अनधिगत होता है?

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों का उत्तर 1.1

1. दृशिः प्रेक्षणे इति धातु से ल्युट्-प्रत्यय का योग करने पर दर्शन शब्द निष्पादित होता है।
2. 3.
3. 4.
4. 1.
5. 4.
6. 2.
7. 1. ग   2. घ   3. ख   4. क   5. च   6. ङ्

पाठगत प्रश्न 2.1

1. सुख
2. दु:ख
3. नित्य तथा अनित्य भेद से सुख दो प्रकार को होता है
4. आत्मसुख
5. जन्य सुख नित्य होता है
6. धर्म अथवा पुण्य
7. अधर्म या पाप
8. 'इदंमदिष्टसाधनम्' ज्ञान की प्रवृत्ति के कारण होते है।
9. जिसका अर्थ किया जाए वह अर्थ होता है। पुरुष का अर्थ ही पुरुषार्थ होता है अर्थात् पुरुष के द्वारा जो प्राप्त किया जाए वह पुरुषार्थ होता है। अथवा पुरुष या नारी जो कुछ भी इच्छा करते या कामना करते हैं वह पुरुषार्थ होता है।
10. धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष ये चार पुरुषार्थ होते हैं।
11. धर्म तथा अर्थ गौण पुरुषार्थ माने जाते है। काम तथा मोक्ष मुख्य पुरुषार्थ माने जाते है।
12. नित्यत्व।
13. मोक्ष ब्रह्मज्ञान से होता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 3.1

1. स्मृति भिन्न ज्ञान ही अनुभव कहलाता है।
2. अनुभव अपेक्षा बुद्धिवश अन्त: करण में गुणों का उत्पादन करता है जो उद्‌बोधक सहकार के साथ स्मृति को जन्म देते हैं वह गुण ही संस्कार कहलाते हैं। अनुभव जन्य स्मृति का हेतु संस्कार कहलाता है।
3. बाह्य इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह केवल संस्कार होता है और संस्कार ही उत्पन्न होकर जो ज्ञान जिस ज्ञान को जन्म देता है वह ज्ञान ही स्मृति कहलाता है।
4. ज्ञान का जो विषय होता है वह ही अर्थ पदार्थ, ज्ञेय, ज्ञातव्य तथा प्रमेय कहलाता है।
5. अपेक्षा बुद्धि ही अनुभव तथा संस्कार को जन्म देती है।
6. लक्ष्य में जो लक्षण होता है तो वह लक्षण समन्वय कहलाता है।
7. जिस धर्म में अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, तथा असम्भव ये तीन दोष नहीं हो वह ही असाधारण धर्म कहलाता है।
8. लक्ष्य का एकदेशवृतित्व होने पर उसी लक्ष्य का अपरदेशवृतित्व होना अव्याप्ति का लक्षण होता है।
9. जितना लक्ष्य लक्ष्यवृतित्व में होता है उतना ही लक्ष्य यदि अलक्ष्यवृतित्व में तो वह अतिव्याप्ति का लक्षण होता है।
10. लक्ष्य मात्र वृतित्व असम्भव का लक्षण होता है।

पाठगत प्रश्न 4.1

1. उपलक्षण, उपाधि तथा विशेषण ये तीनों व्यावर्तक कहलाते हैं।
2. अन्व्यावर्तकत्व होने पर भी जिसमें व्यावर्तकत्व हो वह उपलक्षण का लक्षण है।
3. स्वान्वितांशविधेयान्वयित्व होते हुए वर्तमान में जो व्यावर्तकत्व हो, यह विशेषण का लक्षण है।
4. स्वान्वितांशविधेयानन्वयित्व होते हुए वर्तमान में जो व्यावर्तकत्व हो, यह उपाधि का लक्षण है।
5. उपाधि:
6. उपाधि
7. विशेषण

ध्यान देंः

पाठगत प्रश्न 5

1. राहु का सिर यहाँ पर राहु तथा सिर में भेद जो है वह अप्रसिद्ध पदार्थ कहलाता है।
2. अनधिगतबाधितार्थविषयकज्ञानत्व प्रमा का लक्षण होता है।
3. अबाधितार्थविषयकज्ञानत्व प्रमा का लक्षण होता है।
4. न्याय का मत।
5. भिद्यते।
6. भासित होता है।

पाठ-6

प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण

ध्यान दें:

6

प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण

यह विषय सुबोध हो इसलिए पूर्वपाठ में बुद्धि के द्वारा अनेक विषयों का उपस्थापन किया गया है। जिसमें प्रमा रूपी प्रमुख विषय था। तो प्रमा क्या है इसका पूर्व में विवरण दिया जा चुका है।

इस पाठ में प्रमा के भेदों का उल्लेख करके उनमें प्रथम प्रमा प्रत्यक्ष प्रमा क्या है इसका उपस्थापन किया जायेगा। वृत्ति यह वेदान्त का अपर विशेष होता है। वृत्ति भी इस पाठ में वर्णित की गई है। सन्निकर्ष, इन्द्रियों का करणत्व, ज्ञानादि किसके धर्म होते है, चैतन्य किसके भेद होते हैं, ज्ञानज्ञत प्रत्यक्ष का क्या प्रयोजक होता है। विषयगत प्रत्यक्ष का प्रयोजकत्व ये सभी विषय इस पाठ में दिये गये हैं। विषय न्याय शैली में लिखे गये है। भले ही विषय क्लिष्ट है फिर भी बार बार पढ़ने पर वो सुबोध हो जाते हैं। तथा प्रथम बार में ही सभी विषय बुद्धि में आरुढ़ हो जाए तो यह नहीं कह सकते हैं। इसलिए जहाँ पर विषय अवगत नहीं हो वहाँ पर पठन को विराम दिए बिना आगे पढ़ना चाहिए। हो सकता है वह विषय प्रकारान्तर से आगे प्रतिपादित किया जाए। तब वह ज्ञान अच्छी प्रकार से स्पष्ट हो सकता है। बहुत जगह एक विषय का ज्ञान अपर विषय के ज्ञान से स्पष्ट हो जाता है। इसलिए आगे अध्ययन हेतु एक बार फिर अध्ययन की आवश्यक्ता होती है।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे;

- वेदान्त के मत में प्रमा के भेद को जान पाने में;
- छः प्रकार की प्रमाओं में से प्रत्यक्ष प्रमा को जान पाने में;
- वृत्ति को समझ पाने में;
- इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष जान पाने में;
- ज्ञान, सुख, दु:ख, धर्म तथा अधर्म, इत्यादि किसके धर्म होते हैं यह जान पाने में;
- ज्ञानगत जो प्रत्यक्ष है उसके प्रयोजक को जान पाने में;
- विषयगत जो प्रत्यक्ष है उसके प्रयोजक को समझ पाने में;

ध्यान दें:

1.1) प्रमाभेदाः

प्रमा छः प्रकार की होती है। प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी, अर्थापत्ति, तथा अनुपलब्धि। प्रमाण भी छः होते हैं यह भी पहले ही कहा जा चुका है। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि ये छः प्रमाण होते हैं। उनमें प्रत्यक्ष प्रमा का करण प्रत्यक्ष प्रमाण होता है।

तो कहते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमा क्या है? लक्षणघटक भूतों के पदों के अर्थ के ज्ञान से ही लक्ष्य का ज्ञान सम्भव होता है। जबतक प्रत्यक्ष प्रमा को जाना जाता है तबतक प्रत्यक्ष प्रमाण को नहीं जाना जाता है। कुछ अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण के आश्रित होते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाण का ज्येष्ठत्व होने के कारण सबसे ऊपर उसका उपस्थान किया जा रहा है।

प्रत्यक्ष प्रमा क्या है इसके प्रतिपादन से पूर्व उससे सम्बन्धित कुछ विषयों को स्पष्ट करते है।

प्रत्यक्ष शब्द के अर्थ

प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तीनों अर्थों मे किया जाता है जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रत्यक्ष विषय। कब किस अर्थ में इनका प्रयोग होता है इसे वहाँ सावधानी पूर्वक समझना चाहिए।

विषय

जीव ब्रह्म होता है न की कोई ओर। जीव तथा ब्रह्म की एकता वेदान्त का प्रतिपाद्यविषय है। इनकी एकता का ज्ञान ही मोक्ष कहलाता है। तथा ब्रह्मज्ञान भी कहलाता है। ब्रह्म का स्वरूप क्या है? यह जिज्ञासा भी सामान्य रूप सभी के मन में उत्पन्न होती है। सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म (तै.उ.) इत्यादि श्रुति के प्रमाण से ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप होता है। और भी बहुत प्रकार से ब्रह्म का प्रतिपादन किया जाता है। परन्तु उस विषय का सूक्ष्म विचार इस पाठ का प्रतिपाद्य विषय नहीं है। इसलिए यहाँ पर विस्तार करने से रुका जा रहा है।

ब्रह्मस्वरूप

ब्रह्म ही चैतन्य कहा जाता है। इस ब्रह्म में सम्पूर्ण जगत् अध्यस्त है। जैसे रस्सी में सर्प होता है। जैसे सीपी में चांदी अध्यस्त होती है, जैसे मरूस्थल में मरीचिका में मृगजल अध्यस्त होता है। वैसे ही चैतन्य में जगत् अध्यस्त होता है। इसलिए चैतन्य अधिष्ठान कहा जाता है। जैसे जब रस्सी में सर्प प्रतीत होता है तब वहां द्रष्टा को रस्सी नहीं दिखाई देती है। रस्सी विषयक अज्ञान होता है, अधिष्ठान रज्जु का जब ज्ञान हो जाता है तब सर्पत्व का विलोप हो जाता है। अतः अधिष्ठान ज्ञान से ही अध्यस्त सर्प का विलोप हो जाता है। जगत् का अधिष्ठान जो चैतन्य है, उसका ज्ञान होता है सम्पूर्ण जगत् का विलोप हो जाता है। अर्थात् जगत् जगत् रूप में प्रतीत नहीं होता है। जगत् ब्रह्मरूप में ही प्रतीत होता है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म इस प्रकार की श्रुति के कारण।

सृष्टि के क्रम से अन्तः करण का सावयवत्व

चैतन्य विषयक अज्ञान ही जगत का सृष्टि के प्रति कारण होता है। अन्तः करण जगत् में शरीर इन्द्रियाँ विषय इत्यादि सभी अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं।

तस्माद्वा एतस्माद् आत्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेराप: अद्भ्यः पृथ्वी पृथिव्या ओषधयः इति श्रुतेः (तै.उ. ब्र.व.1.1)।

अन्तः करण भी आकाशादि पञ्चतन्मात्राओं के सात्विकांश से मिलकर के उत्पन्न होता है। अतः वह तेजस कहलाता है। अर्थात् रवि की किरण की तरह स्वच्छ प्रकाशक लघु तथा चर होता है। अतः यह अन्तः करण जन्य पदार्थ है। अन्तः करण परमाणु के परिमाण रूप में होता है। इसलिए अवयव सहित अन्तः करण का आकार परिणाम ही सम्भव होता है। इसलिए अन्तः करण वृत्ति रूप में भी परिणित होता है जिसका आगे प्रतिपादन किया जाता है।

यहां पर है श्रुतिप्रमाण ये है - 1) तन्मनोऽसृजत इति। (उस ब्रह्म ने मन अर्थात् अन्तः करण का सर्जन किया इसमे वह ब्रह्म कर्ता के रूप में तथा अन्तकरण का सृजन कर्म के रूप है) 2) एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। (मु.उ. 2.2) (प्राण मन तथा सभी इन्द्रियाँ ब्रह्म से ही उत्पन्न होती है) 3) अन्नमसितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं, योऽनिष्ठस्तन्मनः इति। (छा.उ. 6.5.1) (अर्थात् मन उत्पन्न होता है यह तात्पर्य है)

वृत्ति

घट विषयक चाक्षुष प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है। जहां सम्मुख घट होता है वहाँ अन्तः करण में आँखों के द्वारा घटाकार चला जाता है।

जिस प्रकार तड़ाग में स्थित जल छिद्रों से निकलकर नहरों मे प्रवेश करके फिर चतुष्कोणाकार हो जाता है। छिद्र से ही तड़ागादि से बाहर भी निकलता है। फिर छोटी नहरों तथा धारों के माध्यम से खेतों में प्रवेश करके करता है फिर यदि खेत त्रिकोणात्मक होता है तो त्रिकोणाकार तथा यदि खेत चतुर्कोणात्म होता है तो चतुर्भुजाकार हो जाता है। अर्थात स्थान के आकार का हो जाता है।

जैसे बाल्टी में गणेश जी की मूर्ति रखने बाद उसमें जल भरते हैं तो जल मूर्ति के चारों ओर हो जाता है अन्दर मूर्ति बाहर जल। तब जल मूर्ति के आकार का हो जाता है ऐसा कहा जा सकता है।

जैसे द्रवीभूत धातु चूहे का आकार के खांचे में डालने के बाद चूहाकार में परिवर्ति हो जाती है।

अन्तः करण भी इन्द्रियों के द्वारा बाहर जाकर घटादि विषयों के चारों और व्याप्त हो जाता है। तब कहा जाता है कि अतः करण घटादिविषयाकार हो जाता है। अन्तः करण का यह घटादिविषयकार ही वृत्ति कहलाता है। अन्तःकरण जब जिस रूप में रहता है तब उसका आकार वृत्ति कहलाता है। वह वृत्ति परिणात्मिका होती है। और परिणाम ही विकार होता है। वह अवयवों के अन्यथा रूप होता है। परन्तु अन्तः करण सावयव युक्त होता है। कहा भी गया है सावयव युक्त अन्तः करण का परिणाम हमेशा सम्भव होता है।

गुण क्रिया आदि आकार वाली वृत्ति कैसे होती है?

घटादि द्रव्य होते हैं। अन्तः करण भी तदाकार होने के योग्य होता है। लेकिन घटादि विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। तथा गुण का और क्रिया का द्रव्यगुणत्वादि का भी प्रत्यक्ष उत्पन्न होता ही है। गुणादि का कोई भी अपना आकार विशेष नहीं होता है। इसलिए कैसे अन्तः करण गुणाकार तथा क्रिया आकार वाला हो।

समाधानः-1 गुणादि का तदाश्रय द्रव्य से अत्यन्त भेद नहीं है। जो आकार आश्रय द्रव्य का होता है वह आकार ही गुणक्रियादि का भी समझना चाहिए। इसलिए गुणादि आकार अन्तः करण हो सकते हैं।

समाधानः-2 घट को में नहीं जानता अर्थात घट विषयक ज्ञानवाला मैं, इस प्रकार के अज्ञान का

पाठ-6

प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण

ध्यान दें:

अनुभव होता है। इसलिए घटादि विषय अज्ञान के द्वारा आवृत्त रहते हैं। जब घटादि से अज्ञान का आवरण हटता है तब घटादि विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है।

जब तक घटादि विषय अज्ञान से आवृत रहते है तब तक 'घट है' 'घट को देखता हूँ' इस प्रकार के व्यवहार अन्त: करण में उत्पन्न नहीं होते हैं। अत: यह अज्ञान ही 'घट है' इसलिए अस्तित्वादि यह अस्तित्वादि व्यवहार का प्रतिबन्धक है। अन्त: करण का जिस इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध है उस इन्द्रिय का जब विषय के साथ सम्बन्ध होता है तब अन्त: करण की कोई विशिष्ट अवस्था होती है, जिसमें अज्ञान का निवारण होता है तथा घट है इस प्रकार का व्यवहार सम्भव होता है, अन्त: करण की यह अवस्था अस्तित्वादि व्यवहार की प्रतिबन्धक है जो अज्ञान की निवृत्ति योग्य अवस्था हो सकती है। यह अवस्था विशेष ही वृत्ति कहलाती है।

पाठगतप्रश्ना:-1.1

1. प्रमा के कितने भेद होते हैं तथा कौन-कौन होते हैं?
2. ज्येष्ठ प्रमाण कौन-सा होता है?
3. प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग कितने तथा किन अर्थों में होता है?
4. अन्त: करण सावयव अथवा निरावयव?
5. आकाश नित्य है अथवा अनित्य?
6. मन जो कार्य होता है, उसमें प्रमाण श्रुति कौन-सी है?

1.2) प्रत्यक्ष प्रमा

मैं घट को नहीं जानता हूँ, अर्थात् घट विषयक ज्ञानवाला मैं इस प्रकार के आकार के ज्ञान में अज्ञान का अनुभव होता है। इसलिए घटादि विषय अज्ञान से आवृत्त होते हैं। जब घटादि से अज्ञान का आवरण हटता है, तब घटादिविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। अज्ञान का निवारण कब होता है, जब उपरोक्त प्रकार से वृत्ति उत्पन्न होती है, तब घटादि विषयगत अज्ञान का आवरण हटता है। घटादि विषय वास्तविक रूप से तो घटादि विषय चैतन्य कहलाते हैं। जब घट का आवरण हटता है तब यह निवृत्ति ही विषय चैतन्य की अभिव्यक्ति कहलाती है। अगर ये कहें की पट से आवृत्त घट कब अभिव्यक्त होता है? उत्तर - जब पटात्मक आवरण हटता है तब अभिव्यक्त होता है। अर्थात् अज्ञान के आवरण की निवृत्ति ही विषय की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार से अभिव्यक्त विषय चैतन्य ही विषय प्रमा कहलाती है। और चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है। शुद्ध अर्थात् उपाधि रहित चैतन्य प्रमा नहीं है।

सन्निकर्ष

इन्द्रिय का जब विषय के साथ सम्बन्ध होता है तब वृत्ति उत्पन्न होती है उस वृत्ति से विषय चैतन्य अभिव्यक्त होता है। इन्द्रिय तथा विषय का वह सम्बन्ध ही सन्निकर्ष कहलाता है।

इन्द्रिय का करण

तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापार लक्षणम्। इन्द्रिय सन्निकर्षात्मक व्यापार के द्वारा प्रत्यक्ष प्रमा के प्रति कारण होता है। प्रत्यक्ष प्रमा इन्द्रिय जन्य होती है। जब तक सन्निकर्ष नहीं होता है तब तक

ध्यान दें:

प्रमा उत्पन्न नहीं होती है। इसलिए सन्निकर्ष को प्रमा का जनक कहा जाता है। इन्द्रियों का सम्बन्ध ही सन्निकर्ष कहलाता है। अत: सन्निकर्ष इन्द्रियजन्य भी होता है। इस प्रकार से सन्निकर्ष में इन्द्रियजन्यत्व है, तथा इन्द्रियजन्य प्रमा का जनकत्व होता है। इसलिए इन्द्रियजन्य होने पर इन्द्रियजन्यकत्व से सन्निकर्ष व्यापार होता है। व्यापार इन्द्रिय का ही होता है इसलिए इन्द्रियाँ व्यापारवान् कहलाती है। और इन्द्रिय प्रमा के प्रति कारण भी होती है। इसलिए इन्द्रियाँ व्यापारवान् असाधारण कारण कहलाती हैं। अत: इन्द्रियाँ प्रमा के प्रति कारण हैं ये सिद्ध होता है। और प्रमा का करण प्रमाण होता है। अत: इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमा के प्रमाण होती है।

अनादि चैतन्य प्रमा कैसे होती है

चैतन्य तो अनादि अर्थात् अजन्मा होता है, वह उत्पत्ति रहित होता है उसका आदि नहीं होता है। तथा प्रमा उत्पन्न होती है। चैतन्य ही प्रमा है ऐसा कहा गया है। प्रमा का करण प्रमाण कहलता है। करण अर्थात् करण विशेष। अत: जिसका कारण होता है वह प्रमा सादि अर्थात् जन्या उत्पन्न होने वाली होती है। प्रमा ही चैतन्य होती है। तब कहते हैं कि वह प्रमा सादि कैसे होती है तथा चैतन्य अनादि कैसे होता है? यदि चैतन्य अनादि होता है तो उसका कोई कारण सम्भव ही नहीं होता है, यह प्रश्न उत्पन्न होता है। तब कहा जाता है भले ही विशेष्य अनादि हो फिर भी उसका विशेषण यदि सादि हो तो विशेषण विशिष्ट वह विशेष्य भी सादि कहलाता है। प्रकृति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से अन्त: करणवृत्ति उत्पन्न होती है। उसी वृत्ति में विषय चैतन्य अभिव्यक्त होता है। वृत्ति सादि होती है वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य भी सादि तथा जन्य कहा जाता है। वह इस प्रकार से जैसे घट नील किया जाता है। इसमें नील अवछिन्न घट विशेष्यभूत होता है। वह पहले से ही उत्पन्न है। जब वह नीला किया जाता है तब वह अजन्य ही है, फिर भी विशेषणी भूत नीलगुण तो उसका उसी समय उत्पन्न होता है। इसलिए नीलावच्छिन्न घट भी उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है। उसी प्रकार वृत्तिविशिष्ट चैतन्य भी अजन्य है। फिर भी उसी की तरह छेदकवृत्ति इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न होती हैं। इसलिए उसी प्रकार वह अवच्छिन्न चैतन्य भी जन्य कहलाता है।

वृत्ति ज्ञानोपचार

सैद्धान्तिक दृष्टि से तो वृत्ति ही ज्ञान कहलाती है। लेकिन ज्ञान चैतन्य होता है। और वृत्ति: अन्त: करण का परिणाम जड होती है। तो फिर वृत्ति ही प्रमा कैसे है। और चेतन्य ही जड़ कैसे है। लेकिन सिद्धान्त में इन्द्रिय ही प्रमाण कहलाता है। करण का व्यापार अव्यवहित उत्तर वृत्ति उत्पन्न करता है। वह वृत्ति ही इन्द्रियों से बाहर जाती है तथा विषय के साथ लगकर विषयचैतन्य की अभिव्यक्ति करती है। यह करण ही प्रमा करण कहलाता है। प्रमा ही अभिव्यक्त चैतन्य होता है। इसलिए यह करण तो वृत्ति के प्रति करण होता है न की प्रमा के प्रति भले ही करणव्यापार से अव्यवहित होकर जो उत्पन्न होता है उसके प्रति वह करणत्व होता है।

अभिव्यक्त प्रमा चैतन्य की वृत्ति उपाधि होती है। यह वृत्ति ही प्रमा चैतन्य को अन्य चैतन्य में व्यावर्तित करती है। अत: यह वृत्ति प्रमा चैतन्य की अवच्छेदिका होती है। इसलिए वृत्ति ही चैतन्य रूप ज्ञान की अवच्छेदिका होती है। यह वृत्ति चैतन्य में अभेद से अध्यस्त होती हुई प्रमात्व को प्राप्त करती है। अत: वृत्ति में प्रमात्व के सत्व से वृत्ति प्रमा अर्थात् 'ज्ञान' इस प्रकार व्यवहार होती है। वृत्ति चक्षु आदि इन्द्रियों के व्यापार से अव्यवहित होकर उत्पन्न होती है। अत: इन्द्रिय वृत्ति के प्रति करण होती है। वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार होता है। इसलिए प्रमा के प्रति इन्द्रिय करण होती हुई प्रमाण होती है इस प्रकार से यह सिद्ध होता है। वृत्ति में ज्ञानत्व का व्यवहार गौंण होने से वह अध्यासविश होता है। न्याय मत में

ध्यान दें:

ज्ञान गुण होता है। वह समवाय से आत्मा में होता है। लेकिन वेदान्तशास्त्र में प्रमात्मक ज्ञान तो चैतन्य रूप में होता है। तथा उपचार से वृत्ति ही प्रमा कहलाती है। वृत्ति अन्तः करण धर्मवाली होकर मनोधर्म वाली होती है न की आत्मधर्मवाली, इसलिए श्रुतियाँ कहती हैं- कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्भीरित्येतत् सर्वं मन एव इति।

अर्थ- काम (इच्छा), सङ्कल्प (शुक्ल नील आदि भेद से विषयों का विकल्प तथा इस कर्म से यह इष्ट फल प्राप्त होता है इस प्रकार की विषय बुद्धि), विचिकित्सा (संशय), श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि, वेदादि शास्त्रों में दृढ विश्वास), अश्रद्धा (अनास्तिक्य बुद्धि, शास्त्रों में अविश्वास), धृति (धारणा इष्टवियोग में तथा अनिष्ट प्राप्ति में अवैक्लव्य, देहादि का अवसाद हेतु होने पर उत्तम्भन, अधृति (वहाँ पर वैक्लव्य) ही (अकार्य की प्रवृत्ति वश अप्रतिभत्व तथा लोकलज्जा), धी (बुद्धिवृत्ति) भी (भय) एय सब मन ही (अन्तः करण ही वृत्ति के रूप में परिणित है। इसलिए यह जो ज्ञान है वह श्रुति के द्वारा प्रमाणित है तथा इच्छा आदि इस प्रकार के मनोधर्म होते हैं।

ज्ञान आदि किसके धर्म होते हैं

मैं जानता हूँ, मैं इच्छा करता हूँ, इत्यादि प्रतीति सभी मनुष्यों की होती है। वहाँ मैं ज्ञानवान हूँ अथवा मैं इच्छावान हूँ इस प्रकार के प्रत्यक्ष अनुभव होते है। इस अनुभव से यह सिद्ध होता है कि ज्ञानादि आत्मा के धर्म हो न की मन के धर्म हैं इस प्रकार से नैयायिक आक्षेप करते है।

समाधान वस्तुतः आग जलकर के दहन करती है। लेकिन तप्त लौह पिण्ड में स्पर्श से भी जलने की प्रतीति होती है, वहाँ पर जला हुआ व्यक्ति कहता है कि लोहे का पिण्ड जलाता है। इसलिए कहा जाता है कि- आग तथा लोहे का पिण्ड का तादात्म्य आध्यास ही यहाँ कारण होता है। आग का दग्धृत्व धर्म लौह पिण्ड में आरोपित किया जाता है। इसी प्रकार आत्मा के द्वारा अन्तः करण के ऐक्य का अध्यास होता है। तब आत्मा में ज्ञानसुखादि अन्तः करण के धर्मों का अध्यास होता है। अध्यास वश ही अनुभव होता है कि 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि उपपादन किया जाता है।

मैं अर्थेभ्यश्च परं मनः सुखी हूँ इत्यादि अनुभव में जैसे सुख विषय होता है वैसे ही मैं पद अन्तः करण का विषय होता है। जैसे सुख प्रत्यक्ष होता है वैसे ही अन्तः करण भी प्रत्यक्ष ही अङ्गीकार करना चाहिए। इन्द्रिय विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। अतः अन्तः करण का प्रत्यक्ष होता है। अन्तः करण का अनिन्द्रयत्व को लिए श्रुति कहती है- **इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थो अर्थेभ्यश्च परं मनः** (अर्थात् इन्द्रियों से पर अर्थ होता है, और अर्थ से परे मन होता है)

1.3) प्रत्यक्ष प्रयोजक

इन्द्रियजन्यत्व प्रत्यक्ष का प्रयोजक होता है तो यहाँ पर अव्याप्ति दोष है 1. श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्व तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रयाँ होती हैं। यदि इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते है तब इन पाँच इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ही होता है। मन इन्द्रिय नहीं होता है। मन के द्वारा सुखादि का ज्ञान होता है। वह सुखादिविषयक ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है। परन्तु वेदान्त के मत में तो सुखादि का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। सुखादि प्रत्यक्ष इन्द्रियजन्य नहीं होते है। अतः यहाँ पर अव्याप्ति है। तथा प्रत्यक्षत्व का प्रयोजकत्व क्या है? यह प्रश्न उत्पन्न होता है।

इन्द्रियजन्यत्व यदि प्रत्यक्ष का प्रयोजन हो तो भी यहाँ अव्याप्ति दोष उत्पन्न होता है ईश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् ईश्वर जो जानता है वह सब प्रत्यक्ष ही होता है। लेकिन ईश्वर तो सर्वज्ञ होता है। तथा उसका ज्ञान नित्य होता है। उसमें ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। अतः वह इन्द्रिय जन्य नहीं होता

ध्यान दें:

है। यदि इन्द्रिय जन्यत्व ही प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होता तो ईश्वर के प्रत्यक्ष में अव्याप्ति होती है।

इन्द्रियजन्यत्व यदि प्रत्यक्ष का प्रयोजक है तो यहाँ पर भी अतिव्याप्ति दोष है । जो इन्द्रिय जन्य है वह प्रत्यक्षजन्यत्व प्रत्यक्षप्रयोजकत्व है तो यहाँ पर अनुमित भी इन्द्रियजन्या है। मन का सर्वज्ञान के प्रति कारण होता ही है। यदि मन इन्द्रिय है तो अनुमान के प्रति भी कारण मन का ही है। तो अनुमान में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति होती है। इसलिए क्या प्रत्यक्षत्व प्रयोजक है इस प्रकार का प्रश्न उत्पन्न होता है।

प्रत्यक्ष शब्द के तीन अर्थ प्रयोग

प्रत्यक्षत्व जिसमें हो वह प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तीनों अर्थों में होता है। जैसे प्रत्यक्ष प्रमा, प्रत्यक्ष विषय, तथा प्रत्यक्ष प्रमाण। प्रत्यक्ष प्रमा का करणत्व ही प्रमाणगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होता है। वह सुविदित है ही। इसलिए यहाँ प्रमागत प्रत्यक्षत्व का तथा विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है यह प्रस्तुत किया जाता है।

प्रयोजक

प्रयोजक शब्द का व्यवहार बाहुल्य से होता है। अतः प्रयोजक किसे कहते हैं यह समझना चाहिए। अव्यवधान से साक्षात् कार्यजनक कारण होता है। परम्परा के द्वारा कार्यजनक प्रयोजक होता है। कारण का कारण प्रयोजक होता है। जैसे वेग से प्रवाहित वायु से वृक्ष कम्पन करने लग जाते हैं। वृक्षकम्पन्न से फल वृक्ष से अलग होकर भूमि पर गिरते हैं तथा गिरने से टूट भी जाते हैं। यहाँ पर फलों के टूटने तथा फूटने में फल तथा भूमि का संयोग कारण होता है। वायु का प्रवाह तथा वृक्ष का कम्पन्न भी साक्षात् फल के भग्न होने का कारण नहीं वह तो परम्परा के द्वारा होता है। इसलिए यह फलभङ्गप्रयोजक कहलाता है।

इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान में ही प्रत्यक्षत्व होता है। अन्यज्ञान में नहीं होता है तो वहाँ उस ज्ञान में प्रत्यक्ष कहाँ नहीं है यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है। लेकिन ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है।

प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक इसका- 'यह ज्ञान प्रत्यक्ष है' इस प्रकार के व्यवहार का प्रयोजक होता है। 'यह विषय प्रत्यक्ष है' अर्थात् व्यवहार का प्रयोजक है। यह प्रमाण प्रत्यक्ष है, अर्थात् व्यवहार का प्रयोजक है।

वह इस प्रकार से है जैसे 'चैत्र प्रवासी' है यह वाचिक व्यवहार कब सम्भव होता है।अर्थात् चैत्रगत प्रवासित्व का प्रयोजक क्या है? चैत्र जब प्रवास करता है तब वह प्रवासी कहलाता है। अर्थात् प्रवासित्व चैत्र में रहता है। वह तब ही सम्भव होता है जब चैत्र प्रवास करता है, अर्थात् चैत्र का प्रवास करण चैत्रगत प्रवासित्व का प्रयोजक होता है।

उसीप्रकार प्रकृत प्रकरण में यह ज्ञान प्रत्यक्ष है, अथवा इस ज्ञान में प्रत्यक्षत्व है। यह कहाँ कहा जा सकता है यह भी एक अलोचनात्मक विषय है, अर्थात् ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व ही विमर्शनीय होता है।

विषयगत प्रत्यक्ष

प्रत्यक्ष ज्ञान विषयत्व अर्थात् प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होता है इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष है

प्रत्यक्षज्ञान विषयत्व प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय प्रत्यक्ष है इस प्रकार कहने पर वहाँ दोष होता है। प्रत्यभिज्ञा भी प्रत्यक्ष होता है। वह वह अदन्त अवगाहि ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। वह यह देवदत्त है इस आकारप्रत्यभिज्ञा में वह ही स्मृति विषय होता है तथा यह ही अनुभव

ध्यान दें:

होते हैं। उस अंश के प्रत्यक्ष नहीं है फिर भी वह वह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है।

प्रत्यक्ष ज्ञान विषयत्व प्रत्यक्षत्व के विषय में अव्याप्तिदोष है। लेकिन वह कभी भी प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं होता है। अत: अव्याप्ति दोष उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष विषयत्व विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक नहीं है।

साक्षी

अन्त:करणोपहित चैतन्य साक्षी होता है ऐसा कहा जाता है। साक्षी हमेशा प्रकाश स्वभाव युक्त होता है। साक्षी कभी भी घटादिवत् ज्ञान का विषय होकर प्रकाशित नहीं होता है। साक्षी स्वयं प्रकाश होता है। वह कभी भी अज्ञानावृत्त नहीं होता है।

साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च इति श्रुतिः। (श्वे.उ. 6.11)।

उदासीनत्व होने पर जिसमें बोद्धृत्व हो वह साक्षी का लक्षण होता है। यदि उदासीनत्व मात्र ही साक्षी का लक्षण हो तो इन्द्रियादि में अतिव्याप्ति होती है। उनका भी जड़ता के कारण उदासीनत्व होने से। इसलिए बोद्धृत्व का भी उसमें निवेश कराया जाता है। जिससे इन्द्रियादि के जड़त्व से तथा बोद्धृत्व के अभाव से अतिव्याप्ति नहीं होती है। यदि उदासीनत्वपपद अनुपादान में बोद्धृत्व मात्र साक्षिलक्षण होता है, तब जीव में अतिव्याप्ति होती है। जीव का भी बोद्धृत्व सम्भव होता है। इसलिए उदासीनत्व विशेषण उपादान होता है। जिससे अतिव्याप्ति नहीं होती है। जीव के उदासीनत्व भाव से जीव कर्ता भोक्ता इत्यादि रूप से सक्रिय है न की उदासीन।

तीन प्रकार का चैतन्य

ज्ञानगत का विषयगत का तथा प्रयोजकत्व क्या होता है? इसके प्रतिपादन में उपाधिवश चैतन्य के भेदों की कल्पना की गई है। उसके विषयक सुस्पष्ट ज्ञान आवश्यक है जो नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

वृत्ति क्या होती है इसका पूर्व में निरूपण हो चुका है। अन्त: करण के विषय का आकार अथवा अवस्था विशेष वृत्ति कहलाती है। इस वृत्ति के द्वारा अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण चैतन्य कहलाता है। वह ही वृत्यवच्छिन्नचैतन्य ही प्रमाण चैतन्य है, इस प्रकार से यहाँ पर प्रमाण का इन शब्दों के द्वारा चैतन्य को कहा जाता है।

जो घटादि ज्ञान के विषय होते हैं, तदवच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्य, विषय चैतन्य, इत्यादि शब्दों के द्वारा उसे कहा जाता है तथा वह ही प्रमेय चैतन्य इस नाम से भी कहा जाता है।

अन्त: करण का जितना अंश विषयाकार परिणाम नहीं होता है, उस अन्त: करणांश से अवच्छिन्न चैतन्य, अन्त: करणावच्छिन्न चैतन्य प्रमातृचेतन्य, प्रमाता इस प्रकार के शब्दों के द्वारा कहा जाता है।

चैतन्यं तु एकमेव। कथं तर्हि तस्य त्रैविध्यम्।

चैतन्य तो एक ही फिर उसके तीन प्रकार कैसे?

उपाधि भेद से चैतन्य के भेदों की कल्पना की जाती है। जैसे घटावच्छिन्न आकाश घटाकाश कहलाता है, मठावच्छिन्न आकाश मठाकाश कहलाता है। जब घट मठ से बाहर होता है तब दो अवच्छिन्न आकाश प्रतीत होते हैं। यहाँ आकाश में कोई भेद नहीं है, वहाँ केवल कल्पित भेद है। आकाश की उपाधि घटादि जब नष्ट होते हैं तो एक ही आकाश अवशिष्ट रहता है।

ध्यान दें:

इसी प्रकार अन्तः करण की वृत्ति विषय आदि उपाधियों का चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने से यह अन्तः करण अवच्छिन्न चैतन्य .वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य, विषयावच्छिन्न चैतन्य, इस प्रकार से व्यवहार उत्पन्न होता है। चैतन्य के भेद कल्पित होते हैं न की वास्तिविक। चैतन्य में स्वगत सजातीय तथा विजातीय भेद नहीं होते हैं यह सिद्धान्त है।

चैतन्य के साथ सम्बन्ध होने से चैतन्य में स्वयं के धर्म का आरोप करके चैतन्य में जो भेद उत्पन्न करती है वह उपाधि होती है।

शुक्तिविषयक अज्ञान दूरदेश में स्थित शुक्ति के विशेषांश शुक्तित्व का आवरण करता है। उस दोष से अज्ञान रजत्व में विपरिणत होता है। अज्ञान तथा शुक्ति सामान्याशं में अभेद से आश्रित होते हैं। तब शुक्तित्व से वह प्रकाशित नहीं होता है। लेकिन रजतत्व से प्रकाशित होता है।

इसी प्रकार विश्व व्यापक अज्ञान भी चैतन्य का आवरण करता है। उस दोष से अज्ञान घटादि रूपों में परिणित होते हैं। अज्ञान चैतन्य में अभेद से आश्रित होता है। तब चैतन्य चैतन्यत्व प्रकाशित नहीं होता है। लेकिन घटादि रूप से प्रकाशित नहीं होता है।

जब अज्ञान का परिणाम घटपटादि विषय चैतन्य में अभेद से आश्रित होता है तब वह विषय चैतन्य की उपाधि अथवा अवच्छेदक होता है। लेकिन तब वह विषय घटावच्छिन्न चैतन्य, तथा पटावच्छिन्नचैतन्य इत्यादि रूप से अभिन्न होने पर भी चैतन्य में काल्पनिक भेद को जन्म देता है।

इस प्रकार से तीन प्रकार का चैतन्य प्रतिपादित किया गया है।

पाठगत प्रश्नाः-2.1

1. प्रत्यक्ष प्रमा क्या होती है?
2. सन्निकर्ष क्या होता है?
3. व्यापार का लक्षण क्या होता है?
4. इन्द्रिय का करणत्व में कौन सा व्यापार होता है?
5. करण का क्या लक्षण है?
6. वृत्त्यात्मक ज्ञान किसका धर्म है?
7. काम धृति तथा इच्छा इत्यादि किसके धर्म होते हैं?
8. ज्ञानेन्द्रयाँ कितनी तथा कौन-कौन सी होती हैं?
9. मन इन्द्रिय हैं या नहीं?
10. मन के अनिन्द्रियत्व में श्रुति का क्या प्रमाण है?
11. ईश्वर का अनुमान किया जाता है अथवा नहीं?
12. प्रत्यभिज्ञा किसे कहते हैं?
13. साक्षी किसे कहते हैं?
14. प्रमाण चैतन्य क्या होता है?
15. प्रमातृ चैतन्य क्या होता है?

ध्यान दें:

प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण

1.3.1) ज्ञान प्रत्यक्ष का प्रयोजक

इसके बाद ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक क्या होता है इसका आलोचन किया जा रहा है।

प्रमाण चैतन्य का विषय अवच्छिन्न चैतन्य के साथ भेद ही ज्ञानगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक है। जिसका विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा अभिन्न प्रमाण चैतन्यत्व इस प्रकार से अर्थ होता है। अर्थात् जब विषयावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाण चैतन्य से अभेद होता है तब वहाँ जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है।

वह इस प्रकार से घट मठ से बाहर होता है, तब घटावच्छिन्न आकाश मठावच्छिन्न आकाश से भिन्न होता है। जब घट को मठ में स्थापित किया जाता है तब घटाकाश मठकाश से भिन्न नहीं होता है। अर्थात् जो घटाकाश होता है वह ही मठाकाश होता है। भले ही जो मठाकाश है वह ही घटाकाश हो ऐसा नहीं है। फिर भी सभी घटाकाश मठाकाश ही होते हैं। घट तथा मठ आकाश की दो उपाधियाँ होती हैं। तब आकाश ही उपहित कहलाता है अथवा उपधेय भी कहलाता है। दोनों उपाधियाँ एकदेश होने से उपहित का (उपधेय का) आकाश से अभेद होता है।

ऐसे ही जब विषय चैतन्य तथा प्रमाण चैतन्य एकदेश में होते है तब उपहित दोनों चैतन्य भिन्न नहीं होते है, उन दोनों चेतन्यों में अभेद ही होता है।

जब विषय बाह्य होते हैं तब उस विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है तो वृत्ति विषयदेश में चली जाती है। जब वृत्ति विषयादेश जाती है तब दोनों उपाधियाँ एकदेशस्य हो जाती हैं।

यह घट है। इस प्रत्यक्ष ज्ञानस्थल में विषय घट होता है तथा वह बाह्य एवं अन्यदेशस्य होता है। इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होने से अन्त: करण इन्द्रिय द्वार से बाहर जाता है, घटदेशस्य होता है। तथा उसका घटाकार के साथ परिणाम होता है। तब घटाकार वृत्ति होता है। उस देश में स्थित यह वृत्ति ही प्रमाण होती है। तथा वह अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण चैतन्य होता है। जब घटाकार वृत्ति होती है तब घट अवच्छिन्न चैतन्य का प्रमाण चैतन्य से अभेद हो जाता है। तब यह घट है इस प्रकार का घट विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। घट मठ में है अर्थात् दोनों का एकदेशस्थत्व है जिससे घठाकाश तथा मठाकाश में ऐक्य होता है। यह घट है, इस ज्ञान स्थल में घट चैतन्य की उपाधि है तथा वृत्ति चैतन्य की उपाधि है। जब वृत्ति घटाकार होती है घट वृत्ति में होता है अर्थात् घट वृत्ति का एकदेशस्थत्व है । तब उपधय दोनों चैतन्य का अभेद होता है। घट भूतल पर होता है, वृत्ति भूतल में नहीं होती है, वृत्ति घटाकार घट में आश्रित होती है। इसलिए दोनो उपाधियाँ भले ही एकदेश में नहीं है। फिर भी वृत्ति विषयाकार होती है। तब विषय तथा वृत्ति दोनों उपाधियाँ भी एकदेशस्य है इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है।

अनुमितस्थल में प्रत्यक्षत्व होता है

पर्वत के वह्निमान धूमान् इत्यादि अनुमान स्थल होते हैं। वह पर्वत वह्निमान है इस प्रकार का अनुमान उत्पन्न होता है। अनुमान से परोक्ष ज्ञान होता है न की प्रत्यक्ष ज्ञान। यहाँ पर्वत, वह्नि तथा उन दोनों में सम्बन्ध यह भासित होता है। भले ही पर्वत का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होता है तथा वह्नि का नहीं होता है। वृत्ति के बाहर गमन का हेतु ही इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष है। वह सन्निकर्ष पर्वत के साथ है अग्नि के साथ नहीं है। इसलिए वृत्ति पर्वताकार होती है वह्नियाकार नहीं होती है। विषय ही पर्वत तथा वह उपाधि है। वृत्ति भी उपाधि है। दोनों उपाधियाँ एकदेश में होती है। इसलिए उपधेय तथा चैतन्य में अभेद होता है। लेकिन वह्निस्थल में एकदेशस्थत्व नहीं होता है। इसलिए पर्वत वह्निमान्

ध्यान दें:

है। इस स्थल में पर्वतविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, तथा वह्निविषयक परोक्षज्ञान भी उत्पन्न होता है।

ज्ञानों का ही प्रत्यक्ष तथा उनके विषयों का प्रत्यक्षत्व तथा परोक्षत्व होता है। प्रत्यक्ष, अनुमान,उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, तथा अनुपलब्धि ये छः प्रकार के ज्ञान वेदान्त के मत में होते हैं। उनके कारण भी छः प्रकार के होते हैं। वे हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम (शब्द), अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि।

सभी ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा जाने जाते हैं। अर्थात् इनके ज्ञान विषयक ज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं जो साक्षात् आखों द्वारा जाने जाते हैं। परन्तु उनमें प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय घटादि भी प्रत्यक्ष ही होते हैं। अनुमान में आसित वह्नियादि विषय प्रत्यक्ष नहीं होते हैं। वह तो अनुमेय तथा परोक्ष होते हैं। इसी प्रकार अन्य ज्ञानों में भी समझना चाहिए। इसलिए जब घटादि विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है तब वह ज्ञान घटांश में प्रत्यक्ष कहा जाता है। ज्ञान विषयक ज्ञान हमेशा प्रत्यक्ष होता है लेकिन प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय ही प्रत्यक्ष तथा अन्यों का विषय परोक्ष कहलाता है।

प्रमेय

जब ज्ञान उत्पन्न होता है, तब कौन से विषय उत्पन्न होते हैं तथा कौन-कौन से प्रमेय होते तो विषय के सौकर्य के लिए यह कह सकते हैं कि

- बाह्यविषय अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञेय विषय द्रव्य होते हैं तथा उनके गुण, मूर्तद्रव्यगत क्रिया, जाति, उपाधि रूप धर्म आदि होते हैं।
- अन्तः करण में विद्यमान धर्म जैसे सुख दु:ख धर्म अधर्म इत्यादि होते हैं।
- अन्तः करण भी स्वयं विषय होता है तथा अन्तः करण में जो वृत्ति जन्म लेती है वह भी विषय होती है।
- प्रतिभासित रजतादिक। अभाव।
- साक्षी। आत्मा।

ये विषय जानने चाहिए। इनमें कौन प्रत्यक्ष होता है, कौन परोक्ष होता है, इस प्रकार का विवेचन भी प्रचलित है।

सुखादि विषय प्रत्यक्ष होते हैं।

सुखादिक प्रातिभासिकर जतादिक जो जब विषय होते हैं तब कैसे प्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं?

सुखादिक तो अन्तः करण के धर्म ही है। आन्तर विषय नहीं हैं और न बाह्य विषय हैं। इसलिए इन्द्रिय द्वारा वृत्ति का बाहर गमन आवश्यक नहीं है। इसलिए विषय तदाकार वृत्ति रूप में होते है तथा सदा एकदेश में रहते है। उससे तदवच्छिन्न तथा चैतन्य में अभेद होता है। इसलिए सुखादिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। सुखावच्छिन्न चैतन्य तथा सुखाकार वृत्यवच्छिन्न चैतन्य सदा एकदेश में अवस्थित रहता है। इसलिए सुखादियों का सदा प्रत्यक्ष ज्ञान ही उत्पन्न होता है। कभी भी परोक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। स्वागत सुख स्मृति में ही अतिव्याप्ति होती है।

जब स्व अतीत सुख की स्मृति होती है वहाँ सुख विषय होता है। वह अतीत होता है लेकिन अन्तः करण ही उसका देश होता है। सुखाकार स्मृतिरूप वृत्ति उदय होती है। वृत्तिदेश भी अन्तः करण ही होता है। इसलिए सुखात्मक उपाधि तथा वृत्यात्मक उपाधि एकदेश में ही होती है। इसलिए सुखावच्छिन्न चैतन्य

ध्यान दें:

का तदाकारवृत्यवच्छिन्न चैतन्य से हमेशा अभेद होता है। उससे अतीतसुख की स्मृति भी प्रत्यक्ष ज्ञान है इस प्रकार की आपत्ति होती है।

सुख तथा स्मृति तो प्रत्यक्षज्ञान होता है यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रचलित है। इसलिए अतिव्याप्ति के वारण के लिए विषयका वर्तमानत्व विशेषण होना चाहिए। अर्थ जब विषयाकार वृत्ति उदय होती है तब वह विषय यदि वर्तमान हो तो तद्विषयकज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है यह अङ्गीकार करना चाहिए।

सुख स्मृति स्थल में भले ही सुखात्मक उपाधि होती है तथा कुछ स्मृत्यात्मक उपाधि एकदेश में होती है फिर भी वह सुखा अतीत है वर्तमान नहीं है। इसलिए अतीत सुख विषयक स्मृति में प्रत्यक्षत्व की आपत्ति नहीं होती है।

इन सब से यह सिद्ध होता है कि यदि विषय वर्तमान है लेकिन दो उपाधियाँ एकदेश में है तो उपधेय चैतन्य का अभेद होता है तो ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् प्रमाण चैतन्य का वर्तमान विषय चैतन्य से अभेद होता है तथा प्रत्यक्षत्व प्रयोजक होता है।

स्वगत धर्माधर्म के ज्ञान में अतिव्याप्ति होती है

वेद विहित कर्म से कोई संस्कार विशेष उत्पन्न होता है वह धर्म तथा पुण्य इस प्रकार से कहलाता है। वह अन्त: करण में रुकता है।

जब चैत्र धार्मिक मैत्र से कहता है कि तुम धार्मिक हो। तब चैत्र का वाक्य मैत्र का स्वधर्म विषयक ज्ञान उत्पन्न करता है। उस ज्ञान में विषय धर्म होता है। वह धर्म मैत्र के अन्त: करण में होता है। इस प्रकार से वाक्य श्रवण मात्र से धर्माकार वृत्ति मैत्र के अन्त: करण में उत्पन्न होती है। इसलिए अन्त: करण धर्मदेश होता है। तथा उसका वृत्तिदेश भी अन्त: करण ही होता है। क्योंकि धर्म अन्त: करण में होता है तथा धर्म में वर्तमानत्व है। इसलिए प्रमाण चैतन्य का वर्तमान चैतन्य से अभेद यहाँ होता है। यहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रोक्त प्रयोजक है। उस धर्म के विषय में इस ज्ञान में प्रत्यक्षत्व आपत्ति होती है।

भले ही धर्म तथा अधर्म अन्त: करण में ही होते हैं। फिर भी उसके विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान कभी किसी मनुष्य में उत्पन्न नहीं होता है। धर्म तथा अधर्म अनुमान एवं आगम से ही जाने जाते हैं। न की प्रत्यक्ष प्रमाण से।

अत: अतिव्याप्ति के निवारण के लिए योग्यत्व विषय का विशेषण देना चाहिए।अर्थात् यदि योग्य विषय वर्तमान है तो कुछ दो उपाधियाँ एकदेश में होती हैं। तो उपधेय चैतन्य में अभेद होता है जिससे ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है। अर्थात् प्रमाण चैतन्य का योग्य वर्तमान विषय चैतन्य से अभेद होता है जो प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक होता है।

सुख तथा दु:ख अन्त: करण में होते हैं। धर्म तथा अधर्म भी अन्त: करण में होते है। फिर भी सुख तथा दु:ख में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। धर्म तथा अधर्म तो प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय है ही नहीं। इस प्रकार से यहाँ पर पार्थक्य का क्या कारण है? तब कहते हैं-

फलबलकल्प्य स्वभाव विशेष प्रयोजक होता है। फल यहाँ पर प्रत्यक्ष ज्ञान तथा अनुमान ज्ञान है। वहाँ सुख का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए सुख में प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक है। प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक उद्भूतत्व है। धर्म का तथा अधर्म का प्रत्यक्ष नहीं होता है। इसलिए वहाँ पर प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक उद्भूतत्व नहीं होता है। यह ही स्वभाव विशेष होता है जो कोई उद्भूतत्व होता है तथा कोई नहीं होता है। उद्भूतत्व तो लौकिक विषयात्व अथवा प्रत्यक्षत्व प्रयोजक धर्म विशेष होता है। अर्थात तादृश धर्म विशेष होता है जिससे उस धर्म का विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।

ध्यान दें:

ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के विषय में यह निर्गलित अर्थ है कि- तत्तत्प्रत्यक्ष-योग्य-वर्तमान-विषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्।

चाक्षुष प्रत्यक्ष योग्य वर्तमान घट का विषय होता है, तदवच्छिन्नचैतन्य का घटाकारवृत्यवच्छिन्न चैतन्य से अभेद ही तब उत्पन्न ज्ञान के घटांश में प्रत्यक्षत्व रूप में समन्वित होता है।

पाठगत प्रश्ना:-3.1

1. वेदान्त मत के अनुसार यह घट है इसका चक्षु से किस प्रकार प्रत्यक्ष होता है?
2. पर्वत् वह्निमान है धुएँ के कारण इस प्रकार के अनुमान स्थल में किसका प्रत्यक्ष होता है?
3. ज्ञान का प्रत्यक्ष, अनुमान अथाव शब्द इस में से कौन-सा होता है?
4. अनुमान प्रत्यक्ष के द्वार जाना जाता है अथवा नहीं?
5. सुख की स्मृति प्रत्यक्ष है अथवा नहीं?
6. पुण्य का कारण क्या है?
7. पाप किसे कहते हैं?
8. धर्म प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है अथवा नहीं?
9. अधर्म प्रत्यक्ष के द्वारा जाना जाता है अथवा नहीं?
10. ज्ञानगत प्रत्यक्ष का निर्गलित्व लक्षण क्या है?

विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक

इससे पूर्व ज्ञानगत प्रत्यक्ष क्या होता है इसका आलोचन विस्तार पूर्वक किया गया। इसके बाद विषयग प्रत्यक्ष क्या होता है इसका विस्तार पूर्वक उपस्थापन करते हैं।

प्रमात्वभिन्नत्व ही विषय का प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रमात्वभिन्नत्व इसका अर्थ हैं कि प्रमातृसतात्व के अतिरिक्त सत्ताकत्व का अभाव। प्रमातृसत्ता ही प्रमातृचैतन्य की सत्ता होती है। प्रमाता की जो सत्ता होती है उससे अतिरिक्त सत्ता होती है जिसकी वह प्रमातृसत्तारिक्त सत्ताकः कहलाता है। तत्व की दृष्टि से वह प्रमातृसत्तारिक्तसत्तात्व धर्म युक्त होता है। उस प्रकार का प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्व का अभाव ही प्रमातृ भेद होता है। यह भाव जिस विषय में होता है वह विषय प्रत्यक्ष कहलाता है।

विवरण

वेदान्त के मत में सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म में अध्यस्त है अविद्या से उपहित घटादियों विषयों से अवच्छिन्न जो चैतन्य है उसमें सभी प्रपञ्च अध्यस्त है। वहाँ अधिष्ठान चैतन्य होता है। अध्यस्त घटादि विषय होते हैं। सभी अध्यस्त विषय मिथ्या होते हैं। इसलिए उसकी स्वयं की कोई भी चैतन्य से भिन्न सत्ता नहीं होती है। अधिष्ठान चैतन्य अध्यस्तन की सत्ता होती है। अविद्या से उपहित घटावच्छिन्न चैतन्य ही घट का अधिष्ठान है। वह चैतन्य की सत्ता ही घठ की सत्ता है। उससे भिन्न घट की कोई भी सत्ता अङ्गीकार नहीं की जाती है।

जब अन्तः करण घटाकरा होता है। तब जैसे प्रमाणावच्छिन्न चैतन्य विषयावच्छिन्न चैतन्य

ध्यान दें:

एकदेशस्य होते हैं वैसे ही अन्तः करणावच्छिन्न चैतन्य अर्थात् प्रमातृचैतन्य भी विषय देशस्थ होता है। इस प्रकार से विषय चैतन्य प्रमाण चैतन्य, प्रमाण चैतन्य, तथा प्रमातृ चैतन्य एकदेशस्थ होते हैं। तब इन तीनों चैतन्यों का ऐक्य होता है।

इस प्रकार विषय की सत्ता ही वह अधिष्ठान होता है, जो वह विषयावच्छिन्न चैतन्य होता है। प्रमातृ चैतन्य का विषय चैतन्य से ऐक्य होता है। यहाँ प्रमातृ चैतन्य की जो सत्ता है वह ही सत्ता विषयावच्छिन्न चैतन्य की होती है। विषय की सत्ता ही विषयावच्छिन्न चैतन्य होता है। इसलिए प्रमातृ सत्ता से अतिरिक्त सत्ता विषय की नहीं होती है। इस प्रकार से प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्व भाव ही विषय में होता है। अतः उस प्रकार का विषय ही प्रत्यक्ष कहलाता है।

समन्वय

घट विषय चाक्षुषप्रत्यक्ष स्थल में घटावच्छिन्न चैतन्य की जो सत्ता होती है वह सत्ता घट की सत्ता कहलाती है। जब चक्षु तथा घट का सन्निकर्ष होता है। तब अन्तः करण में घट देखा जाता है जो घटाकार वृत्ति युक्त होता है। तब घटाकारचैतन्य घटाकारवृत्यवच्छिन्न प्रमाण चैतन्य तथा प्रमातृचैतन्य एकदेशस्य होता है, लेकिन उनमें अभेद होता है। वहाँ घट की सत्ता ही घटावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता होती है तथा घटावच्छिन्न चैतन्य एवं प्रमातृचैतन्य एक ही होता है। इसलिए प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्व का अभाव ही घट का होता है, इस प्रकार से घट ही प्रत्यक्ष विषय कहलात है। प्रत्यक्ष विषय ही अपरोक्ष विषय भी कहलाता है।

जब पर्वत वह्निमान इत्यादि अनुमान उत्पन्न होते हैं तब इन्द्रिय का पर्वत से सन्निकर्ष होता है न की वह्नि के साथ होता है। इसलिए अन्तः करण पर्वतेदेश में चला जाता है। न की वह्नि देश में जाता है। पर्वताकार वृत्ति जन्म लेती है वह्नियाकार उत्पन्न नहीं होती है। अतः प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्वाभाव पर्वत में होता है, वह्नि में नहीं होता है, जिससे पर्वत ही प्रत्यक्ष विषय कहलाता है, वह्नि प्रत्यक्ष विषय नहीं होती है।

धर्मादियों का प्रत्यक्ष विषयत्व निवारण

चैत्र धर्मवान है तथा सुखी है इत्यादि अनुमान स्थलों में धर्म अनुमान से ज्ञान होता है। तब धर्म की सत्ता धर्माविच्छिन्न चैतन्य ही होती है। अन्तः करण की कहीं भी जाने की आवश्यक्ता नहीं होती है, क्योंकि धर्म ही अन्तः करण में रहता है। अतः प्रमातृचैतन्य की सत्ता ही धर्मावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता होती है। इसलिए ही प्रमातृ सत्ता के अतिरिक्त सत्ताकत्व भाव धर्म में होता है। उससे धर्म की प्रत्यक्षत्व आपत्ति होती है। धर्म कभी भी प्रत्यक्ष नहीं होता है। अतः उसके वारण के लिए योग्यत्व ही विषय का विशेषण देना चाहिए। अर्थात् प्रमातृसत्ता से अतिरिक्ति सत्ताकत्वाभाव यदि प्रत्यक्ष योग्य विषय में हो तो वह विषय प्रत्यक्ष ही जानना चाहिए। इस प्रकार धर्म प्रत्यक्ष योग्य नहीं होता है। अतः प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्वाभाव धर्म में होता है। फिर भी प्रत्यक्षयोग्यत्व धर्म मे नहीं होता है तथा न यहाँ पर अतिव्याप्ति होती है।

अतीत सुख का अनुमान होता है तो सुखाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। सुख अन्तः करण में तथा वृत्ति भी अन्तः करण में होती है। तब प्रमातृचैतन्य का विषय चैतन्य से अभेद होता है। तब दोनों की सत्ता भिन्न नहीं होती है। और प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्त्वाभाव कुछ प्रत्यय योगत्व विषय में सुख होता है, इस प्रकार से अतिव्याप्ति होती है। उसके वारण के लिए वर्तमानत्व विषय का विशेषण देना चाहिए। प्रत्यक्षत्ववर्तमानत्व समानाधिकरण होते है तथा प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्वाभाव विषयगत प्रत्यक्ष का प्रयोजक होता है। अतीत के सुख में वर्तमानत्व के अभाव से अतिव्याप्ति नहीं होती है।

ध्यान दें:

नीला घट इस प्रत्यक्ष स्थल में घटगत नीलत्व प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि रूप में प्रत्यक्षयोग्यत्व, वर्तमानत्व तथा प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्वाभाव होता है। जिस घट मे घट नीलत्व होता है उस घट में ही घट का परिमाणादिक भाव भी होता है। नीलत्व और परिमाण घट में अर्थात एकदेश में होते हैं। अत: नीलत्वावच्छिन्न चैतन्य परिणामावच्छिन्न चैतन्य से अभेद है। अर्थात् नीलत्वावच्छिन्न चैतन्य का प्रमातृचैतन्य से अभेद होता है। नीलत्व की सत्ता तो नीलत्वावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता होती है। उसीप्रकार परिमाण की सत्ता भी परिमाणावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता ही है। इस प्रकार से परिमाण में वर्तमानत्व प्रत्यक्षयोग्यत्व तथा प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्वाभाव होता है। अत: परिमाण की प्रत्यक्षत्वापत्ति होती है। किन्तु जब रूप का प्रत्यक्ष होता है तब परिमाण का प्रत्यक्षत्व अङ्गीकार नहीं किया जाता है। अतिव्याप्ति के वारण के लिए तत्तदाकार वृत्त्युपहितत्व प्रमातृचैतन्य का विशेषण निवेश किया जाता है। इस प्रकार से प्रत्यक्ष योग्यत्व वर्तमानत्व तथा तत्तदाकारवृत्ति उपहित प्रमातृसत्ता के अतिरक्त सत्ताकत्व अभाव जिस विषय में होता है वह विषय प्रत्यक्ष होता है, इस प्रकार से समझना चाहिए। अर्थात् जिस विषय में प्रत्यक्षयोग्यत्व वर्तमानत्व होता है होता है तथा तदाकार ही जो वृत्ति होती है, तदुपहित जो प्रमातृचैतन्य उसका सत्ताकत्व अतिरिक्त सत्ताकत्वाभाव भी उस विषय मे ही यदि हो तो वह विषय प्रत्यक्ष होता है।

जब नीला घट इस प्रकार से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है तब चक्षु का नीलत्व के साथ संयुक्ततादात्म्यसम्बन्ध उत्पन्न होता है। तब नीलत्व चक्षुष की और उन दोनों के सम्बन्ध की स्वभाव वश नीलत्वाकार वृत्ति उत्पन्न होती है, गन्धादि आकार वाली वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। जब नीला घट इस प्रकार का ज्ञान होता है, तब नीला घट एक महान घट है इस प्रकार का ज्ञान भी सम्भव होता है। एक ही ज्ञान में एक ही ज्ञान में नीलत्व महत्व तथा एकत्व भासित नहीं होते हैं। अत: परिणामाकार वृत्ति सम्भव होती है। परन्तु यदि प्रमाता केवल नील घट ही अभिलाषा की इच्छा करता है तब परिणाम विषय नहीं होता है। जब परिणाम विषय नहीं होता है तब यह प्रश्न उत्पन्न होता है। वहाँ पर नीलत्व के आकारवाली वृत्ति से प्रमातृचैतन्य उपहित होता है। अत: नीलत्व प्रत्यक्षयोग्यत्व वर्तमानत्व नीलत्वाकार वृत्ति उपहित प्रमातृसत्तारिक्तसत्ताकत्व भाव होता है। इसलिए नीलत्व प्रत्यक्ष विषय ही होता है। परिणामाकार वृत्ति नहीं है। इसलिए परिणामाकार वृत्ति से उपहित चैतन्य भी नहीं है। इसलिए भले ही परिणाम में प्रत्यक्षयोग्यत्व वर्तमानत्व है फिर भी परिणामाकार वृत्ति उपहित प्रमातृसत्तारिक्त सत्ताकत्वाभाव नहीं है तथा परिमाण प्रत्यक्ष विषय भी नहीं है।

न्याय के मत में यह घट है इस प्रकार का प्रथम ज्ञान व्यवसाय कहलाता है। व्यवसायिक विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान अनुव्यवसाय कहलाता है। लेकिन वेदान्ति व्यवसाय के ज्ञान को अनुव्यवसाय के द्वारा अङ्गीकार नहीं करते हैं। इस प्रथम ज्ञान ही प्रमता प्रमिते तथा प्रमेय तीनों रूपो में भासित होता है। जब घट ज्ञान में भासित होता है तब घटाकार वृत्ति भी उसी ज्ञान में भासित होती है।

जब घट विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है तब घटाकार वृत्ति विषयक प्रत्यक्ष भी उत्पन्न होता है। परन्तु घट के ज्ञान के लिए घटाकार वृत्ति तथा वृत्ति के ज्ञान के लिए वृत्याकार दूसरी वृत्ति होती है। तथा द्वितीय वृत्ति के ज्ञान के लिए तीसरी वृत्ति इस प्रकार से नहीं होती है। अर्थात् द्वितीय तृतीयादि वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होती हैं। लेकिन घटाकार स्वयं विषयों को जन्म देती है। तथा घटाकार वृत्ति ही स्वयं अभी स्वयं का विषय होती है। इसलिए वृत्युपहित प्रमातृसत्तारिक्त उसकी सत्ता नहीं होती है। अर्थात् उसमें वृत्त्यपहित प्रमातृसत्तारिक्त सत्ताकत्व भाव होता है य इसी प्रकार उसमें वर्तमात्व तथा प्रत्यक्षयोग्यत्व भी होता है। वह वृत्ति ही प्रत्यक्ष विषय है।

1. अन्त:करणम, 2. तद्धर्म सुखादि, 3. वृत्ति, 4. प्रातिभासिकरजतादिक और 5. साक्षी ये इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। लेकिन जैसे घटादि प्रत्यक्षस्थल में इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से अन्त: करण विषय देश में चला जाता है तब विषयाकार प्रमाण वृत्ति उत्पन्न होती है। तथा इन सभी विषयों में

ध्यान दें:

नहीं होती है। इनका किसी भी इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं होता है। इसलिए तदाकार प्रमाणवृत्ति नहीं होती है।

विषय अज्ञान से आवृत्त होता है। जो विषय अज्ञान से आवृत्त होता है उस विषय में ही संशय विपर्यय आदि उत्पन्न होते है। विषय के ज्ञान के लिए इस प्रकार के अज्ञान का भङ्ग आवश्यक होता है तथा साक्षी चैतन्य के साथ सम्बन्ध भी आवश्यक होता है। इस प्रकार आवरण भङ्ग तथा साक्षी चैतन्य के साथ सम्बन्ध ये दोनों एक साथ कैसे सम्भव है। जब इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता है तब अन्त: करण इन्द्रियों के द्वारा विषय देश में चला जाता है तथा विषयाकार प्रमाणवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। तब दोनों चैतन्य में अभेद होता है जिससे आवरण भङ्ग हो जाता है। और प्रमाण वृत्ति के द्वारा साक्षी चैतन्य का विषय के साथ सम्बन्ध भी होता है। इस प्रकार आवरण भङ्ग साक्षी सम्बन्ध को सम्पादित करता है।

जो विषय अज्ञान से आवृत नहीं है तथ जिनका साक्षी चैतन्य से सम्बन्ध है। उन दोनों के प्रकाशन के लिए कोई भी प्रमाण वृत्ति अपेक्षित नहीं है। वे विषय है 1. अन्त:करणम, 2. तद्धर्म सुखादि, 3. वृत्ति तथा प्रातिभासिक रजतादि, इन विषयों में किसी का भी संशय विपर्ययादि नहीं होते हैं। इसलिए ये अज्ञान से आवृत नहीं होते हैं। लेकिन ये साक्षी चैतन्य में आश्रित होते है जिससे इनका साक्षी के साथ साक्षात् सम्बन्ध भी होता है। इनके ज्ञान के लिए जब तक साक्षी चैतन्य विषयाकार नहीं होता है तब तक प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता है। साक्षी चैतन्य निराकार होता है। उसका सुखादि आकारत्व स्वयं का सम्भव नहीं होता है। अत: चैतन्य के चैतन्य के विषय आकारत्व के लिए अविद्या वृत्ति उत्पन्न होती है। यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रमाण वृत्ति तथा अविद्यावृत्ति भिन्न-भिन्न होती हैं तथा अविद्यावृत्ति अन्त: करणवृत्ति नहीं होती है।

प्रत्यक्ष योग्यत्व वर्तमात्व तत्तदाकारवृत्ति उपहित प्रमातृसत्तारिक्त सत्ता भाव जिस विषय में होता है वह विषय प्रत्यक्ष ही होता है। ऐसा कहा जा चुका है। सुखादि वर्तमान प्रत्यक्ष योग्य होते है लेकिन तत्तदाकार अविद्या वृत्ति भी उत्पन्न होती है। अत: तत्तदाकारवृत्ति उपहित प्रमातृ सत्ता के अतिरक्त उनकी सत्ता नहीं होती है। यह लक्षण समन्वय होता है। भले ही सुखादि के लिए इन्द्रिय के द्वारा बाहर अन्त: करण की बाहर गमन के अभाव से प्रमाण वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है फिर भी अविद्यावृत्ति उत्पन्न होती है।

कुछ विषय साक्षी कहलाते हैं तथा कुछ विषय केवल साक्षी कहलाते हैं। जिनकी इन्द्रिय के सन्निकर्ष के द्वारा तत्तदाकारवृत्ति होती है वह वह प्रमाणवृत्ति होती है। जिनके प्रकाशन के लिए प्रमाण वृत्ति अपेक्षित है अथवा अनुमानादिक व्यापार अपेक्षित है वे साक्षीवेद्य कहलाते है। जिनके प्रकाशन के लिए प्रमाण वृत्ति अपक्षित नहीं है तथा अनुमानादिक प्रमाणव्यापार भी अपेक्षित नहीं है, केवल अविद्यावृत्ति ही अपेक्षित है वे केवलसाक्षीवेद्य कहलाते है।

वहाँ पर यह कहा गया है कि- स्वाकारवृत्त्युपहित, प्रमातृ, चैतन्य, सत्तातिरिक्त, सत्ताकत्वशून्यत्वे सति योग्यत्वे सति वर्तमानत्वं विषयगतं प्रत्यक्षत्वम् (अर्थात्- स्वाकारवृत्त्युपहित प्रमातृ चैतन्य सत्तातिरिक्त सत्ताकत्व शून्यत्व होने पर तथा योग्यत्व होने पर वर्तमानत्व विषयगत प्रत्यक्षत्व होता है।) इस प्रकार से यहाँ पर विषय होता है।

इस प्रकार से ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या होता है तथा विषयगत का, प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या होता है इसका अति विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न:-4.1

1. जगत् किसमे अध्यस्त होता है?
2. वेदान्त के मत में अनुव्यवसाय अङ्गीकार किया गया है अथवा नहीं?
3. सुख अज्ञान वृत्ति है अथवा नहीं?
4. साक्षी वेद्या कौन-कौन होते हैं?
5. केवल साक्षी वैद्य कौन-कौन होते हैं?
6. विषयगत प्रत्यक्षत्व प्रयोजक का निष्कृष्ट लक्षण क्या है?

पाठ सार

प्रमा के छः भेद होते हैं प्रत्यक्ष प्रमा, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि इनमें से प्रत्यक्ष प्रमा ही इस पाठ में विस्तार पूर्व बताई गयी है। सावयव अन्तः करण चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा बह जाने पर विषयाकार होती है। यह घटादि विषयाकार से अन्तः करण का परिणाम ही वृत्ति कहलाता है। उससे घटादि द्रव्य जाने जाते हैं। द्रव्यवृत्ति गुणों का द्रव्य से अत्यन्त भेद नहीं होता है। अतः जिस प्रकार से द्रव्याकार वृत्ति होती है वैसे ही गुणादि आकार वृत्ति भी होती है। अन्तः करण की अवस्था विशेष जहाँ अस्तित्व आदि व्यवहार का प्रतिबन्धक अज्ञान का निवारण होता है वह अवस्था ही वृत्ति कहलाती है। जब घटादि विषयाकार वृत्ति होती है तब घटादि विषय चैतन्य में अभिव्यक्त होता है। यह अभिव्यक्त चैतन्य ही प्रत्यक्ष प्रमा है न की उपाधि रहित चैतन्य।

जिस वृत्ति के द्वारा विषय चैतन्य अभिव्यक्त होता है उस वृत्ति का इन्द्रिय के विषय से जो सम्बन्ध उत्पन्न होता है वह सम्बन्ध सन्निकर्ष कहलाता है। इन्द्रिय ही सन्निकर्षात्मक व्यापार के समान प्रमा के प्रति असाधारण करण रूप में होती है, इस प्रकार से इन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमा का करण सिद्ध होती है।

वृत्यभिव्यक्त चैतन्य प्रत्यक्ष प्रमा कहलाता है, भले ही चैतन्य उत्पन्न नहीं होता है फिर भी उसकी अवच्छेदवृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए तदवच्छिन्न चैतन्य भी जन्य कहलाता है। भले ही ज्ञान चैतन्य ही है फिर भी अध्यवसात वृत्ति ही ज्ञान कहलाती है। इस प्रकार का व्यवहार होता है।

ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म इत्यादि अन्तः करण के धर्म होता है। जहाँ 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार का सुख आत्म धर्म प्रतीत होता है, तब वहाँ कहा जाता है कि आत्मा के द्वारा अन्तः करण का ऐक्याध्यास होता है। तब आत्मा में ज्ञान सुखादि का, अन्तः करणधर्मों का आरोप तथा अध्यास होता है। अध्यास वस ही मैं सुखी हूँ इत्यादि अनुभव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मन इन्द्रिय नहीं होता है। तथा अन्तः करणोपहित चैतन्य साक्षी कहलाता है। साक्षी सदा प्रकाश स्वभाव का होता है।

कोई भी ज्ञान प्रत्यक्ष है यहाँ पर प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है? कोई भी विषय प्रत्यक्ष है यहाँ पर प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है? इसी प्रकार ज्ञान गत प्रत्यक्षत्व का तथा विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है इस प्रकार से इन सभी विषयों का इस पाठ में आलोचन किया गया है। प्रमाण चैतन्य का योग्य वर्मतनान चैतन्य से अभेद होता है, प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक सिद्धान्त होता है।

स्वीकारवृत्युपहित प्रमातृ चैतन्य सत्तातिरिक्त सत्ताकत्व शून्यत्व होने पर तथा योग्यत्व होने पर वर्तमानत्व विषयगत प्रत्यक्षत्व होता है। यह सिद्धान्त है-

पाठ-6

प्रत्यक्ष खण्ड में प्रत्यक्ष प्रमाण

ध्यान दें:

आपने क्या सीखा

- वेदान्त मत में प्रमा के भेदों को जाना,
- छ: प्रकार की प्रका में प्रत्यक्ष प्रमा को जाना,
- वृत्ति को जाना,
- इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष को जाना,
- ज्ञान, सुख, दु:ख, धर्म तथा अधर्म किसके धर्म हैं यह जाना,
- ज्ञानगत प्रत्यक्ष तथा विषयगत प्रत्यक्ष को जाना,

पाठान्त प्रश्न

1. अन्त:करण के सावयत्व का प्रतिपादन कीजिए।
2. वृत्ति कैसे उत्पन्न होती है यह लिखिए।
3. गुण क्रिया आदि आकार वाली वृत्ति कैसे उत्पन्न होती है?
4. प्रत्यक्ष प्रमा को विस्तार पूर्वक बताइए।
5. इन्द्रिय के करणत्व का प्रतिपादन कीजिए।
6. वृत्ति में ज्ञानत्व उपचार कैसे होता है।
7. अनादि चैतन्य प्रमा कैसे हैं?
8. ज्ञान आदि मन के धर्म होते हैं इसका प्रतिपादन कीजिए।
9. साक्षिलक्षण का दलकृत्य करके उपस्थापन कीजिए।
10. प्रमाण चैतन्यादि तीन प्रकार के चैतन्य का वर्णन कीजिए।
11. चैतन्य तो एक ही होता है। फिर उसके तीन प्रकार कैसे होते हैं?
12. ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व के प्रयोजक का लक्षण दलकृत्य करके उपस्थापित कीजिए।
13. पर्वत वह्निमान है धूएँ से, इत्यादि अनुमानस्थल में किसका प्रत्यक्षत्व है तथा कहाँ से है?
14. सुखादि विषयक प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न होता है?
15. प्रमाण चैतन्य का वर्तमान चैतन्य से अभेद तथा प्रत्यक्ष का प्रयोजक तथा प्रयोजक लक्षण में यदि वर्तमानत्व विषय विशेषण नहीं हो तो क्या आपत्ति होती है।
16. प्रमाण चैतन्य का योग्य वर्तमान विषय चैतन्य से अभेद प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक प्रयोजक लक्षण में योग्यत्व यदि विषय विशेषण नहीं हो तो क्या आपत्ति है?
17. घटावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता घट की सत्ता किस प्रकार से हैद्य
18. पर्वत वह्निमान है इत्यादि अनुमान स्थलों मे पर्वत का प्रत्यक्षविषयत्व कैसे नहीं है?
19. सुखादि साक्षिवेद्यों का प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न होता है?

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.1

1. प्रमा छः प्रकार की होती है, प्रत्यक्षप्रमा, अनुमिति, उपमिति, शाब्दी, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि।
2. प्रत्यक्ष।
3. प्रत्यक्ष शब्द का प्रयोग तीन अर्थों में किया जाता है। प्रत्यक्ष प्रमाण, प्रत्यक्ष ज्ञान तथा प्रत्यक्ष विषय।
4. सावयव।
5. अनित्य।
6. उनमें से मन का सृजन हुआ इस प्रकार से।

पाठगत प्रश्न:-2.1

1. प्रत्यक्ष प्रमा चैतन्य है।
2. जिस वृत्ति के द्वारा विषय चैतन्य अभिव्यक्त होता है उस वृत्ति का इन्द्रिय के विषय से जो सम्बन्ध उत्पन्न होता है वह सम्बन्ध सन्निकर्ष कहलाता है।
3. तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापारलक्षणम्।
4. सन्निकर्ष
5. व्यापारवान असाधारण कारण करण होता है।
6. अन्त: करण का
7. अन्त: करण का
8. श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं।
9. नहीं
10. मन के अनिन्द्रियत्व में श्रुति का यह प्रमाण है - इन्द्रियेभ्य: परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन: इति।
11. नहीं
12. तत्तेदन्तावगाहि ज्ञान हि प्रत्यभिज्ञा। कहलाता है।
13. अन्त: करणोपहित चैतन्य साक्षी कहलात है।
14. अन्त: करण की विषयाकार परिणामविशेष जो वृत्ति होती है उस वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य ही प्रमाण चैतन्य कहलाता है।
15. अन्त: करण का जितना अंश विषयाकार परिणाम नहीं होता है उस अन्त: करण के अवच्छिन्न अंश से चैतन्य अन्त: करणावच्छिन्न चैतन्य, प्रमातृ चैतन्य तथा प्रमाता इस प्रकार के शब्दों के माध्यम से कहा जाता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न:-3.1

1. यह घट है। चाक्षुषप्रत्यक्षस्थल में घट बाह्य तथ अन्य देशस्य होता है। चक्षुष का घट के साथ संयोगवश अन्त: करण चक्षु के द्वारा बाहर आता है तथा घटदेशस्य होता है अर्थात् उसका घटाकार से परिणाम होता है। तदवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण चैतन्य कहा जाता है। यह वृत्ति ही प्रमाण है। उससे अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण चैतन्य कहा जाता है। जब घटाकार वृत्ति होती है तब घटावच्छिन्न चैतन्य का प्रमाण चैतन्य से अभेद होता है तब 'यह घट है' इस प्रकार का घटविषयक चाक्षुषप्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है।
2. पर्वत का
3. प्रत्यक्ष का
4. जाना जाता है।
5. नहीं
6. वेदमूलक शास्त्र विहित कर्मजन्य अन्त: करण का संस्कार विशेष पुण्य कहलाता है।
7. नहीं।
8. नहीं।
9. वह प्रत्यक्ष योग्य वर्तमान विषय अवच्छिन्न चैतन्याभिनत्व तदाकारवृत्त्यवच्छिन्न ज्ञान का त्ततदांश में प्रत्यक्षत्व होता है।
10. जगद् अवच्छिन्न चैतन्य में।

पाठगत प्रश्न:-4.1

1. नहीं।
2. नहीं।
3. नहीं।
4. जिनके प्रकाशन में प्रमाणवृत्ति अपेक्षित है अथवा अनुमानादिप्रमाणव्यापार अपेक्षित है वे विषय साक्षिवेद्य कहलाते है।
5. जिनके प्रकाशन के लिए प्रमाण वृत्ति अपेक्षित नहीं है तथा अनुमानादि प्रमाण भी अपेक्षित नहीं है, केवल अवद्यावृत्ति ही अपेक्षित है वे विषय केवल साक्षी वेद्य कहलाते है।
6. स्वाकार वृत्युपहित प्रमाता चैतन्य का सत्ता अतिरिक्त सत्ताकत्वशून्यत्व में योग्यता होने पर वर्तमात्व विषयगत प्रत्यक्षत्व होता है।

ध्यान दें:

7

प्रत्यक्षप्रमाण का प्रत्यक्ष प्रमाणों के साथ भेद

पूर्वपाठ में दर्शन के भेद, प्रमाण तथा प्रमाणों के भेदों के विषय में आलोचन किया गया है। वहाँ प्रत्यक्ष प्रमा क्या है? इसका विस्तार पूर्वक उपस्थापन करके किसी भी ज्ञान के प्रत्यक्ष तथा प्रत्यक्षत्व का प्रयोजन क्या है। कोई भी विषय यदि प्रत्यक्ष हो तो उसके प्रत्यक्षत्व का प्रयोजन क्या है। और ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का तथा विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक क्या है इन दोनों विषयों का विस्तार पूर्वक आलोचन किया गया है।

इस पाठ में प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रकार कितने है? इस विषय को प्रस्तुत किया जा रहा है। अन्तः करण के वृत्ति भेद से बुद्धि,मन,अहङ्कार तथा चित्त इत्यादि नाम कैसे होते हैं। इस विषय का भी सुयुक्ति प्रतिपादन किया जाएगा। प्रत्यक्ष ज्ञान का सविकल्प तथा निर्विकल्प भेद से दो प्रकार से उपस्थापन किया जाएगा तथा तत्वमसि इस महावाक्य में निर्विकल्प ज्ञान किस प्रकार से उत्पन्न होता है इस की भी व्याख्या की जाएगी।

जीव साक्षी तथा ईश्वर साक्षी रूप प्रत्यक्ष भेदों का प्रतिपादन किया जाएगा। प्रसङ्ग से जीव तथा जीवसाक्षी ईश्वर तथा ईश्वरसाक्षी इन दोनों विषयों का भी स्पष्टीकरण किया जाएगा।

प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रकारान्तर से इन्द्रिय जन्य तथा इन्द्रिय अजन्य इस प्रकार से दो भागों मे बाँटा गया है, इसका उपस्थापन करके प्रसङ्ग पूर्वक सन्निकर्ष के भेदों का का भी स्पष्टीकरण किया जाएगा।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़ने से आप सक्षम होंगे;

- प्रत्यक्ष सविकल्प तथा निर्विकल्प भेद को जान पाने में,
- प्रत्यक्ष प्रमाण का इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रिय अजन्य दोनों भेदों को जान पाने में,
- बुद्धि आदि वृत्तिभेदों को समझ पाने में;
- जीव तथा जीव साक्षी, ईश्वर तथा ईश्वरसाक्षी इस विषय को जान पाने में;

ध्यान दें:

1.1) बुद्ध्यादि

सर्वप्रथम इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होता है। सन्निकर्ष से अन्त:करण अर्थात् अर्थ देश में जाता है। वहाँ से अर्थाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। उससे प्रमेय चैतन्य तथा प्रमाण चैतन्य में अभेद होता है। तब अर्थ विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। वहाँ चैतन्य अभिव्यञ्जक वृत्ति चार प्रकार की होती है। 1) संशय 2) निश्चय 3) गर्व तथा 4) स्मरणम् भेद से। इसका तात्पर्य है कि वह वृत्ति चार प्रकार के ज्ञान वाली होती है। मैं चिद्रूप हूँ अथवा देह हूँ इस प्रकार का ज्ञान संशय कहलाता है। मैं चिद् रूप ही हूँ, इस प्रकार का ज्ञान निश्चय कहलाता है। गर्व मद होता है। वह अपने उत्कर्ष के ज्ञान से होता है जैसे मैं महात्मा हूँ, धनवान हूँ, मेरे जैसा संसार में कौन है? मैं ही कर्ता हूँ मैं ही भोक्ता हूँ इस प्रकार से। स्मरण ही स्मृति होती है। अतीत में अनुभूत विषय के संस्कार मात्र का ज्ञान स्मृति कहलाती है। इसलिए कहा गया है।

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणान्तरम।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे॥

कारिका का अर्थ संशयाकार अन्त: करण की वृत्ति ही मन है। निश्चयाकार अन्त: करण की वृत्ति ही बुद्धि है। गर्वाकार अभिमानात्मिका अन्त: करण की वृत्ति ही अहङ्कार है तथा स्मृतिविषयाकार अन्त: करण की वृत्ति ही चित्त है। इस प्रकार एक ही अन्त: करण वृत्तिभेद से मन बुद्धि चित्त तथा अहङ्कार चार प्रकार से कहलाता है।

जिनके द्वारा वृत्ति चतुष्टय कही जाती है उनका मत इस प्रकार से है- मन का विषय बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों ही होते हैं। अहङ्कार का विषय तो अनात्म उपयुक्त आत्मा ही है इस प्रकार मन तथा अहङ्कार के विषय भेद से वृत्ति भी दो प्रकार की होती है। बुद्धि का विषय अपूर्व होता है। चित्त का विषय तो पूर्वानुभूत होता है जो पूर्व नहीं होता है इस प्रकार के विषय भेद से यहाँ भी बुद्धि तथा चित्त दो प्रकार के होते है। इस प्रकार से वृत्ति चार प्रकार की कही जाती है।

किन्हीं के मत में बुद्धि दो प्रकार की ही होती है। तब तो अहङ्कार का मन में अन्तर्भाव होता है। तथा चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव होता है। मन संकल्प तथा विकल्पात्मक होता है।अहङ्कार संकल्पात्मक होता है। अत: उसका मन में अन्तर्भाव होता है। बुद्धि निश्चयात्मिका होती है। चित्त भी निश्चयात्म ही होता है।

विवरण सम्प्रदाय के मत में प्रमाण वृत्ति तथा अविद्या वृत्ति इस प्रकार का वृत्तिभेद पहले से ही प्रदर्शित किया जाता है। मन अहङ्कार तथा चित्त प्रमाणवृत्ति नहीं होता है। ये अविद्या कि वृत्तियाँ होती है। इसलिए चार प्रकार के वृत्तिभेद से भी वे सम्भव नहीं होते हैं। दोनों भेद भी सम्भव नहीं होते है यह भी समझना चाहिए।

1.2) प्रत्यक्षज्ञान के प्रकार

विविध प्रकार से प्रत्यक्ष ज्ञान के भेद प्रतिपादित किये जाते हैं उनका यहाँ पर क्रम से उपस्थापन किया जा रहा है।

1.2.1) प्रथम: प्रकार:

प्रत्यक्ष ज्ञान सविकल्प तथा निर्विकल्प भेद से दो प्रकार का होता है।

ध्यान दें:

सविकल्प ज्ञान

वैशिष्ट्य अवगाहि ज्ञान सविकल्प ज्ञान (संसर्गावगाहि ज्ञान) कहलाता है। विशेष्य तथा विशेषण का सम्बन्ध (संसर्ग) ही वैशिष्ट्य कहलाता है। वैशिष्ट्य अर्थात् संसर्ग का जो अवगाहन करता है उनके विषयों को ग्रहण करता है वह वैशिष्ट्यावगाहि अर्थात् संसर्गावगाहि ज्ञान कहलाता है। विशिष्टत्व के द्वारा कल्पित ज्ञान विकल्पात्मक ज्ञान होता है। वह ज्ञान विशेषण तथा विशेष्य के सम्बन्ध विषयक ज्ञान होता है। अर्थात् जिस ज्ञान में वैशिष्ट्य भासित होता है वह सविकल्पक ज्ञान कहलाता है। तथा विशेषण का प्रकार भी कहलाता है।

घटत्व विशिष्ट घट जब यह वाक्य होता है। तब घटत्व वैशिष्ट्य को घट में रूपों के द्वारा प्रकटित कर सकते है। यहाँ पर घट वैशिष्ट है यह वैशिष्ट्य घटत्व का घट के साथ सम्बन्ध विशेष है न की कुछ और,यहाँ पर घटत्व प्रकार होता है।

यह घट है इस प्रकार से एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। इस ज्ञान में घटत्व विशेषणत्व से भासित होता है। तथा घट विशेष्यत्व से भासित हो रहा है। इस प्रकार से घट तथा घटत्व में तादात्म्य सम्बन्ध भासित हो रहा है। यह सम्बन्ध ही वैशिष्ट्य कहलाता है। इसलिए इस ज्ञान में वैशिष्ट्य भासित होने के कारण यह सविकल्पात्मक ज्ञान है। जिस ज्ञान में प्रकार प्रकारत्व से भासित होता है वह ज्ञान भी सविकल्पात्मक ज्ञान कहलाता है। अर्थात् प्रकार के साथ ज्ञान सविकल्पात्मक ज्ञान होता है।

मैं इस घट का ज्ञानवान हूँ, यह अपर उदाहरण दिया जाता है। इस ज्ञान में घट विषयक ज्ञान विशेषणत्व से भासित होता है। तथा आत्मा विशेष्यत्व से भासित होती है। उन दोनों में तादत्म्य सम्बन्ध भी भासित होता है। इसलिए यह ज्ञान सविकल्पक ज्ञान कहलाता है।

निर्विकल्पक ज्ञान

संसर्ग अनवगाहि ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान कहलाता है। जैसे वह यह देवदत्त है, वह तुम हो इत्यादि।

आगम प्रमाण से शब्द प्रमाण से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह शाब्द ज्ञान कहलाता है।

सामान्यत: शाब्दज्ञान संसार्गावगाहि ज्ञान होता है अर्थात् सविकल्प होता है। परन्तु वह यह देवदत्त है इत्यादि स्थानों में यह ज्ञान निर्विकल्प होता है। यह ज्ञान कैसे निर्विकल्प होता है इसका नीचे से उपस्थापन किया जाएगा। महावाक्य के पदार्थ के शोधन में इसका महान् उपयोग होता है।

सोऽयं देवदत्तः इति वाक्याद् निर्विकल्पकं ज्ञानम्

(वह यह देवदत्त है इस वाक्य से निर्विकल्पक ज्ञान होता है)

देवदत्त के सम्मुख स्थित चैत्र भी सन्देह में है कि जो यह सम्मुख स्थित पुरुष है वह देवदत्त है या नहीं। अथवा सम्मुख स्थित पुरुष देवदत्त नहीं है, इसक प्रकार के भ्रम से ग्रसित हो जाता है। उस चैत्र से मैत्र कहता है कि वह यह देवदत्त है। इस वाक्य से चैत्र की प्रमा उत्पन्न होती है। अत: वाक्य जन्य यह ज्ञान शाब्दज्ञान कहलाता है।

जब चैत्र वाक्य को सुनता है तब (आदौ तत्-पदेन तद्देश-तत्कालविशिष्टः इति, इदंपदेन एतद्देश-एतत्कालविशिष्टः इति, देवदत्तपदेन देवदत्तव्यक्तिः इति, सः अयम् इति द्वयोः पदयोः समाना विभक्तिः, अतः अभेदः इति एते चत्वारः अर्थाः उपतिष्ठन्ते।)

आदि में तत् इस पद से वह देश तथा वह काल विशिष्ट, इदं इस पद से यह देश,यह काल

ध्यान दें:

विशिष्ट, देवदत्त पद से देवदत्त व्यक्ति। सः तथा अयम् इन दोनों पदों में समान विभक्ति है, इस प्रकार से अभेद होने से चारों अर्थ यहाँ पर उपस्थित होते हैं। उपस्थित इन पदार्थों का उनका आकाङ्क्षादिवश परस्पर अन्वय होता है। तब वह देश तथा उस काल से विशिष्ट देवदत्त तथा यह देश एवं इस काल विशिष्ट देवदत्त इस प्रकार का वाक्य बोध उत्पन्न होता है। इस प्रकार से यहाँ पर एतद् (यह) देश तथा एतद् काल विशिष्ट दोनों के विरोध होने से सम्भव नहीं होता है। अतः यहाँ पर मुख्यार्थ का बोध होता है। तब चैत्र मैत्र के तात्पर्य को समझकर 'लक्षणा' करता है। लक्षणा में विरुद्ध दोनों अंशो का त्याग करता है, तथा केवल देवदत्त का स्वरूप मात्र ग्रहण करता है अर्थात् उससे देवदत्त व्यक्ति मात्र का बोध होता है। इस ज्ञान में संसर्ग विषयी नहीं होता है। इसलिए यह ज्ञान संसर्गानवगाहि ज्ञान कहलाता है। इसलिए यह निर्विकल्पक होता है। यह ज्ञान शब्द से उत्पन्न होता है इसलिए इसे शाब्द ज्ञान कहते हैं फिर भी यह संसर्ग का अवगाहन नहीं करता है। जैसे देवदत्त पास में है, सामने है, इसलिए यह ज्ञान देवदत्त विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसलिए इस ज्ञान को निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। देवदत्त में प्रत्यक्ष योग्यत्व, वर्तमानत्व, देवदत्ताकार वृत्ति उपहित प्रमातृ चैतन्य सत्तातिरिक्त सत्तात्व शून्यत्व है इसलिए देवदत्त प्रत्यक्ष विषय ही है।

तत् त्वमसि इति महावाक्यात् निर्विकल्पकं ज्ञानम्

वह तुम हो इस महावाक्य के पद से निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे सर्व प्रथम तत् त्वम् असि इस का अधिकारी वाक्य का श्रवण करता है। वहाँ पर दोनों पद ही प्रथमा विभक्ति से युक्त हैं इसलिए दोनों पदों के समानाधिकरण की उपस्थिति होती है। वहाँ पर 'तत्' इस पद से सर्वज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य इस अर्थ की उपस्थिति होती है। 'त्वम्' पद से अल्पज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य के अर्थ के उपस्थिति होती है। प्रथमा विभक्ति के कारण अभेद की उपस्थिति होती है। अतः वहाँ पर सर्वज्ञत्व विशिष्ट चैतन्य अल्पज्ञविशिष्ट चैतन्य से अभिन्न होता है इस प्रकार विशिष्ट दोनों चैतन्यों में अभेद बोध उत्पन्न होता है। लेकिन जिस चैतन्य में सर्वज्ञत्व होता है उसमें ही अल्पज्ञत्व भी सम्भव नहीं होता है। इसलिए प्रतिसन्धान करने पर दोनों के विरुद्ध धर्म तथा विशिष्ट चैतन्य विषयक अभेद ज्ञान भी बाधित होता है। तब लक्षणा के विरुद्ध अंशो का त्याग करके चैतन्य मात्र विषयक अधिकारी का बोध उत्पन्न होता है। इस ज्ञान में संसर्ग भासित नहीं होता है। इसलिए यह संसर्ग विषयक नहीं होता है। यह ज्ञान संसर्ग अनवगाहि निर्विकल्पक होता है। इस प्रकार से यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इसलिए यह निर्वकल्प प्रत्यक्ष का उदाहरण है।

इस प्रकार से वह तुम हो इत्यादि वाक्यों के द्वारा उत्पन्न ज्ञान संसर्ग का विषय नहीं होता है। इसलिए उनके द्वारा अखण्डार्थ प्रतिपादित होता है यह कहा जाता है। इस प्रकार यह वाक्यों का अखण्डार्थ प्रतिपादक कहलाता है।

इस प्रकार अब तक प्रत्यक्ष ज्ञान के सविकल्प तथा निर्विकल्प दोनों भेदों का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद में दूसरे प्रकार का उपस्थापन किया जा रहा है।

वह प्रत्यक्ष ज्ञान जीव तथा ईश्वर के सम्बन्ध से दो प्रकार का होता है। तथा फिर जीव साक्षी तथा ईश्वर साक्षी के भेद से दो प्रकार का होता है।

जीव कौन है? तथा जीवसाक्षी कौन है? ईश्वर कौन है? तथा ईश्वर साक्षी कौन है? इस ज्ञान के बिना प्रत्यक्ष के भेदों को समझना कठिन है। अतः वह विषय भी यहाँ पर उपस्थापित किया जा रहा है।

प्रमाण विषयक प्रथम पाठ में उपलक्षण तथा उपाधि विशेषण इन शब्दों की सविस्तार पूर्वक आलोचना की गई है। उसका यहाँ पुनः स्मरण अपेक्षित है। उपाधि तथा विशेषण के सम्यक् ज्ञान के बिना जीव तथा ईश्वर के विषय में समझना कठिन है।

ध्यान दें:

जीव:

जीव कौन है? अथवा जीवत्व किसका है? इसका निर्णय करना चाहिए।अन्त: करण जड होता है, उसमें जीवत्व सम्भव नहीं होता है, तथा शुद्ध चैतन्य निर्विकार होता है। इसलिए उसमें भी जीवत्व सम्भव नहीं होता है। लेकिन कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व अभिमानी अहं पद का वाच्य तो किसी जीव का ही स्वीकार करना चाहिए। न तो केवल चैतन्य का अहं (मैं) पद वाच्य होता है, तथा न केवल जीव का अहं पद वाच्य होता है। उन दोनों के मिलने से ही अहं पदवाच्य होता है। जीवत्व केवल चैतन्य में ही नहीं होता वह अन्त: करण में भी होता है ऐसा कहा भी जा चुका है। न की समग्र चैतन्य में जीवत्व का अन्वय होता है। केवल अन्त: करण से अवच्छिन्न चैतन्य में ही जीवत्व का अन्वय होता है। अत: अन्त: करण वर्तमान होने पर चैतन्य का व्यावर्तक होता है। और अन्त: करण का जिस चैतन्य से सम्बन्ध होता है, उस चैतन्य का व्यावर्तन किया गया है।उस चैतन्य का ही विधेय जो जीवत्व है वह उसके द्वारा भी अन्वित होता है। अत: यह अन्त: करण विशेषण होता है। विशेष ही यहाँ अवच्छेदक कहलाता है। इस प्रकार से अन्त: करणावच्छिन्न चैतन्य जीव कहलाता है।

जीवसाक्षी

चैतन्य ही विषय का अवभासक तथा विषय का प्रकाशक होता है। अन्त: करण तो जड होता है। अत: वह उस विषय का अवभासक नहीं हो सकता है। यदि शुद्ध चैतन्य ही विषय अवभासक हो तो सदा विषय प्रकाश होता है। लेकिन विषय ज्ञान कभी उत्पन्न होता है कभी नहीं। इसलिए शुद्ध चैतन्य का विषय अवभासकत्व अन्त: करण के सम्बन्ध से होता है। अन्त: करणोपहित चैतन्य ही विषय अवभासक है अर्थात साक्षी है। विषय अवभासकत्व का अन्वय साक्षित्व का अन्वय चैतन्य में ही होता है न की अन्त: करण में। वह चैतन्य केवल अन्त: करण के द्वारा ही व्यावृत्त न की सकल (सकल कार्यों से)। इसलिए अन्त: करण वर्तमान होता हुआ चैतन्य का व्यावर्तक होता है। लेकिन साक्षित्व जो विधेय होता है उसका अन्वय चैतन्य में ही होता है न की अन्त: करण में, अन्त: करण तो कैसे भी साक्षी नहीं होता है। अत: अन्त: करण चैतन्य की उपाधि है न की विशेषण। इस प्रकार अन्त: करणोपहित चैतन्य जीवसाक्षी कहलाता है। प्रत्येक शरीर में अन्त: करण भिन्न होता है अत: प्रत्येक अन्त: करण के द्वारा उपहित चैतन्य भी भिन्न ही होता है। इसलिए जीवसाक्षी प्रत्येक शरीर मे भिन्न होता है। चैत्र जिस विषय का अनुभव करता है उस विषय का चैत्र ही स्मरण करता है न की मैत्र। इसलिए प्रति शरीर में साक्षी भी भिन्न ही होता है।

भले ही एक ही चैतन्य को जीव तथा जीवसाक्षी दोनों ही कहा गया है फिर भई चैतन्य तो एक ही होता है। वह इस प्रकार से जैसे देवदत्त पाचक है,देवदत्त पाठक है इस प्रकार दो वाक्य बनते है। यहाँ पर पाचकत्व से पाठकत्व भिन्न ही होता है। फिर भी उन दोनों का आश्रय देवदत्त एक ही होता है। इसी प्रकार जीवत्व से भी साक्षित्व भले ही भिन्न हो फिर भी उन दोनों का आश्रय चैतन्य एक ही होता है।

ईश्वर तथा ईश्वर साक्षी

माया एक अचेतन अनादि तथा जड़ है। उससे अवच्छिन्न चैतन्य ही परमेश्वर है। जब माया चैतन्य की विशेषण होती है तब माया अवच्छिन्न चैतन्य परमेश्वर कहलाता है। जब माया चैतन्य की उपाधि होती है तब माया अवच्छिन्न चैतन्य साक्षी कहलाता है। माया अनादि होती है अत: उससे अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर भी अनादि होता है। माया एक होती है। इसलिए ईश्वर भी एक ही होता है। ईश्वर का ईश्वरत्व से विलोप होता है। जब चरम जीव का मोक्ष होता है तब ईश्वर का नाश होकर के उसकी माया से निवृत्ति हो जाती है। कुछ ईश्वर की शुद्ध ब्रह्म से अवस्थिति हो जाती है।

ध्यान दें:

ईश्वर:

शुद्ध चैतन्य जगत् की सृष्टि संहारादि नहीं करता है। वह तो माया अवच्छिन्न चैतन्य ही करता है। जगत् का नियन्तृत्व तथा कर्मफल का नियन्तृत्व ईश्वर ही होता है। ईश्वरत्व चैतन्य में विधेय रूप में होता है। परन्तु माया का सम्बन्ध जिस चैतन्य में होता है उसमें विधीयमान ईश्वरत्व धर्म भी माया का ही अन्वय होता है। इसलिए यहाँ माया ही विशेषण होती है।

ईश्वरसाक्षी

शुद्ध चैतन्य साक्षी नहीं होता है। माया के सम्बन्ध से ही उसमें साक्षित्व सम्भव होता है। साक्षित्व चैतन्य में विधेय के रूप में होता है। लेकिन माया का सम्बन्ध जिस चैतन्य में होता है उसमें विधियमान इस साक्षित्व धर्म में माया का अन्वय नहीं होता है। इसलिए यहाँ पर माया उपाधि होती है। माया जड होती है। इसलिए उसमें साक्षित्व तथा जगत् का प्रकाशकत्व सम्भव नहीं होता है। इसलिए उसमें उसका अन्वय नहीं होता है।

ब्रह्मा विष्णुः महेश्वरः

माया त्रिगुणात्मिका होती जैसे गीता में कहा गया है

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। इस प्रकार से यहाँ पर गुण पद का अर्थ रस्सी है न की नीलत्वादि गुण। जैसे रस्सी बांधती है उसी प्रकार गुण भी बांधते है, इसलिए उनकी गुणपदवाच्यता है। जब सत्वगुणप्रधान माया से उपहित चैतन्य होता है, तब वह विष्णुः इस प्रकार से कहा जाता है। जब रजोगुणप्रधान माया से उपहित चैतन्य होता है तब वह ब्रह्मा कहा जाता है। तथा जब तमोगुण प्रधान माया से उपहित चैतन्य होता है तब वह महेश्वर कहा जाता है। उपाधि निष्ठ गुण भेद से उपहित के भेद की भी कल्पना की जाती है। वस्तुतः वह ईश्वर एक ही होता है।

इस प्रकार जीव जीवसाक्षी तथा ईश्वर ईश्वरसाक्षी ये चैतन्य के चार भेद होते है।

घट को मैं जानता हूँ। इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है, इस ज्ञान में घट, घटज्ञान,ज्ञाता जीव ये तीन विषय होते हैं। लेकिन जीव का वेत्ता जीव नहीं होता है, तथा ना ही घट घटविषयक ज्ञान वाला होता है। इसलिए जीव के वेत्ता तथा साक्षी इस रूप को अङ्गीकार करते हैं। साक्षी स्वयं प्रकाश होता है। उसके ग्रहण करने पर फिर अपर ग्राहक की कल्पना करना अनुचित अनावश्यक तथा अनवस्थाजनक होता है।

जीव का तथा साक्षी का सविकल्पक तथा निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है। उसी प्रकार ईश्वर का तथा ईश्वरसाक्षी का होता है। अतः सविकल्प तथा निर्विकल्प ज्ञान चार भागों में बाँटा जाता है।

सविकल्पकम- 1) जीव सविकल्पक 2) जीवसाक्षि सविकल्पक 3) ईश्वर सविकल्पक 4) ईश्वर साक्षी सविकल्पक। यहाँ पर जीवादि ज्ञाता होते हैं न की विषय होते हैं।

निर्विकल्पक- 1) जीव निर्विकल्पक 2) जीव साक्षी निर्विकल्पक 3) ईश्वर निर्विकल्पक 4) ईश्वर साक्षी निर्विकल्प यहाँ पर जीवादि ज्ञाता होते हैं न की विषय।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 1.1

1. चैतन्य अभिव्यञ्जिका वृत्ति कितने प्रकार की होती है, तथा कौन-कौन सी होती है?
2. बुद्धि क्या होती है?
3. अहङ्कार क्या होता है?
4. चित्त क्या होता है?
5. मन किसे कहते हैं?
6. मनो बुद्धिरहङ्कार इस कारिका को लिखिए।
7. वृत्ति चतुष्टय वादियों के मत में बुद्धि तथा चित्त में भेद का कारण क्या है?
8. वृत्ति चतुष्टयवादियों के मत में मन तथा अहङ्कार में भेद का कारण क्या है?
9. सविकल्पक ज्ञान किसे कहते हैं?
10. यह घट इस सविकल्पक ज्ञान में क्या भासित होता है?
11. घट का ज्ञानवान मैं, इस सविकल्पक ज्ञान में क्या वैशिष्ट्य भासित होता है?
12. निर्विकल्पक ज्ञान का लक्षण क्या है?
13. वह यह देवदत्त है इस वाक्य से सविकल्पक अथवा निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है?
14. तत्वमसि इस महावाक्य से सविकल्पक अथवा निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है?
15. जीव कौन है?
16. जीव साक्षी कौन है?
17. जीव साक्षी प्रत्येक शरीर में एक है अथवा अलग अलग?
18. ईश्वर कौन है?
19. ईश्वर का साक्षी कौन है?

1.2.2) दूसरा प्रकार

प्रत्यक्ष ज्ञान फिर प्रकारान्तर से इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रिय अजन्य

के भेद से दो प्रकार का होता है। अन्त: करण तथा तद्वृत्ति सुखादि धर्म इन विषयों के ज्ञान में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उनके विषयों के साथ संबंध के अभाव से कारण नहीं होती हैं। अत: इनके ज्ञान के लिए इन्द्रियजन्य प्रमाणवृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। वहाँ केवल अविद्यावृत्ति ही उत्पन्न होती है। उस वृत्ति के द्वारा सुखादि प्रत्यक्षों का ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय अजन्य ज्ञान कहलाता है।

इन्द्रिय का विषय के साथ सम्बन्ध जो ज्ञान का जनक होता है वह सन्निकर्ष कहलाता है, ऐसा

पाठ-7

प्रत्यक्ष प्रमाण का प्रत्यक्ष प्रमाणों के साथ भेद

ध्यान दें:

पूर्व में भी कहा जा चुका है। उसका ही अब नीचे से विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं।

सन्निकर्ष

इन्द्रिय का विषय से सम्बन्ध होता है तो वृत्ति उत्पन्न होती है। उस वृत्ति के द्वारा विषय चैतन्य अभिव्यक्त होता है। इन्द्रिय तथा विषय का उसी प्रकार का सम्बन्ध ही सन्निकर्ष कहलाता है।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, घ्राण तथा जिह्वा यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ कहलाती हैं। वे अपने स्थान में स्थित शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के साथ सम्बन्ध को जन्म देती हैं। ज्ञान के प्रत्यक्षत्व के विषय में प्रत्यक्षत्व में सन्निकर्ष ही हेतु होता है। उस सन्निकर्ष का क्या स्वरूप होता है यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

कौन से विषय प्रमेय कहलाते हैं- घटादि विषय, इन्द्रिय तथा द्रव्य प्रमेय होते हैं। रूप रसादि गुण होते हैं। जातिगुण कर्मादय द्रव्य भिन्न होते हैं। जाति द्रव्यात्मिका होती है। वे गुणादि द्रव्य मे तादात्म्य सम्बन्ध से होते हैं। वह तादात्म्य सम्बन्ध ही अभेद सम्बन्ध कहलाता है। गमानादि क्रिया होती है। क्रिया तथा द्रव्य में तादात्म्य सम्बन्ध से होती है। गुण में गुणत्व रूप में रूपत्व तथा क्रिया में क्रियात्व सामान्य होता है। वह तादात्म्य सम्बन्ध से गुणादियों में होते हैं।

यदि इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष हो तब ही वह विषयाकार वृत्ति उत्पन्न होती है नहीं तो नहीं होती है। जब अर्थ घटादि द्रव्य होता है, तब दोनों द्रव्यों का संयोग सम्बन्ध होता है तथा इस न्याय से घटादि द्रव्यों का इन्द्रिय के साथ संयोग सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध ही सन्निकर्ष कहलाता है। इसलिए द्रव्याकार वृत्ति के प्रति संयोग सन्निकर्ष ही कारण होता है।

गुण से साथ तथा क्रिया के साथ इन्द्रिय का संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध होता है। क्योंकि इन्द्रियसंयुक्त जो द्रव्य होता है इस द्रव्य में तादात्म्य सम्बन्ध से गुण होता है। जब इन्द्रिय का गुणादियों के साथ संयुक्ततादात्म्यसम्बन्ध होता है। तब गुणाकार तथा कर्माकार वृत्ति उत्पन्न होती है। द्रव्य में तादात्म्य सम्बन्ध से वर्तमान जो गुणादि होते हैं। वे तदाकारवृत्ति के प्रति संयुक्ततादात्म्यसन्निकर्ष कारण रूप में होते हैं।

द्रव्य में गुण तथा तादात्म्यसम्बन्ध से (अभेदसम्बन्ध से) होता है। गुण में गुणत्व तादात्म्य सम्बन्ध से होता है। इन्द्रिय का गुणत्व के साथ संयुक्ताभिन्न तादात्म्य सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय संयुक्त द्रव्य होता है। वहाँ अभेद से गुण होता है इसलिए द्रव्य भिन्न गुण होता है। द्रव्यभिन्न गुण में गुणत्व का तादात्म्य सम्बन्ध के कारण है। अतः इन्द्रिय का गुणत्व के साथ संयुक्त अभिन्न तादात्म्य सम्बन्ध होता है। जब इस प्रकार सम्बन्ध होता है, तब गुणाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। इसलिए गुणत्व आकार वृत्ति के प्रति संयुक्त अभिन्न तादात्म्य सन्निकर्ष कारण होता है।

भले ही द्रव्यादि में अभाव होता है फिर भी अभाव विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि अभावाकार वृत्ति का उदय नहीं होता है। चक्षु तेज का स्वभाव होता है। इन्द्रिय विषयदेश को जाती है अथवा नहीं इस प्रकार से विषय में अनेक मतभेद होते हैं। जो इन्द्रिय विषयदेश को जाती है उस इन्द्रिय का प्राप्यकारित्व होता है इस प्रकार से कहा जाता है। जो इन्द्रिय विषय देश में नहीं जाकर के विषय को ग्रहण करती है उस इन्द्रिय का अप्राप्य कारित्व होता है। उन में से एक मत का यहाँ पर उपस्थान करते हैं।

सन्निकृष्ट घटादि तथा प्रकृष्ट पर्वतादि होते हैं। चक्षु का स्वरूप तेज होता है। इसलिए बहुत जल्दी विषय देश को जाकर के विषयाकार हो जाती है ऐसा कहा जा सकता है। लेकिन सूर्य बहुत दूर होता है। जब हम सूर्य को देखते है तब क्या आँखे सूर्यदेश को जाती हैं और क्या उसकी किरणें हमारे देश

में आती है। यदि आँखे सूर्यदेश को चली जाती हैं तो वह जहाँ होती हैं, यदि इस प्रकार का चिन्तन करें तो वहाँ नहीं होती है अपितु वहाँ से करोड़ों योजना दूर होती हैं। इसलिए जिस देश में सूर्य है ऐसा चिन्तन करें तो यह भ्रान्ति ही होती है। सूर्य में ही अङ्गीकार कर लिया जाए तो सूर्य की प्रतीति सूर्य के स्थान में ही हो। तो वैसा नहीं होता है। जितने काल में सूर्य की किरण हमारें देश में आती हैं उस काल से पूर्व सूर्य जहाँ था वही प्रतीत होता है। न की ज्ञानकाल में जहाँ होता वहाँ।

कुछ चमकने वाले तारे आदि बहुत दूर होते हैं। उनसे प्रकाश के यहाँ आनें में प्रकाश वर्ष इस प्रकार का समय परिमाण होता है। अर्थात् जहाँ पर यह हम देखें तो वहाँ नहीं होता है, उस स्थान के समीप भी नहीं होता है। कदाचित विनष्ट भी हो जाता है। इसलिए जो विनष्ट पदार्थ स्वस्थान में नहीं होता है, उस को उस देश में कैसे देख सकते हैं। इसलिए चक्षु विषय देश में नहीं जाती है।

श्रोत्र (कान) भी विषय देश को नहीं जाते हैं। चक्षु का स्वभाव तो तेज होता है इसलिए कभी देशान्त चली भी जाती है ऐसा कह भी सकते है। लेकिन शब्द तो कभी पास में होता है और कभी दूर। इसलिए दूर जाकर के शब्द श्रवण एक स्थान से कैसे हो सकता है। यदि शब्दोत्पत्तिदेश से कोई संकेत श्रोतपर्यन्त आता है ऐसा कहा जाए तो शब्द भी आता है, अथवा शब्द ही वह संकेत होता है इस प्रकार अङ्गीकार करनें मे भी लघुता आ जाती है। श्रोत्र सभी जगह व्याप्त होता है तथा इसे शब्ददेश प्रति जाने के लिए उद्‌बोधक की भी अपेक्षा नहीं होती है,यह भी नहीं कहा जा सकता है। नहीं तो समीपस्थ तथा दूरस्थ शब्दों का एक साथ श्रवण हो, तो वह तो नहीं होता है। जैसे दूर एक बढई लकड़ी को काटता है, उसका कुल्हाड़ी से उत्पन्न शब्द सुनाई देता है। लेकिन जब कुल्हाड़ी से शब्द उत्पन्न होता है उसी क्षण वह सुना नहीं जाता है अपितु उसका विलम्ब से ग्रहण होता है। जैसे आकाश में जो यान चलते हैं उनका शब्द महान विलम्ब से सुना जाता है। अगर हम शब्द की दिशा में विमान को देखे तो वो वहाँ पर नहीं होता है। अपितु बहुत दूर होता है। जिस शब्द को सुनते हैं श्रवण काल में उस शब्द के उत्पत्ति स्थान में न तो विमान होता है और न शब्द।

और यदि विषयदेश (विषय स्थान) में ही शब्द सुना जाता है ऐसा माने तो दूर स्थित व्यक्ति के कान जब उस शब्दोत्पित्ति देश की और जाते हैं तब अवश्य ही वहाँ है ऐसा मानना चाहिए। लेकिन यदि दूरस्थ व्यक्ति के श्रवण काल में शब्दोत्पत्ति देश में शब्द होता तो शब्दोत्पत्ति स्थान में समीप ही स्थित व्यक्ति दूरस्थ व्यक्ति का एक ही साथ शब्द सुने। परन्तु ऐसा नहीं होता है। समीपस्थ शब्द को पहले सुनता है तथा दूरस्थ को बाद में। इसलिए श्रोत्र विषय देश को नहीं जाते हैं।

इसी प्रकार यदि और भी इन्द्रियाँ विषयदेश को नहीं जाकर के ही विषयों को ग्रहण करती हैं तो दोनों इन्द्रियों का (कान आँख) विषयस्थान में गमन तथा अन्य इन्द्रियों का आगमन इस प्रकार विषमता उत्पन्न हो जाती है।

पाठगत प्रश्न 2.1

1. प्रत्यक्ष ज्ञान का दूसरे प्रकार से विभाग लिखिए।
2. सुखादि के ज्ञान में वृत्ति क्या कहलाती है?
3. इन्द्रिय जन्य ज्ञान क्या होता है?
4. घट गन्ध तथा प्रत्यक्ष के ज्ञान में क्या सन्निकर्ष होता है?

5. गुणत्व के ग्रहण में क्या सन्निकर्ष होता है?
6. अभाव के ग्रहण में क्या सन्निकर्ष होता है?

पाठ सार

इस पाठ में प्रत्यक्ष प्रमाण के विविध प्रकारों का आलोचन किया गया है। वहाँ ही प्रसङ्ग बस अन्तः करण के वृत्ति भेद से बुद्धि, मन, अहङ्कार तथा चित्त इस प्रकार के नाम कैसे होते हैं इसका भी उपस्थापन किया गया है। प्रत्यक्ष ज्ञान के सविकल्प तथा निर्विकल्प भेद से दो प्रकार होते हैं। जीवसाक्षी तथा ईश्वरसाक्षी इस रूप से भी प्रत्यक्ष का भेद बताया गया है। वहाँ क्रम प्राप्त तत्वमसि इस महावाक्य से कैसे निर्विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है, इसकी व्याख्या की गई है। तथा प्रसङ्गानुसार जीव तथा जीवसाक्षी, ईश्वर तथा ईश्वरसाक्षी इस विषय में भी विस्तार पूर्व आलोचन किया गया है।

प्रत्यक्ष ज्ञान प्रकारान्तर से इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रिय अजन्य रूप से दो प्रकार का होता है, इसका उपस्थापन करके प्रसङ्गानुसार सन्निकर्ष के भेद भी स्पष्ट किये गये हैं।

आपने क्या सीखा

- प्रत्यक्ष प्रमाण के विविध प्रकारों का आलोचन
- सविकल्पक तथा निर्विकल्पक के भेद को जाना,
- बुद्धि आदि वृत्ति भेदों को जाना,
- जीव तथा जीव साक्षी ईश्वर तथा ईश्वर साक्षी को जाना,

पाठान्त प्रश्न

1. चैतन्याभिव्यञ्जक वृत्ति का वर्णन कीजिए।
2. चैतन्य अभिव्यञ्जिकवृत्ति के चार प्रकारों का प्रतिपादन कीजिए।
3. सविकल्पक ज्ञान को प्रकट कीजिए।
4. निर्विकल्पक ज्ञान को प्रकट कीजिए।
5. जीव का वर्णन कीजिए।
6. जीवसाक्षी का वर्णन कीजिए।
7. ईश्वर का वर्णन कीजिए।
8. ईश्वर साक्षी का वर्णन कीजिए।
9. ब्रह्मा विष्णु तथा महेश्वर ये कौन हैं?
10. सन्निकर्ष का आश्रय लेकर के प्रबन्ध की रचना कीजिए।

ध्यान दें:

11. इन्द्रियजन्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रकारों का वर्णन कीजिए।

12. इन्द्रिय विषय देश को जाती है अथवा नहीं इसका वर्णन कीजिए।

पाठगतप्रश्नानाम् उत्तराणि 1.1

1. चैतन्याभिव्यञ्जक वृत्ति चार प्रकार की होती है। 1) संशय 2) निश्चय 3) गर्व तथा 4) स्मरण।

2. निश्चय आकार वाले अन्त: करण की वृत्ति ही बुद्धि कहलाती है।

3. गर्वाकार अभिमान वाली अन्त: करण की वृत्ति ही अहङ्कार होती है।

4. स्मृति आकार वाली अन्त: करण की वृत्ति ही चित्त होती है।

5. संशयाकार अन्त: करण की वृत्ति ही मन होता है।

6. मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणान्तरम्।

संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।

7. बुद्धि का विषय अपूर्व होता है चित्त का विषय पूर्व अनुभूत होता है अर्थात् अपूर्व नहीं होता है।इस प्रकार के विषय भेद से बुद्धि तथा चित्त में भेद होता है।

8. मन का विषय बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों ही होते हैं अहङ्कार की तो अनात्मोपरक्त आत्मा होती है इस प्रकार मन तथा अहङ्कार विषय भेद होता है।

9. वैशिष्ट्य अवगाहि ज्ञान सविकल्पक होता है

10. यह घट है इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान में घट तथा घटत्व में तादात्म्य सम्बन्ध भासित होता है। यह सम्बन्ध ही वैशिष्ट्य कहलाता है।

11. घट का ज्ञानवान मैं, इस प्रकार के सविकल्पक ज्ञान में तथा आत्मज्ञान में तादात्म्य संबंध ही वैशिष्ट्य के रूप में भासित होता है।

12. संसर्ग अनवगाही ज्ञान निर्विकल्पक होता है

13. वह यह देवदत्त है इस वाक्य से निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है।

14. तत्त्वमसि इस महा वाक्य से निर्विकल्पक ज्ञान उत्पन्न होता है।

15. अन्त: करण अवच्छिन्न जीव चैतन्य कहलाता है।

16. अन्त: करण उपहित चैतन्य जीवसाक्षी कहलाता है

17. भिन्न होता है।

18. माया से अवच्छिन्न चैतन्य ईश्वर कहलाता है।

19. माया से उपहित चैतन्य ईश्वर साक्षी कहलाता है।

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्न 2

1. प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का होता है। इन्द्रियजन्य तथा इन्द्रिय अजन्य भेद से।
2. अविद्या वृत्ति।
3. जो ज्ञान इन्द्रियजन्य प्रमाण वृत्ति उत्पन्न नहीं होता है अविद्या वृत्ति से उत्पन्न होती है। वह इन्द्रिय अजन्य ज्ञान कहलाता है।
4. संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष
5. संयुक्ताभिन्नतादात्म्यसम्बन्ध
6. कोई भी सन्निकर्ष न ही है

ध्यान दें:

8

अनुमानखण्ड तथा उपमानखण्ड

पूर्व पाठों में प्रत्यक्ष प्रमा, प्रत्यक्षप्रमाण, ज्ञानगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक, विषयगत प्रत्यक्षत्व का प्रयोजक तथा प्रत्यक्ष प्रमा के प्रकार ये विषय आलोचित कर दिये गये हैं। व्यभिचारदर्शन से तथा सहचारदर्शन से दृष्टान्तों में हेतु साध्यव्याप्य है इस प्रकार से व्याप्ति निश्चय होती है। यह निश्चय प्रत्यक्ष प्रमाण के बाहुल्य से होता है। वहाँ पर किसी पक्ष में हेतु को देखकर व्याप्ति संस्कार से अनुमिति उत्पन्न होती है। हेतु का प्रत्यक्ष तथा अनुमान का उपजीव्य होता है। प्रत्यक्षात्मक उपजीव्य का प्रारम्भ में निरुपण कर दिया गया है। अनुमान के द्वारा प्रपञ्च मिथ्यात्व साधना चाहिए। इसलिए यहाँ पर अनुमान का प्रतिपादन किया जा रहा है। श्रुति के द्वारा प्रपञ्च का मिथ्यात्व तो कहा ही जा चुका है फिर भी कुछ लोग आगम प्रमाण को स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते है उनके के लिए प्रपञ्च का मिथ्यात्व प्रतिपादन करने के लिए यहाँ पर अनुमान का प्रतिपादन किया जा रहा है।

अनुमितिकरण ही अनुमान कहलाता है जो स्वार्थ तथा परार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। प्राय: नैयायिक अनुमान में रत होते हैं। तथा उनके मत के साथ वेदान्तियों का विरोध इस प्रकार से दोनों हेतु भी अनुमान प्रक्रिया ज्ञान के लिए इष्ट है। यहाँ पर इस पाठ में पहला न्याय सम्मत स्वार्थानुमानक्रम प्रदर्शित किया जा रहा है। इसके बाद वेदान्त सम्मत अनुमानक्रम प्रतिपादित किया जा रहा है।

अनुमिति करण अनुमान तभी ही जाना जा सकता है जब अनुमिति का ज्ञान हो। इसलिए सर्वप्रथम अनुमिति क्या है यह विषय प्रतिपादित किया जाएगा। इसके बाद परार्थानुमान प्रदर्शित किया जाएगा। अनुमान का हृदय ही व्याप्ति है। इसलिए व्याप्ति विषय का विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया जाएगा। उसके बाद सद्हेतुओं को बताकर जगत् का मिथ्यात्व प्रतिपादित किया जाएगा। वहाँ पर भी मिथ्यात्व लक्षण के बिना जगत् का मिथ्यात्व नहीं जाना जा सकता इस हेतु के मिथ्यात्व लक्षण का भी परिष्कार किया जाएगा।

अनुमान के बाद में उपमान प्रमाण भी इस पाठ में प्रतिपादित किया जाएगा। सादृश्य के ज्ञान के बिना उपमान प्रमाण सही प्रकार से नहीं जाना जा सकता है इसलिए सर्वप्रथम सादृश्य का प्रतिपादन किया जाता है।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे;

ध्यान दें:

- न्याय सम्मत अनुमान क्रम को जान पाने में;
- वेदान्त सम्मत अनुमानक्रम को जानकर अनुमान करनें में;
- दोनों दर्शनों के मत में भेद को समझ पाने में;
- स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान को समझ पाने में;
- व्याप्ति का ज्ञान जानने में;
- सद् हेतु का ज्ञान जान पाने में;
- मिथ्यात्व के लक्षण को जानकर जगत का मिथ्यात्व किस प्रकार से है यह जानने में;
- सादृश्य को जानकर उपमान को जानने में;

स्वार्थानुमान

अनुमितिकरण ही अनुमान होता है। अनुमिति व्याप्ति के ज्ञान से व्याप्तिज्ञान जन्या होती है। स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान भेद से अनुमान दो प्रकार के होते हैं।

उसमें सबसे पहले स्वार्थानुमान क्या है इसका उपस्थापन किया जाएगा।

अनुमान क्रम के विषय में नैयायिक तथा वेदान्तियों में मतभेद है। इसलिए सबसे नैयायिक सम्मत अनुमान को प्रदर्शित किया जा रहा है।

न्यायसम्मत स्वार्थानुमानक्रम

स्वयं अनुमाता के अर्थ प्रयोजन साध्य संशय निवृत्ति रूप जिससे हो वह स्वार्थानुमान होता है। उसी का क्रम स्वार्थानुमान क्रम होता है। संसार में व्यवहार के रूप में जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ आग का सहचर्य दर्शन होता है। इस प्रकार से व्यभिचार का अदर्शन होता है। तथा धुआँ वह्निवाप्य है इस प्रकार का व्याप्ति विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। धुआँ यहाँ व्याप्य है तथा वह्नि व्यापक है। वह्नि व्याप्ति धुएं में है। इसलिए धुआँ लिङ्ग तथा हेतु कहा जाता है। इस व्याप्ति ज्ञान में लिङ्ग विषय होता है इसलिए यह ज्ञान प्रथमलिङ्गपरामर्श भी कहा जाता है।

जिस व्यक्ति को धुआँ वह्निवाप्य है इस प्रकार का अनुभव है कभी पर्वत के पास जाता है। तब पर्वत में अवच्छिन्न धूमरेखा को देखता है तब धूमवान पर्वत इस प्रकार का ज्ञान होता है, तथा यह ही पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। यह ज्ञान ही द्वितीय लिङ्ग परामर्श कहा जाता है। वहाँ पर्वत के दिखाई देने वाले भाग में कही भी आग नहीं दिखाई देती है। तब संशय यह होता है कि पर्वत वह्निमान हैं या नहीं। अर्थात् पर्वत में आग का सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इसलिए पर्वत पक्ष कहा जाता है। धुएँ के दर्शन से उसकी स्मृति जन्म लेती है कि जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ आग होती है अर्थात् धुआँ अग्निव्याप्य होता है। उस प्रकार का धूमवान् पर्वत अर्थात् वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वत इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है। यह ज्ञान ही परामर्श कहलाता है। यह परामर्श तीसरा लिङ्गपरामर्श कहलाता है। वहाँ से पर्वत वह्निमान है इस प्रकार का ज्ञान उदय होता है। यह ज्ञान ही अनुमिति कहलाता है।

पर्वत वह्निमान है धुएँ के कारण इस वाक्य से पर्वतवह्निमान है यह अनुमान उत्पन्न होता है। अनुमान मे पर्वत का उद्देश्य आग का विधान करता है। अत: पर्वत उद्देश्य तथा वह्नि विधेय होता है। अनुमान ही उद्देश्य का पक्ष होता है अनुमान में विधेय साध्य तथा धुआँ और लिङ्ग हेतु होता है।

पर्वत वह्निमान है धुएँ के कारण, जैसे रसोई इत्यादि अनुमान प्रयोग स्थल में पर्वतपक्ष होता है,

ध्यान दें:

वह्नि साध्य है, धुआँ हेतु है, इस प्रकार से यह रसोई घर यहाँ पर दृष्टान्त है। तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापारलक्षणम्। यहाँ पर तत् पद से व्याप्ति को ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार से यहाँ परव्याप्तिजन्य परामर्श, परामर्शजन्य अनुमिति है। इस प्रकार से परामर्श में व्याप्ति क्षान जन्यत्व और व्याप्तिज्ञानजन्य अनुमिति जनकत्व होता है। इसलिए परामर्श व्यापार होता है। व्याप्तिज्ञान असाधारण कारण होता है। इसलिए व्यापारवान् असाधारण कारण जो व्याप्तिज्ञान है वह अनुमिति के प्रति करण होता है। इस प्रकार से व्याप्तिज्ञान तथा अनुमितिकरण अनुमान होता है। अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण को समझना चाहिए। इसलिए व्याप्तिज्ञान ही अनुमान प्रमाण होता है। यह न्याय मत से स्वार्थानुमान होता है।

जिस क्रम से अनुमान का जन्म होता है वह क्रम नीचे संक्षेप दिया जा रहा है।

1.	साहचर्यानुभव	जहाँ-जहाँ हेतु है वहाँ-वहाँ साध्य है। जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ अग्नि है।
2.	व्याप्तेरनुभव	साध्य व्याप्य हेतु होता है। वह्निवाप्य धुआँ होता है।
3.	पक्षधर्मताज्ञानम्	हेतुमान् पक्ष होता है, तथा धूमवान् पर्वत होता है।
4.	व्याप्तिस्मरणम्	साध्य व्याप्य हेतु होता है तथा वह्निव्याप्य धुआँ होता है।
5.	परामर्शः	साध्य व्याप्य हेतु मान पक्ष होता है तथा वह्निवाप्य धूमवान पर्वत होता है।
6.	अनुमितिः	पक्ष साध्यवान होता है तथा पर्वत वह्निमान होता है।

वेदान्तसम्मत स्वार्थानुमानक्रम

जगत में जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ सहचर्य का दर्शन होता है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ वह्नि का अभाव होता है। वहाँ-वहाँ धुएँ का भी अभाव होता है। इससे व्यतिरेक सहचर्य का दर्शन होता है। तब धुआँ वह्नि व्याप्य होता है। इससे व्याप्ति विषयक प्रत्यक्ष अनुभव उत्पन्न होता है। यह व्याप्ति अनुभव ही व्याप्तिज्ञान के नाम से प्रसिद्ध होता है। यह प्रथमलिङ्गपरामर्श कहलाता है।

धुआँ अग्नि व्याप्य होता है, इसलिए व्याप्ति अनुभववान् व्यक्ति कभी पर्वत के समीप जाता है। वहाँ धूमवान पर्वत इस प्रकार से धुएँ का ज्ञान उसको हो जाता है। यह ज्ञान ही पक्षधर्मता ज्ञान कहलाता है। अनुमान के प्रति यह ज्ञान एक कारण होता है। यह ज्ञान द्वितीय लिङ्ग परामर्श कहलाता है। वहाँ पर दिखाई देने वाले भाग में कही भी आग को नहीं देखकर मन में यह संशय होता है कि पर्वत अग्नि से युक्त है या नहीं। इसलिए पर्वत पक्ष कहा जाता है। धुएँ के दर्शन से उसका व्याप्ति संस्कार उद्बुद्ध होता है। वहाँ से पर्वत अग्नि से युक्त है, इससे अग्नि निश्चय उत्पन्न होता है। यह ज्ञान ही अनुमान कहलाता है।

पर्वत वह्निमान है धुएँ से जैसे रसोई घर यह भी अनुमान का प्रयोग स्थल है। यहाँ व्याप्ति के अनुभवजन्य व्याप्ति संस्कार उद्बुद्ध होते हुए अनुमिति का जन्म होता है। इस प्रकार से व्याप्तिज्ञानजन्यत्व तथा व्याप्ति ज्ञानजन्य अनुमिति जनकत्व उद्बुद्ध में तथा व्याप्ति संस्कार में आ जाते हैं। इसलिए उद्बुद्ध व्याप्ति संस्कार व्यापार होता है। व्याप्ति ज्ञान असाधारण कारण होता है। इसलिए व्यापारवान् असाधारण कारण जो व्याप्तिज्ञान वह अनुमिति के प्रति कारण होता है। इस प्रकार से व्याप्ति ज्ञान अनुमिति करण अनुमान होता है। अनुमिति का करण ही अनुमान प्रमाण समझा जाता है। इसलिए व्याप्ति ज्ञान ही अनुमान प्रमाण कहलाता है, यह वेदान्तमत के द्वारा स्वार्थानुमान है।

न्यायमत में पक्षधर्मता ज्ञान से व्याप्ति स्मृति होती है। उससे साध्य व्याप्य हेतु मान पक्ष यह परामर्श

उत्पन्न होता है। उससे अनुमान उत्पन्न होता है।

वेदान्त मत में पक्षधर्मताज्ञान से व्याप्तिसंस्कार उत्पन्न होता है। उससे अनुमान उत्पन्न होता है। व्याप्ति स्मृति तथा साध्य व्याप्य हेतु मान पक्ष इस प्रकार से दो रूपों में परामर्श उत्पन्न नहीं होता है।

वेदान्त मत में जिस क्रम से स्वार्थ अनुमिति उत्पन्न होती है वह क्रम नीचे संक्षेप में प्रकटित है।

7. साहचर्यानुभवः जहाँ-जहाँ हेतु है वहाँ-वहाँ साध्य है, जहाँ-जहाँ धुआँ है वहाँ-वहाँ आग है।
8. व्याप्तेरनुभवः साध्यव्याप्य हेतु होता है तथा वह्निव्याप्य धुआँ होता है।
9. पक्षधर्मताज्ञानम् हेतुमान पक्ष होता है तथा धूमवान पर्वत होता है
10. अनुमितिः पक्ष साध्यवान होता है तथा पर्वत वह्निमान होता है।

पाठगत प्रश्न 1.1

1. अनुमिति किसे कहते हैं?
2. अनुमान के भेदों को लिखिए।
3. न्याय के मत में पर्वत वह्निमान होता है धुएँ से यहाँ पर अनुमिति का आकार क्या है?
4. प्रथमलिङ्ग परामर्श किसे कहते हैं?
5. द्वितीयलिङ्ग परामर्श किसे कहते हैं?
6. अनुमिति के जनन में व्याप्तिज्ञान का व्यापार क्या होता है?

अनुमिति

अनुमिति करण ही अनुमान होता है। जब तक अनुमिति क्या है इसका ज्ञान नहीं होता है तब तक अनुमान क्या होता है इसको भी समझा नहीं जाता है। इसलिए अनुमिति क्या है इसका प्रतिपादन किया जा रहा है।

व्याप्ति ज्ञानत्व ही व्याप्ति ज्ञान जन्या अनुमिति है ऐसा पूर्व में कहा जा चुका है।

वह इस प्रकार से है जैसे चैत्र देवदत्त का पुत्र है। चैत्र गुरुकुल का छात्र है। चैत्र मगध का नागरिक है। इस प्रकार से चैत्र में चैत्रत्व पुत्रत्व छात्रत्व तथा नागरित्व इस प्रकार से विविध धर्म है। लेकिन चैत्र छात्रत्व वशात् ही गुरुकुल में पढ़ सकता है न की देवदत्तपुत्र वशात्। चैत्र में मागधत्व भी है इसलिए वह मगध देश में रहा सकता है, व्यवहार कर सकता है, न की छात्रत्व के कारण। इस एक ही चैत्र उसके धर्मवश ही उस कार्य को करने में समर्थ होता है।

व्याप्ति ज्ञान के विभिन्न धर्मवश विभिन्न कार्यों को जन्मदेता है। वहाँ पर व्याप्ति ज्ञान धर्म वश से व्याप्तिज्ञान अनुमिति का जन्म होता है। इसका ही नीचे सविस्तारपूर्वक उपस्थापन किया जाएगा

व्याप्ति ज्ञान से व्याप्ति ज्ञान, अनुव्यवसाय, व्याप्ति विषयक स्मृति, व्याप्ति ज्ञानध्वंस तथा अनुमिति उत्पन्न होते है। व्याप्ति ज्ञान जनक तथा अनुव्यवसाय जन्य होते हैं। व्याप्ति ज्ञान में जनकता तथा अनुव्यवसायादि में जन्यता होती है। यदि जनक भिन्न भिन्न होता है तब जनकता भी भिन्न भिन्न होती है। परन्तु अकेला व्याप्ति ज्ञान ही जनक होता है। इसलिए व्याप्ति ज्ञान में एक ही जनकता होती है। यदि

ध्यान दें:

जन्य विभिन्न होता है तो जनकता भी विभिन्न होती है। अनुव्यवसाय स्मृति,ध्वंस तथा अनुमिति ये चार कार्य जन्य कहलाते है। अत: उनमें विद्यमान जन्यता भिन्न ही होती है न की अकेली। इस प्रकार से व्याप्ति ज्ञान में जनकता है इसलिए व्याप्ति ज्ञानानुव्यसाय में व्याप्ति स्मृति में व्याप्ति ज्ञानध्वंस में तथा अनुमिति में भी जन्यता होती है। इस प्रकार से जनकता जन्यता की निरूपिका है। व्याप्ति ज्ञान निष्ठ जो जनकता है उसकी निरूपिता जन्यता अनुव्यवसाय में स्मृति में ध्वंस में तथा अनुमिति में होती है। इसलिए व्याप्ति ज्ञान निष्ठ जनकता निरूपित जन्यतावान् अनुव्यवसाय होता है। व्याप्ति ज्ञाननिष्ठ जनकता निरूपित जन्यतावती स्मृति होती है।

व्याप्ति ज्ञान निष्ठ जनकता निरूपित जन्यतावान् ध्वंस होता है।

व्याप्ति ज्ञान निष्ठ जनकता निरूपित जन्यतावती अनुमिति होती है।

व्याप्ति ज्ञान तो अनुभव कहलाता है। तथा प्रथमानुभव व्यवसाय कहलाता है। व्याप्तिज्ञानवान मैं इससे व्याप्तिज्ञानविषयक अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है। उस व्यवसाय में व्याप्तिज्ञान विषय होता है। व्याप्तिज्ञान विषय होता है इसलिए अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है। अर्थात् व्याप्तिविषयत्व अनुव्यवसाय के प्रति जनक होता है।

व्याप्ति ज्ञान अनुभव है। उसमें विषय व्याप्ति होती है जब व्याप्ति स्मृति होती है तब स्मृति का विषय भी व्याप्ति ही होती है। अनुभव जो विषय है वह ही स्मृति का भी विषय है, यदि अनुभव विषय स्मृति विषय से भिन्न है तो स्मृति के प्रति वह अनुभव कारण नहीं होता है। यदि घटानुभव नहीं हो तो घटस्मृति भी नहीं होनी चाहिए। व्याप्ति स्मृति का जो विषय है वह ही व्याप्ति ज्ञानात्मक अनुभव का भी विषय है। इसलिए व्याप्तिज्ञानात्मक अनुभव स्मृति के प्रति जनक होता है। इसी प्रकार व्याप्ति ज्ञान भी व्याप्ति विषयक अनुभवत्व के रूप में व्याप्तिस्मृति के प्रति जनक होता है।

व्याप्तिज्ञान व्याप्तिज्ञानत्व के द्वारा अनुमिति के प्रति कारण होता है। व्याप्तिज्ञान प्रतिध्वंस के प्रति प्रतियोगित्व रूप से कारण होता है। अर्थात् व्याप्तिज्ञान प्रतियोगी होता है इसलिए उसका ध्वंस होता है। ध्वंस के प्रति प्रतियोगी की कारणता ही नियम कहलाती है।

जिस रूप के द्वारा व्याप्तिज्ञान जनक होता है उस रूप के द्वारा व्याप्तिज्ञाननिष्ठजनकता का अवच्छेदक व्यावर्तक अथवा भेदक होता है। इसलिए व्याप्ति ज्ञाननिष्ठ जनकता के अवच्छेदक चारों धर्म होते हैं। जनकता भी चारों धर्मों के द्वारा अवच्छिन्न होती है। इस प्रकार व्याप्तिज्ञान में विषयत्व अवच्छिन्न जनकता होती है, अनुभवत्व अवच्छिन्न जनकता, व्याप्तिज्ञानत्व अवच्छिन्न जनकता, प्रतियोगित्व अवच्छिन्न जनकता इस प्रकार से ये चार जनकता होती है। उसी प्रकार की जनकता चतुष्टय निरूपिता जन्यता भी चार ही होती है। वे है विषयत्व अवच्छिन्न जनकता निरूपिता जन्यता। अनुभवत्व अवच्छिन्न जनकता निरूपिता जन्यता। व्याप्तिज्ञानत्व अवच्छिन्न जनकता निरूपिता जन्यता और प्रतियोगित्व अवच्छिन्न जनकता निरूपिता जन्यता।

व्याप्ति ज्ञान जन्य अनुव्यवसाय निष्ठ जन्यता के प्रति व्याप्ति ज्ञान निष्ठ विषयत्व अवच्छिन्नजनकता प्रयोजिका होती है।

व्याप्ति ज्ञान जन्या जो स्मृति होती है तन्निष्ठजन्यता के प्रति व्याप्ति ज्ञाननिष्ठ अनुभवत्व अवच्छिन्न जनकता प्रयोजिका होती है।

व्याप्ति ज्ञान जन्य अनुमिति निष्ठ जन्यता के प्रति व्याप्ति ज्ञान निष्ठा व्याप्ति ज्ञानत्व अवच्छिन्न जनकता से युक्ति प्रयोजिका होती है।

ध्यान दें:

व्याप्ति ज्ञान जन्य ध्वंस निष्ठ जन्यता के प्रति व्याप्ति ज्ञान निष्ठ प्रतियोगत्व अवच्छिन्न जनकता प्रयोजिका होती है। इस प्रकार से व्याप्ति ज्ञान जन्या जो व्याप्ति स्मृति होती है, तन्निष्ठजन्यता के प्रति केवल व्याप्तिज्ञाननिष्ठा अनुभवत्व अवच्छिन्न जनकता ही प्रयोजिका होती है।

इस प्रकार से व्याप्ति ज्ञान जन्या जो व्याप्ति स्मृति होती है तन्निष्ठ जन्यता के प्रति केवल व्याप्ति ज्ञान निष्ठा अनुभवत्व अवच्छिन्न जनकता ही प्रयोजिका है। इसलिए अनुभवत्व अवच्छिन्न जनक निरूपिता जन्यता केवल व्याप्तिस्मृति मैं ही होती है, न की अनुव्यवसाय में, न अनुमिति में और न ही ध्वंस में।

वैसे ही व्याप्तिज्ञानजन्या जो अनुमिति होती है वह तन्निष्ठजन्यता के प्रति केवल व्याप्तिज्ञाननिष्ठा व्याप्तिज्ञानत्व अवच्छिन्न जनकता ही प्रयोजिका होती है। इसलिए व्याप्तिज्ञानत्व अवच्छिन्न जनकता निरूपित जन्यता केवल अनुमिति में ही होते हैं। न अनुव्यवसाय में, न स्मृति में, न ही ध्वंस में।

जिस कार्य के प्रति जो वस्तु जिस रूप से अर्थात् जिस धर्म से विशिष्ट होती हुई जनक होती है। तद्वस्तुनिष्ठा तथा तद्धर्मावच्छिन्ना जो जनकता होती है उस से निरूपित जन्यता भी उसी कार्य में रुकती है, यह, नियम है।

अनुमिति के प्रति व्याप्ति ज्ञान व्याप्ति ज्ञानत्वरूप से अर्थात् व्याप्तिज्ञानत्व विशिष्ट सत् ही जनक होता है। व्याप्ति ज्ञान निष्ठा व्याप्ति ज्ञानत्व अवच्छिन्न जो जनकता है उससे निरूपित जन्यता अनुमिति में ही रूकती है। अन्यत्र नहीं रूकती है।

इसलिए व्याप्ति ज्ञानत्व अवच्छिन्न जनकता निरूपित जन्यतावद् ज्ञान अनुमिति होता है। और कहा गया है-

व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन-जनकता निरूपित-जन्यतावज्ज्ञानत्वं हि अनुमितेः लक्षणम्।

अनुमिति लक्षण का दलकृत्य

उपरोक्त लक्षण का दलकृत्य नीचे से प्रस्तुत किया जा रहा है। यदि ज्ञानत्व ही अभी तक मात्र अनुमिति का लक्षण है तो ब्रह्म में ज्ञान होने से ब्रह्म में अतिव्याप्ति होती है। "सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म" ये श्रुति वचन है। इसके वारण के लिए जन्यतावज्ज्ञानत्वम् इस प्रकार का अनुमिति का लक्षण किया जाता है। जिससे अतिव्याप्ति नहीं होती है। ब्रह्मज्ञानस्वरूप ही होता है जन्य नहीं होता है, यहाँ पर अति व्याप्ति नहीं है।

यदि जन्यतावज्ज्ञानत्व इतना मात्र लक्षण करें तो जन्यप्रत्यक्ष ज्ञान में जन्यतावज्ज्ञानत्वात् अतिव्याप्ति होती है, उसके वारण के लिए व्याप्ति ज्ञान निष्ठ जनकता निरूपित-जन्यतावज्ज्ञानत्व अनुमिति का लक्षण करना चाहिए। भले ही प्रत्यक्ष ज्ञान में जन्यतावज्ज्ञानत्व है फिर भी वह तो इन्द्रिय निष्ठजनकता निरूपित जन्यतावज्ज्ञात्व है। न की व्याप्ति निष्ठ जनकता निरूपित जन्यतावज्ज्ञानत्व। इसलिए अतिव्याप्ति नहीं है।

व्याप्ति ज्ञान निष्ठ जनकता निरूपित जन्यतावज्ज्ञानत्व यदि अनुमिति का लक्षण करे तो अनुव्यवसाय व्याप्तिस्मृति में अतिव्याप्ति होती है। अनुव्यवसाय तथा व्याप्तिस्मृति व्याप्तिज्ञान से उत्पन्न होते हैं। अतः उन दोनों का व्याप्ति ज्ञान निष्ठ जनकता निरूपित जन्यतावज्ज्ञानत्व है। इसलिए अतिव्याप्ति है उसके वारण के लिए व्याप्ति ज्ञानत्वावच्छिन-जनकतानिरूपित-जन्यतावज्ज्ञानत्वम्. ये अनुमिति का लक्षण करना चाहिए। उससे अतिव्याप्ति नहीं होती है। उसी प्रकार अनुमिति के प्रतिव्याप्ति ज्ञान तथा व्याप्ति ज्ञानत्व रूप से व्याप्ति ज्ञानत्व विशिष्ट सत् जनक होता है। व्याप्ति ज्ञान निष्ठा व्याप्ति ज्ञानत्व अवच्छिन्न जो जनकता उससे निरूपित जन्यता अनुमिति में ही रुकते हैं न की अनुव्यवसाय में और न व्याप्ति स्मृति में। इसलिए व्याप्तिज्ञानत्व अवच्छिन्न जनकतानिरूपि जन्यतावज्ज्ञानत्व का अनुव्यवसाय में तथा व्याप्ति

ध्यान दें:

स्मृति में अभाव के कारण अतिव्याप्ति नहीं होती है।

पाठगत प्रश्न 2.1

1. स्वध्वंश के प्रति व्याप्तिज्ञान किस रूप से कारण होता है?
2. अनुमिति के प्रति व्याप्तिज्ञान किस रूप से कारण होता है?
3. व्याप्ति स्मृति के प्रति व्याप्तिज्ञान किस रूप से कारण होता है
4. व्याप्तिज्ञानत्व अवच्छिन्न व्याप्तिज्ञाननिष्ठा जो जनकता होती है उससे निरूपित जन्यता किसमें होती है?
5. अनुमिति का निष्कृष्ट लक्षण क्या है?

परार्थानुमान

पर्वतवह्निमान है जिसक यह निश्चय है। उसके कोई अपर प्रतिवादी यदि पर्वत में आग है इस प्रकार से सन्देह करता हुआ पूछता है तो पर्वत पर आग है या नहीं। अब निश्चयवान जन सन्देह करने वाले के संशय को निवारण के लिए अवयव वाक्यों के प्रयोग से अनुमान प्रमाण प्रदर्शित करता है। यह परार्थानुमान कहलाता है। पर का अर्थ है प्रयोजन साध्य संशय की निवृत्तिरूप परार्थानुमान। इस परार्थानुमान के द्वारा प्रतिवादि की संशय निवृति होती है। तथा साध्यनिश्चय भी उत्पन्न होता है। यह निश्चय ही परार्थानुमिति कहलाता है। परार्थानुमिति के जनन के लिए एक वाक्य का प्रयोग होता है उसके क्रम से अवयव यहाँ पर दिये जा रहे हैं।

परार्थानुमान क्रम

जिसका साध्यनिश्चयात्मक होता है वह अपर जिसका साध्य संशय होता है। उसके प्रति क्रम से वाक्य कहता है जैसे-

पर्वत आग से युक्त है- यह पहला अवयव है इसलिए यह प्रतिज्ञा कहलाता है। इस वाक्य से साध्य क्या है इसका ज्ञान होता है। जैसे वह्निसाध्य है यह जाना जाता है। और सन्दिग्धसाध्यवान् पर्वत होता है यह ज्ञान भी उत्पन्न होता है। सन्दिग्ध साध्य का आश्रय ही पक्ष कहलाता है।इसलिए प्रतिक्षा वाक्य से पक्षज्ञान भी उत्पन्न होता है। पक्षज्ञान के बिना पक्षधर्मता का ज्ञान सम्भव नहीं होता है। इसलिए पक्षज्ञान पक्षधर्मता ज्ञान का प्रयोजक होता है।

प्रतिज्ञा को सुनकर के प्रतिवादी जिज्ञासा करता है कि जो पर्वत वह्निमान है वह कैसे है। अर्थात् तुम किस कारण से पर्वत को वह्निमान कहते हो। तब वादी जिज्ञासु के प्रति द्वितीय अवयव को कहता है धूमत्वाद् (धुएँ के कारण)। यह पञ्चम्यन्त पद है, स्वार्थानुमान में धूमत्व ही हेतु होता है। लेकिन परार्थानुमान में पर धुएँ को नहीं देखता है। अतः धुएँ के दर्शन से आग का प्रतिपादन नहीं होता है, वह तो धूमत्वाद् इस पञ्चम्यन्तपद के श्रवण से अग्नि का प्रतिपादन होता है। इसलिए पञ्चम्यन्त पद ही हेतु होता है। इसके द्वारा ही प्रतिवादी को ज्ञान होता हैं कि पर्वत धूमवान है। इसलिए इस पद के ज्ञान को पक्षधर्मता ज्ञान भी कहते हैं पञ्चम्यन्त वाक्य हेतु कहलाता है। इसलिए इस क्रम से द्वितीय अवयव ही हेतु होता है।

अब अगर जिज्ञासु कहता है कि मान भी लिया कि धुआँ पर्वत पर है। पर उससे क्या। धुआँ पर्वत

ध्यान दें:

पर है तो होने दो। लेकिन उस पर्वत पर अग्नि है इसका अनुमान कैसे किया जाए? तब उस जिज्ञासु के प्रति तृतीय अवयव प्रस्तुत किया जाता है। जहाँ जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ आग होती है। फिर भी प्रतिवादी जिज्ञासा करता हैं कि यह कहाँ देखा गया है? तब उसको बताता है कि जैसे रसोई घर में, इस प्रकार से। तब संपूर्ण वाक्य होता है,यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र वह्निः यथा महानसम्। अर्थात् जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ वहाँ आग होती है, इस वाक्य के द्वारा श्रोता का वह्निव्याप्य धुआँ, इस प्रकार का व्याप्तिसंस्कार उद्बुद्ध होता है। यह तृतीय अवयव उदाहरण कहलाता है। इस प्रकार से प्रतिज्ञा हेतु तथा उदाहरण इस क्रम से अवयवों का प्रयोग किया जाता है तो प्रतिवादी को क्रमशः पक्षज्ञान पक्ष धर्मताज्ञान तथा व्याप्तिसंस्कार का उद्बोध होता है। उससे पर्वत वह्निमान है यह निश्यचय उत्पन्न होता है। यह ज्ञान अनुमिति कहलाता है। पर की यह अनुमिति वह परार्थानुमिति कहलाती है। उसके प्रति करण परार्थानुमान कहलाता है। तीनों अवयवों का समुदाय न्याय कहलाता है। न्याय के द्वारा जो अनुमान उत्पन्न होता है वह न्याय प्रयोज्यानुमान तथा परार्थानुमान कहलाता है। इस प्रकार से न्याय से जो अनुमान उत्पन्न नहीं होता है वह न्यायप्रयोज्य अनुमान स्वार्थानुमान कहलाता है।

संक्षेप से परार्थानुमान का क्रम इस प्रकार से है-

प्रतिज्ञा- पर्वत वह्निमान है

हेतु- धुएँ के कारण

उदाहरण- जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है। जैसे रसोई घर में।

प्रतिज्ञा हेतु तथा उदाहरण इन तीनों अवयवों के द्वारा परार्थानुमिति सम्भव होती है। अथवा उदाहरण उपनय तथा निगमन इन तीनों अवयवों के द्वारा परार्थानुमिति सम्भव होती है।

वे अवयव है।

उदाहरण जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है जैसे रसोई घर में।

उपनय यह पर्वत धूमवान है।

निगमन पर्वत आगवान है

अनुमिति में किस अंश का अनुमितित्व होता है।

पर्वत वह्निमान है धूम के कारण इत्यादि अनुमान स्थल होते है। वहाँ पर्वत वह्निमान है यह अनुमान उत्पन्न होता है। अनुमिति परोक्षज्ञान को कहते हैं, न की प्रत्यक्ष ज्ञान को। यहाँ पर्वतविशेष्यत्व से तथा आग प्रकारत्व से तथा उन दोनों का सम्बन्ध संसर्गत्व से भासित होता है। पर्वत का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होता है, वह्नि का नहीं होता है। वृत्ति का बाहर जाने का हेतु इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होता है। वह सन्निकर्ष पर्वत के साथ है,वह्नि के साथ नहीं होता है। इसलिए पर्वताकार वृत्ति होती है। वह्नियाकार नहीं होती है। विषय ही पर्वत होता है तथा वह ही उपाधि कहलाता है। वृत्ति भी उपाधि होती है, इस प्रकार दोनों उपाधि एकदेश में होती है। इसलिए इनका उपधेय चेतन्य से अभेद होता है। लेकिन वह्निस्थल में एकदेशत्व नहीं है। अतः पर्वतवह्निमान है इस स्थल में पर्वत विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है, वह्निविषय में परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। पर्वत वह्निमान है यह अनुमान तो पर्वतविशेष्यकृत वह्निप्र कारक ज्ञान ही होता है। अनुमिति का वह्निप्रकारकांश ही व्याप्तिजन्यज्ञान होता है। इसलिए उस अंश में अनुमितित्व है। पर्वतविशेष्यकांश इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होता है न कि व्याप्तिजन्य। इसलिए पर्वतविशेष्यकांश में अनुमितित्व नहीं होता है। अतः वह्निप्रकारक पर्वतविशेष्यक अनुमिति का सर्वांश में व्याप्तिज्ञानजन्यज्ञानत्व

ध्यान दें:

नहीं होता है।

पाठगत प्रश्न 3.1

1. परार्थानुमान में परार्थ किसे कहते हैं?
2. वेदान्तियों के परार्थानुमान में कितने अवयव होते हैं?
3. पर्वत वह्निमान है धुएँ के कारण यहाँ पर किस अंश में अनुमितित्व होता है।

व्याप्ति

व्याप्तिज्ञान के लिए कुछ पारिभाषिक शब्दों के परिचय से सरलता हो इसलिए उनको यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है।

जिस भूतल में घट होता है वहाँ पट भी होता है तो घट के साथ समान एक ही अधिकरण जिसका होता है वह घटसमानाधिकरण पट होता है। अथवा जो रुकता है वह पट होता है। समानाधिकरण्य ही एकाधिकरणवृतित्व वाला होता है। समानाधिकरण इसका अर्थ है स्वाधिकरण में वर्तमान। घट तथा पट भूतल में होते है। तब निम्नप्रकार से वाक्यों का प्रयोग कर सकते है।

1. घटसमानाधिकरण पट है (अर्थात् घटाधिकरणवृत्ति ही पट है)
2. घटसमानाधिकरण्य पट में होता है।
3. पटसमानाधिकरण घट होता है।
4. पटसमानाधिकरण्य घट में होता है।

व्याप्तिलक्षण अन्त में समग्ररूप से उपस्थापित है। प्रारम्भ में छोटे छोटे लक्षण करके दोषादि को उद्घाटित करके उनका संशोधन किया गया है। इसलिए परिनिष्ठित लक्षण किस कारण से दीर्घ हैं तथा प्रत्येक दलों की क्या आवश्यक्ता है। उसको यहाँ पर प्रकट किया जा रहा है।

साध्य के अधिकरण में जो होता है वह साध्यसमानाधिकरण कहलता है तथा उस साध्यसमानाधिकरण में जो होता है उसे साध्यसमानाधिकरण्य कहते है। साध्यसमानाधिकरण्य ही व्याप्ति का लक्षण है। पर्वतवह्निमान है धुएँ के कारण यहाँ स्थल में पर्वत है, साध्य वह्नि है, तथा हेतु धूम होता है। इसलिए धूम मे वह्निसमानाधिकरण्य होता है। इसलिए यहाँ पर साध्यसमानाधिकरण व्याप्ति कही गयी है। व्याप्ति धूम में होती है। जिस हेतु में व्याप्ति होती है तथा जो हेतु के पक्ष में रुकती है वह हेतु सद्हेतु कहलाता है। जिसमें व्याप्ति रूकती है वह व्याप्य होता है इसलिए धुआँ वह्निव्याप्य होता है।

अब कहते हैं कि तप्त लोहे के गोले में आग रूकती है लेकिन धुआँ नहीं होता है। इसलिए वह्निसमानाधिकरण धुआँ नहीं होता है और वह्निसमानाधिकरण्य में भी धुआँ नहीं होता है। अतः धूम में लक्षणगमनभावा से अव्याप्ति होती है। उसके निवारण के लिए साधनाश्रयाश्रित- साध्यसामानाधिकरण्य व्याप्ति लक्षण करना चाहिए, साधन यहाँ पर हेतु तथा लिङ्ग होता है। साधन का आश्रय ही साधनाश्रय कहलाता है। साधानाश्रय में आश्रित साधनाश्रित कहलाता है। साधनाश्रयाश्रित जो साध्य है वह साधनाश्रयाश्रितसाध्य होता है। उस प्रकार का साध्यसमानाधिकरण्य व्याप्ति होता है। इस प्रकार का लक्षण करने पर उक्त स्थल में अतिव्याप्ति नहीं होती है। लोहे के गोले में धुआँ नहीं होती है इसलिए वह गोलक धूमात्मकसाधनाश्रय होता है। लेकिन रसोई घर आदि धुएँ के आश्रयित होती है। लोहे में विद्यमान आग

ध्यान दें:

किसी साधन पर आश्रित नहीं होती है तथा महानस(रसोई घर) आदि में विद्यमान आग साधन पर आश्रित होती है। इस प्रकार से धूमाश्रयाश्रितवह्निसमानाधिकरण्य धुएँ में होता है, इसलिए यहाँ पर अव्याप्ति नहीं होती है। तथा धुएँ के आश्रय महानस आदि होते है। इसलिए आग के अधिकरण में महानस आदि में धुआँ होता ही है। इसलिए यह धुआँ साधनाश्रयाश्रित साध्यसमानाधिकरण कहलाता है। इस प्रकार से साधनाश्रयाश्रितसाध्यसमानाधिकरण्य होने से यहाँ पर अव्याप्ति नहीं होती है।

पर्वत धुआँ से युक्त है इस अनुमान स्थल में पर्वतपक्ष है तथा धुआँ साध्य है आग हेतु तथा साधन है। आग का आश्रय जैसे रसोई आदि तथा तप्त लोहे का गोलक आदि है। धुआँ लोहे के गोले में नहीं होता है। धुएँ के अभाव अधिकरण में वर्तमान आग साध्याभावाधिकरण में वर्तमान असिद्धहेतु होता है। इस प्रकार से आग असिद्ध हेतु है यह सिद्ध होता है। असिद्ध हेतु का लक्षण हो जाने पर अतिव्याप्ति नहीं होती है। यहाँ पर साधन वह्नि है तथा उसके आश्रय महानस आदि है। उसमें आश्रित धुआँ होता है उस धुएँ का समानाधिकरण्य वह्नि में होता है इसलिए साधन आश्रयाश्रित साध्यसामानाधिकरण्य आग में होता है। इसलिए अतिव्याप्ति होती है। उसके निवारण के लिए साधन का अशेषत्व तथा विशेषण का निवेश होना चाहिए। तब अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्य व्याप्तिलक्षण होता है। अशेष से तात्पर्य है यावत्साधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्य, उससे अतिव्याप्ति नहीं होती है। जो साध्य साधन के सभी आश्रयों में होता है वह ही यावत्साधानाश्रयाश्रित साध्य होता है। प्रकृति में साधन वह्नि होती है उसका उसका आश्रय लोहे का गोला होता है। उसमें धुआँ नहीं होता है। इसलिए धुआँ वह्नि के उन आश्रयों में नहीं होता है। अतः अशेषवह्नियाश्रयाश्रित धुआँ नहीं होता है। उसे अशेष वह्नि के आश्रय के आश्रित धुआँ सामानाधिकरण्य अग्नि में नहीं होता है इससे अतिव्याप्ति नहीं है। इसलिए अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसामानाधिकरण्य व्याप्तिलक्षण कहलाता है। भले ही व्याप्तिलक्षण में अनेक दोष होते है। उनके समाधान के लिए महान प्रयास किया जाता है। लेकिन वह सभी भी प्रपञ्च उन्नत कक्षाओं जानना चाहिए।

व्याप्ति कैसे जानी जाती है। जगत में जहाँ-जहाँ धुआँ होता हैं वहाँ-वहाँ आग होती है। वहाँ सहचर्य का दर्शन होता है तथा व्यभिचार का अदर्शन होता है तब धुआँ वह्निवाप्य तथा व्याप्तिविषयक प्रत्यक्ष अनुभव उत्पन्न होता है। यह व्याप्ति का अनुभव होता है जो व्याप्ति नाम से प्रसिद्ध होता है। इसलिए व्याख्याता ही व्याप्ति कहलाती है।

सद हेतु

जिस में व्याप्ति है तथा जो हेतु पक्ष में होता है वह सद्हेतु कहा जाता है। हेतु ही लिङ्ग कहलाता है। लिङ्ग तथा अन्वय एक प्रकार के ही होते है।

पाठगत प्रश्न 4.1

1. 'घटसमानाधिकरण पट' इसका क्या अर्थ होता है?
2. परिष्कृत व्याप्ति का क्या लक्षण है?
3. सद् हेतु किसे कहते हैं?
4. लिङ्ग कितने प्रकार का होता है?

जगन्मिथ्यात्व

"यहाँ पर नाना प्रकार का कुछ भी नहीं है" इस प्रकार से बहुत प्रकार की श्रुतियों के द्वारा सिद्ध

ध्यान दें:

होता है कि जगत् मिथ्या है। फिर भी जो नास्तिकवादी होते हैं वे आगमप्रमाण्य को स्वीकार नहीं करते है लेकिन अनुमान को प्रमाणत्व के रूप में अङ्गीकार करते हैं। उनको भी समझाने के लिए अनुमान के द्वारा जगत का मिथ्यात्व सिद्ध किया जाता है। अद्वैतसाक्षात्कार में जगत का मिथ्यात्व अनुमान का मुख्य प्रयोजन होता है।

वह अनुमान है- ब्रह्मभिन्न सब मिथ्या है, ब्रह्म से भिन्न होने के कारण। जो जैसा वह वैसा ही है, जैसे शुक्ति के रूप में। यह अनुमान यहाँ मुख्य है। इस अनुमान का आधा मुख्य अनुमान होता है। इस रूप के द्वारा भी कुछ उल्लेख करेंगे। कुछ मिथ्यात्व अनुमान होता है इसका भी उल्लेख होगा। इस अनुमान में 'ब्रह्मभिन्नं सर्वम्' यह पक्ष होता है। मिथ्यात्व ही साध्य होता है। ब्रह्मभिन्नत्व ही हेतु होता है। दृष्टान्त में जहाँ जहाँ ब्रह्मभिन्नत्व है वहाँ-वहाँ मिथ्यात्व है यही इसका तात्पर्य है।

यदि सब ब्रह्म से भिन्न है ऐसा नहीं कहकर केवल सब मिथ्या है। इस प्रकार का ही पक्ष रखेंगे तो उसमें भी ब्रह्म अन्तर्निहित होता है। उसके द्वारा ब्रह्म में भी मिथ्यात्व की आपत्ति होती। इसलिए कहा गया है सब ब्रह्म से भिन्न है।

हेतु में साध्य की व्याप्ति है तो उस हेतु से अन्य जगह भी साध्य का अनुमान किया जा सकता है। जैसे धूम में यदि आग की व्याप्ति ग्रहण करते हैं तो अन्य जगह भी जहाँ धूम है वहा भी आग को साध सकते हैं। इस प्रकार से मिथ्यात्व की व्याप्ति भी ब्रह्म से भिन्न में ग्रहण करते हैं तो अन्य स्थान पर जहाँ ब्रह्म से भिन्नत्व है वहाँ पर भी मिथ्यात्व है इसका अनुमान किया जा सकता है। इसलिए यदि किसी भी प्रमाण से मिथ्यात्व व्याप्य तथा ब्रह्मभिन्नत्व इसका ज्ञान होता है तो वह परीक्षणीय है। वहाँ यह उदाहरण होता है शुक्ति में रजत। शुक्तिरजत ब्रह्म से भिन्न है यह स्पष्ट हो ही गया है। यदि शुक्तिरजत में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है तो दृष्टान्त सिद्धि यह दोष उत्पन्न हो जाता है शुक्ति में जो रजत भासित होता है। यदि सुक्तिरजत में मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता है तो दृष्टान्तसिद्धि दोष उत्पन्न होता है। शुक्ति में जो रजत भासित होता है वह शुक्ति रजत कहलाता है। दृष्टान्त में हेतु तथा साध्य में सहचार दर्शन से व्याप्ति निश्चय होता है। लेकिन यदि दृष्टान्त रजत में मिथ्यात्व नहीं हो तो व्याप्तिनिश्चय नहीं होता है। इसलिए रजत में मिथ्यात्व है इसप्रकार से विचार करना उत्तम होता है।

शुक्ति में रजत की कभी प्रतीति होती है। लेकिन यह शुक्ति ही रजत अधिष्ठान के प्रत्यक्षज्ञान से शुक्ति विषयक अज्ञान तथा अज्ञानकार्य रजत का निवारण होता है। तब रजत की उपलब्धि नहीं होती है। उसके पश्चात् इस अनुपलब्धि के द्वारा यहाँ रजत नहीं है इस प्रकार के रजत के अभाव का ज्ञान उत्पन्न होता है। उस रजत के द्वारा मिथ्यात्व सिद्ध होता है। इसलिए शुक्ति तथा रजत ब्रह्मभिन्नत्व से मिथ्या है इस दृष्टान्त की असिद्धि नहीं है। उससे मिथ्यात्वव्याप्य ब्रह्मभिन्नत्व यह ज्ञान उत्पन्न होता है। तथा अन्य जगह ब्रह्म के भिन्नत्वदर्शन से मिथ्यात्व का अनुमान करना चाहिए।

आक्षेप

प्रातिभासिक रजत में जैसे ब्रह्मभिन्नत्व है वैसे अविद्याजन्यत्व तथा दोषजन्यत्व भी होता है। क्योंकि प्रातिभासिक रजत का उपादान कारण ही अविद्या है। इस प्रकार चक्षु आदि के दोषवश ही रजत भासित होता है। इस प्रकार सभी प्रातिभासिक पदार्थों में अविद्याजन्यत्व तथा दोषजन्यत्व है तथा मिथ्याजन्यत्व भी है। यहाँ यदि कोई मिथ्यात्वव्याप्य ब्रह्मभिन्नत्व को नहीं जानता है,परन्तु मिथ्यात्वव्याप्य अविद्याजन्यत्व अथवा मिथ्यात्व व्याप्य दोषजन्यत्व इस व्याप्ति को जानता है। वह व्यक्ति ब्रह्मभिन्नोंमें अविद्याजन्यत्व रूप हेतु को देखकर मिथ्यात्व का अनुमान करता है। तथा दोषजन्यहेतुत्व को देखकर के भी मिथ्यात्व अनुमान करता है। वैसे ब्रह्मभिन्नत्वज्ञान के विना ही मिथ्यात्व का ज्ञान उत्पन्न होता है तो कहाँ से ब्रह्मभिन्नत्व की हेतुत्व से कल्पना की जाए, यह आक्षेप होता है। तब कहा जाता है। अज्ञानजन्य प्रातिभासिक रजतादिक

ध्यान दें:

जैसे मिथ्या होते है वैसे अनादि अज्ञान भी मिथ्या ही होता है। इसलिए श्रुति मे अतोऽन्यदार्तम् (इसलिए ब्रह्म से भिन्न सब मिथ्या है) कहा गया है। इस श्रुति के द्वारा ब्रह्मभिन्न सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है यह प्रतिपादित किया जाता है। रजत में अज्ञानजन्यत्व तथा दोषजन्यत्व होता है लेकिन अज्ञान में अज्ञानजन्यत्व तथा दोष जन्यत्व नहीं होता है क्योंकि अज्ञान अनादि होता है। वह जन्य नहीं होता है। लेकिन उसमें मिथ्यात्व है। तो अज्ञान का मिथ्यात्व साधन के लिए कोई हेतु कल्पनीय होना चाहिए। जैसे रजत का मिथ्यात्व मिथ्यात्व साधन में ब्रह्मभिन्नत्व अनङ्गीकार करके अज्ञानजन्यत्व तथा दोषजन्यत्व को ही हेतु के द्वारा आक्षेप कर्ता ने अङ्गीकार किया गया है। उसी प्रकार यह दोनों यहाँ मिथ्यात्व के साधन नहीं होते हैं। परन्तु अज्ञान में ब्रह्मभिन्नत्व नहीं होता है। अत: अज्ञान में मिथ्यात्व साधन के लिए जैसे ब्रह्मभिन्नत्व हेतुत्व के द्वारा अङ्गीकार करना चाहिए ही वैसे अन्य जगह भी रजतादि में ब्रह्मभिन्नत्व अङ्गीकार किया गया है इससे लाघव भी होता है।

जब तक साध्य जो मिथ्यात्व है। वह क्या है यह नहीं जाना जाएगा। तब तक किसी भी पदार्थ के मिथ्यात्व का अनुमान नहीं लगा सकते हैं। इसलिए सबसे पहले मिथ्यात्व का लक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

मिथ्यात्व

स्वाश्रयत्वेन अभिमत-यावन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वस्य लक्षणम्।

स्वाश्रयत्व से अभिमत यावत् निष्ठातत्यन्ताभावप्रतियोगित्व ही मिथ्यात्व का लक्षण है।

यहाँ क्रमश: इस लक्षण का पदकृत्य प्रस्तुत किया जा रहा है। लक्षण का एकांश अत्यन्त अभाव प्रतियोगित्व होता है उस अंश को लेकर पदकृत्य उपस्थापित किया जा रहा है।

यदि अत्यन्ताभावयोगित्व इतना ही मिथ्यात्व का लक्षण करें तो ब्रह्म से भिन्न होने के कारण ब्रह्मभिन्न सब मिथ्या है, इस मिथ्यात्व के अनुमान में सिद्धसाधन दोष उत्पन्न होता है।

अवयवों के कारण घट अनित्य है, अवयवों के कारण, इस प्रकार से इस अनुमान में अनित्यत्व क्या है तो कहते हैं कि अनित्वत्व ही कार्यत्व है। तब वह ही अनुमान घट कार्य होता है अवयवों के कारण इस प्रकार से कह सकते हैं। उसी प्रकार मिथ्यात्व अनुमान में भी अनुमान का आकार इस प्रकार का ही होता है- ब्रह्मभिन्न सब कुछ अत्यन्त अभाव प्रतियोगी होते हैं ब्रह्मभिन्नत्व के कारण। यहाँ पर सिद्धसाधनत्व दोष है। वह कैसे? तब कहतें हैं कि घटादि एकत्र होते हैं तो अन्यत्र उसका अत्यन्ता अभाव होता है। इस अत्यन्त अभाव के प्रतियोगी घटादिक होते हैं। प्रतियोगित्व घटादियों में होता है। इस प्रकार से घटादियों में अत्यन्त अभाव प्रतियोगित्व सिद्ध होता है। उसके साधन के लिए कहते हैं की ब्रह्म से भिन्न सब अत्यन्ताभाव प्रतियोगित्व होता है ब्रह्म से भिन्न होने के कारण, इस अनुमान सिद्धि का साधन करते हैं तो उसका सिद्धसाधनत्व दोष उपस्थित होता है।

इसलिए मिथ्यालक्षण में कुछ संसोधन करते हैं। वह है- स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्।

जिसमें मिथ्यात्व साधना है 'स्व' पद से उसका ग्रहण करना चाहिए। घटादि में मिथ्यात्व साधना है तो स्वयं घटादिक होते हैं। स्वयं के जिस आश्रय में तादात्म्य सम्बन्ध के साथ होता है, उस आश्रय में स्व का अत्यन्त अभाव कभी नहीं होता है। स्व के आश्रय में विद्यमान अत्यन्ता भाव का स्वयं प्रतियोगित्व नहीं होता है। इसलिए स्वयं में स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है। अत: इस प्रकार का प्रतियोगित्व सिद्ध नहीं होता है तथा उससे प्रोक्त सिद्ध साधनत्व दोष उत्पन्न होता

है लेकिन इस प्रकार का प्रतियोगित्व अप्रसिद्ध मिथ्यात्म अनुमान का असम्भवदोष अथवा साध्यप्रसिद्धि दोष ही उत्पन्न होता है।

(अप्रसिद्ध इसका अर्थ है कि अलीक पदार्थ, अथवा उस प्रकार के पदार्थ प्रमा नहीं होते हैं। मिथ्यात्व के अनुमान में मिथ्यात्व साधना चाहिए। लेकिन स्वाश्रयनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व मिथ्यात्व होते हैं, इस प्रकार से यदि ये मिथ्यात्व होते हैं तो उस प्रकार का मिथ्यात्व अप्रसिद्ध होता है। अतः यहाँ साध्य अप्रसिद्धिदोष उत्पन्न होता है।

साध्य अप्रसिद्धि दोष के निवारण के लिए लक्षण इस प्रकार से परिष्कृत किया जाता है -स्वाश्रयत्वेन अभिमत-निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम् (स्वाश्रयत्व के द्वारा अभिमत निष्ठा, अन्यन्त अभाव प्रतियोगित्व मिथ्यात्व कहलाता है) इस प्रकार से लक्षण किया जाता है। यहाँ जिसका मिथ्यात्व है वह स्व पद से बोध करने योग्य है। अर्थात् स्व का आश्रय रूप से अभिमत पदार्थ में वर्तमान जो अत्यन्त अभाव प्रतियोगित्व होता है वह मिथ्यात्व होता है। जिस प्रकार से शुक्तिरजतस्थल में तथा पुरोवर्तिनी पदार्थ में इदं रजतम् (यह रजत है) इस प्रकार की प्रतीती होती है। यहाँ पर इदं विशेष है तथा रजत प्रकार है। रजत का आश्रय वस्तुतः इदं पद नहीं है लेकिन रजत का आश्रय रूप इदं प्रतीत होता है। अर्थात् रजतप्रकारक प्रतीति का विशेष्य इदं प्रतीत होता है। इसमें रजत का अत्यन्ताभाव है। इस प्रकार से अत्यन्ताभाव की 'यह रजत नहीं है' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इस अत्यन्त अभाव का प्रतियोगी रजत होता है। प्रतियोगी रजत्व में होने के कारण रजत में मिथ्यात्व होता है। यहाँ पर स्व का अर्थ है रजत का, आश्रय का अर्थ है पूरवर्ती पदार्थ,अभिमत का अर्थ है इसमें, स्वस्य का अर्थ है रजत का, इस प्रकार से अत्यन्ताभाव होता है। अतः स्वस्मिन् स्वाश्रयत्वेन अभिमतनिष्ठात्यन्ताभावस्य प्रतियोगित्वम् इति इस लक्षण से रजत का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। इस प्रकार ऐसा साध्य प्रसिद्ध होता है जिससे उपरोक्त दोषों का निवारण हो जाता है।

स्वाश्रयत्वेन अभिमत-निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्, इस प्रकार का लक्षण करने पर भी सिद्धसाधनत्वदोष उत्पन्न होता है। जैसे वृक्ष की शाखा में एक जगह बन्दर बैठा है। इसलिए यहाँ पर बन्दर का संयोग वृक्षपर शाखा अवच्छेदन के द्वारा होता है। यहाँ पर संयोग आधेय है तथा वृक्ष आधार है। अतः आधेयता सम्बन्ध के द्वारा वृक्ष संयोगवान है इस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न होती है। आधेयता सम्बन्ध मूलावच्छेद से कपि का संयोग नहीं होता है। इसलिए संयोग का अभाव वृक्ष इस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न होती है। संयोग के आश्रयत्व से अभिमत वृक्ष में संयोग का अभसव भी होता है। अतः संयोगाश्रयत्व से अभिमत वृक्ष में जो अत्यन्त अभाव होता है,उसका प्रतियोगित्व संयोग में तो जाना जा चुका है। उसके ज्ञान के लिए मिथ्यात्व अनुमान की आवश्यक्ता नहीं होती है। इसलिए इन स्थलों में मिथ्यात्व सिद्धि ही है, जिससे मिथ्यात्व अनुमान में सिद्धसाधत्वदोष उत्पन्न होता है।

मिथ्यात्व अनुमान के द्वारा मिथ्यात्व साधना चाहिए लेकिन यदि स्वाश्रयत्व से अभिमत निष्ठात्यन्त अभाव प्रतियोगित्व होता है वह मिथ्यात्व कहलाता है। इस प्रकार से यह लक्षण भी मिथ्यात्व को नहीं साधता है। मिथ्यात्व तो सत्यत्व के विरुद्ध होता है। लेकिन यह लक्षण सत्यविरुद्ध मिथ्यात्व के बिना साधे ही अर्थान्तर की कल्पना करता है। वह अर्थान्तर क्या है। इस लक्षण से किसका मिथ्यात्व आता है। कहते कपि संयोग का। कपि का संयोग स्व अत्यन्त अभाव प्रतियोगी है इसलिए अर्थान्तर की कल्पना होती है। पदार्थ जिस अधिकरण में होतें है उस अधिकरण में यदि उसका अत्यन्त अभाव भी हो तो वह पदार्थ अव्याप्यवृत्ति युक्त कहलाता है। कपि संयोग में स्वात्यान्त अभाव प्रतियोगित्व ही इस अव्याप्यवृतित्व का साधन करता है, यह इसका लक्षण होता है। इस प्रकार से ही यदि मिथ्यात्व होता है तो वह सत्य के विरुद्ध भी नहीं होता है। अव्याप्यवृत्तित्वरूप अर्थान्तर की भी कल्पना होती है। लेकिन यह भी एक

ध्यान दें:

ध्यान दें:

दोष है। इसलिए इस दोष के निवारण के लिए लक्षण में और भी परिष्कार का विधान किया जाता है। स्वाश्रयत्वेन अभिमत-यावन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्, यह लक्षण किया जाता है। यावत् पदार्थ का अर्थ यहाँ पर साकल्य है अर्थात् समस्त अवयव। और स्वाश्रयत्व से अभिमत में सम्पूर्ण पदार्थों में समस्त अवयात्मक में स्थित जो अत्यन्त अभाव होता है यदि उसका प्रतियोगीत्व स्व हो तो स्व का मिथ्यात्व होता है। सम्पूर्ण अवयवों में शुक्त्यात्म वस्तुओं में वर्तमान होता है जो अत्यन्त अभाव तत्प्रतियोगित्व रजत का होता है। इसलिए रजत की मिथ्यात्व सिद्धि होती है।

इस प्रकार से - स्वाश्रयत्वेन अभिमत-यावन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वम् इति मिथ्यात्वस्य यह लक्षण सिद्ध होता है।

स्वं अर्थात् मिथ्यात्व से अभिमत पदार्थ। उसका आश्रयत्व से अभिमत जो वस्तु यावत् वस्तु होती है। उसमें निष्ठ जो अत्यन्त अभाव होता है, तत्प्रतियोगित्व मिथ्यात्व कहलाता है। जैसे स्वयं घटादिक तथा उसेक आश्रयत्व से अभिमत कापालादिक। उसमें निष्ठ अत्यन्त अभाव घट आदि का अत्यन्त अभाव होता है। उसके प्रतियोगित्व घटादि होते हैं। अतः घटादि का मिथ्यात्व सिद्ध हो चुका है। व्यावहारिक घटादि कपालादि होते ही है। इसलिए उन कपालादि में अत्यन्त अभाव नहीं होता है। फिर भी पारमार्थिकत्व के द्वारा घटादि कभी भी कपालादि में नहीं होते है। इसलिए पारमार्थिकत्व से कपाल में घटादि का अत्यन्ताभाव होता है।

पाठगत प्रश्न 5.1

1. किस श्रुति के द्वारा जगत् का मिथ्यात्व जाना जाता है?
2. जगत् के मिथ्यात्व में क्या अनुमान होता है?
3. मिथ्यात्व का परिष्कृत लक्षण क्या होता है।

उपमान

उपमान के ज्ञान के लिए सादृश्य का ज्ञान अपेक्षित होता है इसके बारे में लौकिक दृष्टान्त के माध्यम से कुछ लिखते है।

सादृश्य

संसार में अनेक पदार्थ होते हैं उनमें साधरण धर्म होते हैं जैसे वटवृक्ष आमवृक्ष। वटवृक्ष का बीज होता है बीजा रोपण से वटवृक्ष अङ्कुरित होता है तथा क्रमशः बढ़ता है उससे शाखा उत्पन्न होती है। तथा उनमें पत्ते होते हैं। शाखाओं से प्रसाखा उत्पन्न होती है। तथा छाया भी होती है। वृक्ष ऊपर की और बढ़ते है। इस प्रकार से आम्रवृक्ष के विषय में भी है। इस प्रकार से वट के अनेक धर्म आम्रवृक्ष में भी होते है। ये धर्म जिस प्रकार से वट में होते हैं वैसे ही आम्रवृक्ष में भी होते हैं। इसलिए वटसदृश आम्रवृक्ष होता है इस प्रकार का व्यवहार संसार में कर सकते हैं। व्युत्क्रम से आमवृक्ष के अनेक धर्म वट में होते है इसलिए कोई कहने का इच्छुक है तो आम्रवृक्ष के सदृश वट वृक्ष होता है इस प्रकार का भी वाक्य बन सकता है। लेकिन वट के कुछ असाधारण धर्म होते हैं जो आम्रवृक्ष में नहीं होते हैं। यहाँ वटवृक्षनिष्ठ जो असाधारण धर्म होते हैं। उनसे भिन्न वटवृक्षगतधर्म ही सादृश्य होते हैं। इसलिए सादृश्य का लक्षण बताया गया हैं कि 'असाधारणान्यतद्गतबहुधर्मवत्त्वम्' इति। असाधारणों से अन्य जो उसमें बहुत से धर्म होते हैं वे असाधारणान्यतद्गतधर्मा कहलाते हैं, और ये जिसमें है वह असाधारणान्यतद्गतबहुधर्मवान्,

ध्यान दें:

कहलाता है। उसका भाव असाधारणान्यतद्गतबहुधर्मत्व होता है।

इसका अपर भी लक्षण है तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् (उससे भिन्न होने पर भी उसमें होने वाला धर्म।) जैसे आम का वृक्ष वट वृक्ष से भिन्न है, इसलिए उसमें वटभिन्नत्व है। वट के जो अधिक धर्म होते हैं वे आम्रवृक्ष में भी यहाँ पर लक्षण समन्वय होता है। जैसे गाय से भिन्न भैंस में भी। चार पैर, पूँछ, दो सींग, इत्यादि अधिक धर्म गाय के धर्म भैंस में भी होते हैं। अत: गाय से भैंस की भिन्नता भी है तथा गोगत अधिक धर्म उसमें होने से भैंस में गोसादृश्य भी है। सादृश्य सम्बन्ध विशेष होता है। इसलिए उसका एक प्रतियोगी होता है तथा अपर अनुयोगी।

जब गोगत धर्म भैंस में होते हैं अर्थात् गोसादृश्य महिष में होता है इस प्रकार से विवक्षा होती है,तब गौ निरूपित सादृश्य का प्रतियोगी, तथा महिष सादृश्य का अनुयोगी कहलाता है। गो निरुपित सादृश्य महिषनिरूपित सादृश्य से भिन्न ही होता है। नहीं तो गोसदृश महिष के दर्शन में महिष सदृश देखता हूँ इस प्रकार की प्रयोगापत्ति आ जाती है। गोदर्शन से गो सदृश देखता हूँ यह प्रयोगाप्ति होती है।

उपमान

चैत्र नाम का कोई व्यक्ति गाय को जानता है। लेकिन गवय (जंगली गाय) किसे कहते हैं यह नहीं जानता है। गवय कोई वन्य पशु विशेष होता है। चैत्र वन में जाता हुआ वन के किसी व्यक्ति से जिसे गवय का ज्ञान है पूछता है कि गवय क्या होता है। तब उससे वह व्यक्ति कहता है कि जैसे गौ होती है वैसे ही गवय भी होता है। इस वाक्य से 'गोसदृश गवय होता है' इस प्रकार का परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है। उसके बाद वन में जाने पर चैत्र एक पशुओं के झुण्ड को देखता है। वास्तविक रूप से वह पशु गोसदृश होता है। इसलिए गो सदृश गवय होता है इस वाक्य को चैत्र स्मरण करता है । चैत्र की स्मृति में भी गोसादृश्य है तथा सम्मुख स्थित पशु भी गोसादृश है। तब वह सम्मुख स्थित पशु में गो सादृश्य का प्रत्यक्षीकरण करता है। इस प्रकार से स्मरणात्मक ज्ञान से गो सादृश्य विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान से यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि ये सभी पशु जाति वाले सभी पशु गवय पद से वाच्य है।

गवय में गोसादृश्य होने से गो देह में गवय सादृश्य का ज्ञान होता है। गवय सन्निहित होता है लेकिन गौ असन्निहित होता है। गाय के साथ किसी भी इन्द्रिय का कोई भी सन्निकर्ष नहीं होता है। फिर भी इस असन्निहित गाय में होने वाला यह गवयसादृश्य ही उपमिति कहलाता है। गवय में गोसादृश्य के जानने पर ही गाय में गवय सादृश्य का ज्ञान होता है यह अन्वय सहचर्य होता है। गवय में गोसादृश्य के अज्ञात होने पर गाय में भी गवय सादृश्य नहीं जाना जाता है। इस प्रकार का व्यतिरेक सहचर्य होता है। इसलिए गाय में गवयसादृश्य ज्ञान के प्रति गवय निष्ठगोसादृश्यज्ञान करण होता है। वह ही उपमान कहलाता है।

चैत्र जंगल में पशु के देह में गोसादृश्य को देखता है। गोसदृश यदि गवय को जान ले तो वह उस पशुदेह में गोसादृश्य को नहीं देखे। इसलिए गोसदृश गवय होता है। यह ज्ञान अपेक्षित है। यहाँ पर उपमेय गवय होता है। चैत्र के उपमेय आकार वाली अन्त: करण वृत्ति का जन्म होता है। इय वृत्ति ही उपमान कहलाती है। गवयनिष्ठ गोसादृश्य के विना यह वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है, इसवृत्ति का जनक गवयनिष्ठ गोसादृश्यज्ञान होता है। इसलिए यह सादृश्यज्ञान गौण उपमान कहलाता है। मुख्य उपमान तो उपमेय आकार वाली वृत्ति ही होती है। यह वृत्ति ही उपमान प्रमाण कहलाती है। उसके बाद चैत्र सोचता है कि मेरी गाय गवय सदृश है। अब गोनिष्ठ गवयसादृश्यज्ञान उसको होता है। यह ज्ञान ही उपमिती है, यदि उपमेय आकार वाली वृत्ति उत्पन्न नहीं हो तो गोनिष्ठ-गवयसादृश्यज्ञान भी उत्पन्न नहीं होगा। इसलिए वह वृत्ति उपमान प्रमाण कहलाती है।

सन्निहित गवय में गोसादृश्यज्ञान उपमानप्रमाण होता है तथा असन्निहित गाय में गवयसादृश्यज्ञान

ध्यान दें:

उपमिति कहलाता है।

गोनिष्ठ गवयसादृश्य को प्रत्यक्ष प्रमाण से तो नहीं जाना जा सकता है क्योंकि इन्द्रिय का गाय के साथ कोई भी सन्निकर्ष नहीं होता है। गाय धर्मी होती है। तथा गवय सादृश्य धर्म होता है। धर्मि के इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष के अभाव में धर्म के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष संभव नहीं होता है। इस प्रकार से गो गत सादृश्य के द्वारा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अभाव से गोनिष्ठसादृश्यविषयक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। गवय में गोसादृश्य ही गाय में गवय सादृश्य है ऐसा नहीं कह सकते है। गोसदृश गवय के दर्शन में गवय सदृश देखता हूँ यह प्रयोगापत्ति होती है तथा गो दर्शन में गोसदृश को देखता हूँ यह प्रयोगापत्ति होती है।

पाठगत प्रश्न 6.1

1. सादृश्य का क्या लक्षण है?
2. कौन सादृश्य का प्रतियोगी होता है?
3. गोनिरूपितसादृश्य से गवयनिरूपितसादृश्य एक है अथवा भिन्न?
4. क्या उपमान प्रमाण होता है?
5. उपमिति किसे कहते हैं?

पाठ सार

इस पाठ में अनुमान तथा उपमान इन दोनों प्रमाणों का आलोचन किया गया है। वहाँ अनुमितिकरण अनुमान स्वरार्थ तथा परार्थ के भेद से दो प्रकार का होता है। नैयायिकों के मत के साथ वेदान्तियों के मत का विरोध है। इसलिए दोनों दर्शनों की भी अनुमान प्रक्रिया यहाँ पर प्रदर्शित की गई है। वहाँ सबसे पहले न्यायसम्मत स्वार्थानुमानक्रम प्रदर्शित है। उसके बाद वेदान्त सम्मत अनुमान क्रम प्रतिपादित किया गया है।

यदि अनुमिति का ज्ञान हो तब ही अनुमितिकरण अनुमान जाना जा सकता है। इसलिए सबसे पहले अनुमिति किसे कहते है इसका आलोचन किया गया है। उसके बाद परार्थानुमान प्रदर्शित किया गया है। अनुमान का हृदय व्याप्ति होता है। इसलिए यहाँ पर व्याप्ति समझाई गई है तथा उसके बाद उसके सद् हेतु ओं को कहकर जगत् का मिथ्यात्व कहा गया है। अर्थात् जगन्मिथ्यात्व का अनुमान प्रदर्शित किया गया है। वह मिथ्यात्व के लक्षण के बिना जगत् का मिथ्यात्व नहीं जाना जा सकता है, इसलिए हेतु के मिथ्यात्व लक्षण को भी परिष्कृत किया गया है।

अनुमान के बाद उपमान प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। सादृश्य ज्ञान के बिना उपमानप्रमाण अच्छी प्रकार से नहीं समझा जा सकता है इसलिए सबसे पहले सादृश्य को बताया गया है।

आपने क्या सीखा

- न्याय सम्मत अनुक्रम को जाना,
- वेदान्त सम्मत अनुमानक्रम को जानकर अनुमान करने में प्रवीणता की ओर अग्रसर,
- दोनों दर्शनों में मत को जाना,

ध्यान दें:

- स्वार्थनुमान तथा परार्थानुमान को जाना,
- व्याप्ति तथा सद्हेतु को जाना,
- सादृश्य को जानकर उपमान को जाना;

पाठान्त प्रश्न

1. न्याय सम्मत अनुमानक्रम प्रतिपादित कीजिए।
2. वेदान्तिसम्मत अनुमानक्रम प्रतिपादित कीजिए।
3. व्याप्तिज्ञान का अनुमान के प्रति करणत्व प्रतिपादन कीजिए।
4. वेदान्त तथा न्याय का अनुमान भेद लिखिए।
5. व्याप्तिज्ञानत्व से व्याप्तिज्ञानजन्या अनुमिति का विस्तार पूर्वक वर्णन कीजिए।
6. अनुमिति के लक्षण का दलकृत्य करके प्रस्तुत कीजिए।
7. अनुमिति का आलोचन कीजिए।
8. परार्थानुमान का वर्णन कीजिए।
9. अनुमिति में किस अंश का अनुमितित्व होता है उदाहरण सहित प्रतिपादन कीजिए।
10. मिथ्यात्व का परिष्कृत लक्षण सदलकृत्य करके लिखिए।
11. मिथ्यात्व के परिष्कृत लक्षण का समन्वय लिखिए।
12. सादृश्य का वर्णन कीजिए।
13. उपमान का निरूपण कीजिए।
14. उपिमिति का निरूपण कीजिए।
15. उपमान प्रत्यक्ष के द्वारा कैसे गतार्थक होते हैं।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.1

1. अनुमिति के व्याप्तिनत्व के द्वारा व्याप्तिज्ञानजन्य होती है।
2. स्वार्थानुमान तथा परार्थानुमान के भेद से अनुमान दो प्रकार का होता है।
3. पर्वत वह्निमान है
4. जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है। सहचर्य के दर्शन में धुआँ व्याप्ति व्याप्य होता है। इस प्रकार से व्याप्ति विषयक प्रत्यक्ष अनुभव उत्पन्न होता है।

   यह व्याप्ति का अनुभव ही व्याप्तिज्ञान के नाम से प्रसिद्ध होते हैं। यह प्रथमलिङ्गपरामर्श कहलाता है।
5. पक्षधर्मता ज्ञान।
6. उद्बुधव्याप्ति संस्कार।

पाठ-8

अनुमानखण्ड तथा उपमानखण्ड

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नोत्तर 2.1

1. प्रतियोगित्व रूप से।
2. व्याप्तिज्ञान के द्वारा
3. अनुभवत्व के द्वारा
4. अनुमिति में
5. व्याप्तिज्ञानत्वावच्छिन-जनकतानिरूपित-जन्यतावज्ज्ञानत्वं हि अनुमितेः लक्षणम्।

पाठगत प्रश्नोत्तर 3.1

1. पर का अर्थ प्रयोजन साध्यसंशयनिवृत्ति रूप होता है।
2. तीन।
3. वह्निप्रकारकांश में।

पाठगत प्रश्नोत्तर 4.1

1. घट तथा पट समानाधिकरण में होते है।
2. अशेषसाधनाश्रयाश्रितसाध्यसाध्यसामानाधिकरण्यं व्याप्तिलक्षणम्।
3. जिस हेतु में व्याप्ति है तथा जो हेतु के पक्ष में वह हेतु सद् हेतु कहा जाता है।
4. अन्वय एक ही प्रकार का होता है।

पाठगत प्रश्नोत्तर 5.1

1. नेह नानास्ति किञ्चन। अतोऽन्यदार्तम्।
2. ब्रह्मभिन्नं सर्वं मिथ्या ब्रह्मभिन्नत्वात्।
3. स्वाश्रयत्वेन अभिमत-यावन्निष्ठात्यन्ताभाव-प्रतियोगित्वम् मिथ्यात्वस्य लक्षणम्।

पाठगत प्रश्नोत्तर 6.1

1. सादृश्यलक्षण असाधारणान्यतद्गतबहुधर्मवत्त्वम् इति। दूसरा भी लक्षण है- तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्।
2. यद्गतभूयांसो धर्माः अन्यस्मिन् सन्ति इति विवक्षा यस्य धर्माः सः प्रतियोगी भवति। यथा गोगताः भूयांसो धर्माः गवये सन्ति इति विवक्षा तदा गोः धर्माः इति गौः प्रतियोगी।

   (जिसमें बहुत अधिक धर्म होते है,अन्य में भी होते है इस प्रकार की विवक्षा होती है जिसकी वह प्रतीयोगी होता है। जैसे गोगत अधिक धर्म गमय में होते है इस प्रकार की जिज्ञासा जिसको होती है तब वह गो धर्म इस प्रकार से गौ प्रतियोगी कहलाता है।
3. भिन्न।
4. यस्मिन् सादृश्यम् उपमितौ भासते तन्निरूपितसादृश्याकारा प्रमाणवृत्तिः उपमानम्।
5. असन्निहिते सन्निहितनिरूपितसादृश्यज्ञानम् उपमितिः।

ध्यान दें:

9

आगमखण्ड

वेदान्तशास्त्र में छः प्रमाण होते हैं। वे हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि। प्रमा पाँच प्रकार की होती है- प्रत्यक्षप्रमा, अनुमितिप्रमा, उपमितिप्रमा, शाब्दबोधप्रमा तथा अर्थापत्ति प्रमा। इनमें से प्रत्यक्षप्रमाण तथा प्रत्यक्षप्रमा, अनुमान प्रमाण तथा अनुमिति प्रमा, उपमानप्रमाण तथा उपमिति प्रमा, इन सब का पूर्व पाठ में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है। इस पाठ में शब्द प्रमाण तथा शाब्धबोध प्रमा प्रस्तुत की जा रही है। शब्द प्रमाण का ही अपर नाम आगम प्रमाण है 'आ सम्यक् गम्यते ज्ञायते अर्थः अनेन इति आगमो वाक्य विशेषः इति आगमपदव्युत्पत्तिः' अर्थात् जिसके द्वारा सम्यक् प्रकार से अर्थ जाना जाए वह आगम विशेष होता है। यह आगम पद की व्युत्पत्ति है। इसलिए व्याख्यान काल में कहीं पर शब्दप्रमाण तथा कहीं पर आगम प्रमाण इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इसलिए वहाँ सन्देह नहीं करना चाहिए। वहाँ पर शब्द प्रमाण के मुख्य प्रतिपाद्य विषय होते हैं शब्द प्रमाण, शक्तिस्वरूप, लक्षणास्वरूप तथा शब्द जन्यबोध में सहकारी। उनका यहाँ पर प्रस्तुतिकरण कर रहे हैं।

उद्देश्य

इसा पाठ को पढ़कर के आप सक्षम होंगे;

- अद्वैतवेदान्त के मत में शब्द प्रमाण को समझ पाने में;
- शब्दप्रमा क्या है यह जान पाने में;
- वृत्ति को जानकर के शक्ति के लक्षण तथा उसके भेदों को जानने में;
- लक्षणा के बीज को समझ पाने में;
- शाब्दबोध में क्या सहकारी होते हैं, इनको जान पाने में;
- वेदान्तमत के द्वारा वेद के पौरुषयत्व तथा अपौरुषयत्व के विचार को समझ सकेंगे;

शब्दप्रमा का लक्षण

शब्द प्रमाण इसका अर्थ होता है शब्द प्रमा का करण। तो शब्द किस प्रमा का करण होता है क्योंकि वेदान्त शास्त्र में तो प्रत्यक्षप्रमा, अनुमितिप्रमा, उपमितिप्रमा, शाब्दबोधप्रमा तथा अर्थापत्तिप्रमा इस

ध्यान दें:

प्रकार से पाँच प्रमा बताई गयी हैं। तो कहते हैं कि इसमें जो शाब्दबोध प्रमा है उसका करण ही शब्दप्रमा होती है तथा वह शब्दप्रमा का प्रतिफलरूप होता हैं। इस प्रकार शब्दप्रमा का सामान्य लक्षण 'शाब्दबोध करणत्वं शब्दप्रमाणत्वम्' कह सकते हैं। इस लक्षण के समन्वय में पूर्वशाब्दबोध क्या होता है तो कहते हैं कि शब्द से उत्पन्न होने वाला बोध ही शब्द बोध होता है। वह शाब्दबोध ही शब्दप्रमा, शब्दीप्रमा अथवा शाब्दबोध कहलाता है। इस प्रकार से शाब्दबोधरूप प्रमा का करण ही शब्दप्रमाण होता है। तो वहाँ क्या शब्दमात्र ही शब्दप्रमा का करण होता है अथवा कोई विशिष्ट शब्द होता है, इस प्रकार से जिज्ञासा करने पर प्रमाणभूत शब्द का लक्षण होता है- यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूतसंसर्गो मानान्तरेण न बाध्यते तद् वाक्यं प्रमाणम् (जिस वाक्य का तात्पर्यविषयीभूत संसर्ग मानान्तर से बाधित नहीं होता है वह वाक्य प्रमाण कहलाता है)

यहाँ पर वाक्य का अन्वय तात्पर्य में है। तात्पर्य तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व होता है जिसका आगे सविस्तार वर्णन किया जा रहा है। तात्पर्य वाक्यनिष्ठ होता है। मानान्तर से तात्पर्य वेदान्त इतर प्रमाण है। तात्पर्य विषयी भूत ही संसर्ग विशेषण होता है। संसर्गपद का पदार्थान्वय अर्थ होता है। संसर्गपद का वाक्यार्थ ही यहाँ पर अर्थ है। वाक्य में जैसे पदजन्यपदार्थ भासित होते हैं तथा पद में उपस्थित अर्थों में परस्पर संसर्ग भी भासित होता है, वह आकाङ्क्षा के द्वारा भासित होता है। इस प्रकार से संसर्ग भी वाक्यार्थ के अन्तर्गत ही होता है। इसलिए उपरोक्त लक्षण में संसर्गपदवाक्यार्थपरक है। न बाध्यते इसका अर्थ है कि बाधक प्रमा के द्वारा विषय नहीं होता है।

इस प्रकार से वेदान्तेतर प्रमाण के द्वारा अबाधित कुछ वाक्य निष्ठ जो तात्पर्य है। उसका विषयीभूत वाक्यार्थ (संसर्ग) जिस वाक्य का होता है वह वाक्य आगम प्रमाण इस अर्थ में होता है। अर्थात् अर्थविषयक बोध को जो वाक्य जन्म देता है। वह वाक्य आगमप्रमाण कहलाता है।

उसके द्वारा वेदान्तेतरप्रमाणाधित-तात्पर्यविषयीभूतवाक्यार्थविषयकप्रतीतिजननयोग्यत्वम् आगमप्रमाण का लक्षण फलित होता है।

अब नील घट यहाँ पर इसका समन्वय प्रस्तुत करते हैं। वैसे नील घट इस वाक्य का अर्थ होता है नील से अभिन्न घट। उस से तात्पर्य विषयभूत वाक्यार्थ नील अभिन्न घट होता है। यह अर्थ किसी भी वेदान्त इतर प्रमाण से बाधित नहीं है। इसलिए यह अर्थ मानान्तर से भी अबाधित है, तथा यह मानान्तर अबाधित तात्पर्यविषयीभूत वाक्यार्थ भी है। तद्विषयकप्रतीति का जननयोग्य ही नील घट यह वाक्य होता है। इसलिए यह प्रमाण है।

वाक्यलक्षण का पदकृत्य

यहाँ पर यह विचार किया जाता है कि यदि वाक्यत्व इसका शब्दप्रमाणत्व लक्षण करते हैं तो 'जल के द्वारा सींचता है' इत्यादि में भी वाक्यत्व के सत्व होने से वहाँ लक्षण जाता है। वह जरूरी भी है लेकिन दस अनार,छः पुए इत्यादि निरर्थक पदसमुदायों में भी वाक्यत्व के सत्व के द्वारा वहाँ भी लक्षण चला जाता है।लेकिन उनका प्रमाण तो इष्ट नहीं है। इसलिए लक्षण के वहाँ जाने से वहाँ अति व्याप्ति होती है। उसके वारण के लिए तात्पर्यविषयीभूत वाक्यार्थविषयबोधकजनकत्वं इस वाक्य में विशेषण दिया गया है। वहाँ पर तात्पर्यविषयभूतवाक्यार्थविषयबोधजनकत्व शब्दप्रमाणत्व यह लक्षण होता है। जिससे उसकी निरर्थक वाक्यों में अतिव्याप्ति नहीं होती है, उस प्रकार के वाक्यों के द्वारा किसी भी बोध के अजनन से तात्पर्यविषयीभूतार्थ विषयबोधकजनकत्व के वहाँ पर असम्भव होने से (अतिव्याप्ति नहीं होती है) लेकिन तात्पर्यविषयीभूतवाक्यार्थविषयकबोधकजनकत्व शब्दप्रमाणत्व कहा गया है तो भ्रमात्मक तात्पर्य विषयी भूतबोधजनक में शाक्य आदि वाक्य में अतिव्याप्ति होती है। इसलिए वहाँ पर दोष के निवारण

के लिए मानान्तरबाधिततात्पर्यविषयीभूतबोधजनकवाक्यत्व शब्दप्रमाणत्व यह लक्षण किया गया है।

निश्चित रूप से घट को लाओ, स्वर्ग की कामना के लिए यज्ञ करो, इत्यादि लौकिक तथा वैदिक वाक्यों की अप्रमाण्यापत्ति होती है। किस प्रकार से होती है तब कहते हैं नेह नानास्ति किञ्चन इति अतोऽन्यदार्तमित्यादिश्रुतयः। उसका अर्थ है ब्रह्मभिन्न सब मिथ्या है अर्थात् बाधित है। इसलिए तत्तद्वाक्यतात्पर्यविषयीभूत तत्ततत्सर्ग के बाधित्व होते है। तब यहाँ पर कहा गया है कि यहाँ पर मानान्तरपद से वेदान्तेतरप्रमाण के ग्रहण से कोई दोष नहीं होता है। भले ही इन वाक्यों का संसर्ग बाधित है फिर भी वह वेदान्त प्रमाण से बाधित है न की किसी और भिन्न प्रमाण से।

ध्यान दें:

वृत्ति

शब्दजन्य बोध के प्रति शब्द मात्र ही कारण होता है, लेकिन शब्दनिष्ठ वृत्ति ज्ञान भी शब्दजन्य बोध के प्रति कारण होता है यह सभी प्रकार से सिद्ध है। क्योंकि शब्द श्रवण मात्र से बोध नहीं होता है। लेकिन उसी प्रकार के ही शब्द के द्वारा बोध उत्पन्न होता है जिसकी वृत्ति श्रोता जानते हैं। इसलिए शाब्दबोध में कारणीभूत वृत्तिपदार्थ क्या है यह जिज्ञासा होती है। तब कहते हैं पद के अर्थ के साथ जो बोधानुकूल सम्बन्ध होता है वह ही बुद्धिमान लोगों के द्वारा वृत्ति कही गयी है। इसलिए शाब्दबोधानुकूल पदपदार्थसम्बन्ध इस प्रकार का शास्त्रों में वृत्तिलक्षण प्रतिपादित किया गया है। जैस गङ्गा इस पद का जलप्रवाह रूप इस अर्थ के साथ कोई सम्बन्ध है जिसके द्वारा गङ्गापद को जो वृत्ति जानता है उसको गंगा पद को सुनकर के उसके विषय में बोध उत्पन्न होता है। वह सम्बन्ध ही वृत्ति कहलाता है। इसी प्रकार सभी पदों का स्वार्थ के साथ अर्थविषयक बोधानुकूल कोई सम्बन्ध होता है, वह सम्बन्ध ही वृत्ति इस प्रकार से समझा जाता है। वह वृत्ति वेदान्त के मत में दो प्रकार की होती है। तथा शक्तिलक्षणा होती है। यहाँ पर क्रम से दोनों के भेद के साथ स्वरूप प्रतिपादित किये जा रहे हैं।

एक ही शब्द की वृत्ति दो प्रकार की होने के कारण शब्द के अर्थ भी दो प्रकार के होते है।

शक्ति

पदार्थों में पायी जाने वाली मुख्यवृत्ति शक्ति कहलाती है। अर्थात् पदों के अर्थों में जो मुख्यवृत्ति होती है वह ही शक्ति इस प्रकार से कही जाती है। जैसे घट पद की पृथु बुध्न उदर आदि आकृति विशिष्ट वस्तु विशेष में वृत्ति होती है। शक्ति तथा तत्तद् पद जन्य पदार्थाज्ञानरूप कार्य अनुमेय कहलता है।

नदी इस अनुपूर्वी ज्ञान में जिस अर्थ का बोध उत्पन्न होता है तथा दीन इस पद को सुननें में भिन्न अर्थ का बोध होता है। भले ही वर्ण तो समान ही है लेकिन उनमें क्रम भेद है। इस प्रकार नदी इस पद से जलप्रवाहरूप अर्थ की उपस्थिति में जो वृत्ति सहकारिणी होती है उससे भिन्न वृत्ति ही दीन पद के अर्थ की उपस्थिति में सहकारिणी होती है। इस प्रकार से यह सिद्ध होता है की हर पद में वृत्ति भिन्न भिन्न होती है। तथा वृत्ति भेद के द्वारा नियामक अथवा निरूपक अनुपूर्वी ही होता है। वृत्ति जिस अर्थ को स्मरण करवाती अथवा उपस्थापित करती है। वह अर्थ ही वृत्तिविषय होती है। इसलिए वृत्ति निरूपकत्वसम्बन्ध से पद में रुकती है। तथा विषयता सम्बन्ध से वह अर्थ में रुकती है। वृत्ति निरूपकत्व सम्बन्ध से जहाँ रूकती है वह शक्त कहलता है। तथा वृत्ति विषयता सम्बन्ध से जहाँ रुकती है वह शक्य कहलाता है इसलिए पद शक्त तथा अर्थ शक्य होता है। शक्त इसका शक्तिमत अर्थ होता है। ज्ञान के उत्पन्न होने में शक्ति तथा सामर्थ्य अर्थ होता है। वह भी (स्वशक्यार्थविषयक) ज्ञानजननसमर्थ पद होता है अर्थ स्मृति अनुकूल पदत दर्थसम्बन्ध शक्ति होती है।

ध्यान दें:

यह भाव

कोई शब्द स्वनिष्ठवृत्ति के द्वारा कुछ भी अर्थ उपस्थापित करता है। वृत्ति वेदान्तशास्त्र में दो प्रकार की होती है। एक शक्ति तथा दूसरी लक्षणा। वहाँ पर शक्ति क्या है? तब कहते है जो मुख्य वृत्ति होती है वह ही शक्ति होती है इस प्रकार से समझना चाहिए। यहाँ पर मुख्यत्व क्या है तो कहते हैं जो वृत्ति अन्तर तथा निरपेक्ष होती है वह ही मुख्य होती है। जैसे गङ्गा में घोष है इत्यादि में गङ्गा शब्द की एक ही वृत्ति जलप्रवाह इस प्रकार का अर्थ होता है। अपरा वृत्ति तट यह अर्थ होता है। वहाँ जिस वृत्ति के द्वारा जलप्रवाह की उपस्थिति होती है वह ही शक्ति होती है। कारण जलप्रवाहरूप रुप अर्थ की उपस्थापिका जो वृत्ति होती है वह अन्य वृत्ति के विना ही जलप्रवाहरूप वृत्ति का उपस्थापन करती है। इसलिए जलप्रवाहरूप अर्थ की उपस्थापिका जो वृत्ति होती है वह ही शक्ति होती है। तटरूप के अर्थ की उपस्थापिका जो वृत्ति होती है वह तो शक्ति नहीं होती है। क्योंकि जो वृत्ति तट रूप अर्थ को उपस्थापित करती है वह एक प्रकार से जलप्रवाहरूप अर्थ के ज्ञानान्तर ही तटादि अर्थ का भी उपस्थापन करती है। इसलिए वह वृत्ति अन्तर उपस्थित निरपेक्ष नहीं होती है, अत: वह शक्त नहीं होती है। यहाँ यह भाव है। अथवा प्रत्येक शब्द के दो भाव होते हैं। मुख्य तथा अमुख्य। वहाँ पर मुख्य क्या हैं तथा अमुख्य क्या है। तो कहते है कि जिसके द्वारा सभी लोग जान सके वह अर्थ मुख्य है तथा जिसके द्वारा केवल विद्वान लोग ही जान सके वह अर्थ अमुख्य है। जैसे गङ्गा शब्द का यह एक अर्थ है तथा तट यह अपर अर्थ है। इसमें जल प्रवाह रूप अर्थ मुख्य है, क्योंकि वह ही सभी लोगों के द्वारा जाना जा सकता है तथा तट रूपार्थ अमुख्य है कारण क्योंकि सभी लोग नहीं जानते हैं कि गङ्गा पद का यह अर्थ भी है केवल विद्वान लोग ही जानते है। इस प्रकार मुख्य अर्थ जो वृत्ति उपस्थापित करता है, वह मुख्य वृत्ति होती है तथा जो मुख्य वृत्ति होती है शक्ति इस प्रकार से समझी जाती है। इसलिए जल प्रवाह की उपस्थापिका जो वृत्ति है वह शक्ति रूप में आ गई है।

शक्ति जाति रूप में तथा व्यक्ति रूप में होती है।

वहाँ शब्दों में मुख्यार्थ निरूपित वृत्ति रुकती है। उसका नाम ही शक्ति होता है। अब वह शक्ति किस अर्थ के द्वारा निरूपित होती है, इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अर्थात् शक्ति के द्वारा कौन-सा अर्थ उपस्थापित किया जाता है? अथवा कौन-सा अर्थ वाच्य होता है? यह ही शक्ति किसमें रूकती है तथा किस वाक्य के द्वारा प्रकट होती है। तो वहाँ इस प्रश्न के उत्तर के विषय में शास्त्रज्ञों में बहुत प्रकार के मतभेद होते हैं। कोई कहता है की वह जाति में ही रुकती है। अन्य कुछ कहते हैं कि वह व्यक्ति में रुकती है। अन्य कुछ कहते है कि वह जाति विशिष्ट व्यक्ति में रुकती है। तब कहते हैं कि इन पक्षों में वेदान्त सम्मत पक्ष कौन-सा है? तब उत्तर देते हुए कहते है कि शक्ति जाति में ही रुकती है। क्योंकि व्यक्ति में शक्ति स्वीकार करने पर व्यक्तियों के आनन्त्य से गौरव होता है, इस प्रकार से समझना चाहिए। व्यक्तिभान तो आक्षेप से लक्षणा के द्वारा ही होता है।

लक्षणा

स्वबोध्य सम्बन्ध लक्षणा कहलाता है। यह द्वितीया वृत्ति होती है। इसका अपर नाम अमुख्य वृत्ति होता है। इसे जघन्या वृत्ति भी कहते हैं। वेदान्तमत में स्वोध्य सम्बन्ध लक्षण होता है। लक्षण समन्वय काल में जिस पद की लक्षणा इष्ट होती है उस पद को स्वपद से ग्रहण करना चाहिए। जैसे गङ्गा में घोष है यहाँ पर समन्वय प्रस्तुत होता है। वैसे कहने पर गङ्गापद की तट में लक्षणा इष्ट होती है। अत: यहाँ पर स्वं गङ्गा पद होता है। उसका बोध्य अर्थ जलप्रवाहरूप होता है। उसका तट के साथ सामीप्य सम्बन्ध होता है अत: प्रकृत स्वबोध्यसम्बन्ध सामीप्य सम्बन्ध होता है। वह ही लक्षणा वृत्ति होती है। इस लक्षणा

ध्यान दें:

वृत्ति के द्वारा ही गङ्गाशब्द तटरूप अर्थ का उपस्थापन करता है। उसके द्वारा गङ्गायां घोषः इस वाक्य से तट वृत्ति रूप बोध ही होता है। इसी प्रकार गंभीर नदी में घोष है (गहरी नदी में कुटीया है) इत्यादि में भी गंभीर पद से गभीरार्थ की तथा नदी पद से नद्यर्थक की उपस्थिति होती है। गंभीर पद का नदी पदार्थ के साथ अभेदान्वय होता है। उसके द्वारा गंभीर भिन्न नदी यह बोध तथा गंभीर नदी में यह बोध दोनों पदों से होता है। लेकिन तदर्थ घोष के साथ तात्पर्य अनुपपत्ति होती है। उसके कारण यहाँ पर लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया जाता है। जिससे गंभीर नदी में यह अर्थ होता है। उससे बोध्य अर्थ गंभीर भिन्न नदी इस प्रकार के आकार वाला अर्थ होता है, उसके तट से समीप वाला अर्थ लिया जाता है। इसलिए स्वबोध्यसामीप्यसम्बन्धरूपलक्षणावृत्ति के द्वारा गहरी नदी ये दोनों पद तटार्थक के उपस्थापक होते है। उससे गहरी नदी में कुटिया इस वाक्य से गहरी नदी से भिन्न तट के पास कुटिया इस प्रकार का अर्थ होता है।

लक्षणा बीज

लक्षणा वृत्ति के द्वारा सभी जगह अर्थ का बोध नहीं होता है। लेकिन कुछ स्थलों में लक्षणा का बोध उत्पन्न होता है। उस लक्षणा के बीज क्या हैं इस प्रकार के कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं। वहाँ कुछ तो अन्वायानुपपत्ति लक्षणा का बीज है ऐसा कहते हैं। अन्वय अनुपत्ति यहाँ पर अन्वय का सम्बन्ध अर्थ सम्बन्ध होता है तथा अनुपपत्ति शब्द का अर्थ बाध होता है, उससे अन्वय अनुपपत्ति शब्द का अर्थ सम्बन्ध बाध होता है। उसके द्वारा यह निष्कर्ष निकलता है की लक्षणा का सम्बन्ध बाध बीज है। जैसे गङ्गा में घोष (कुटिया) इस प्रकार से किसी ने कहा। इस वाक्य में गङ्गापद अधिकरण बोधक है तथा घोष पद आधेय बोधक है। वहाँ गङ्गापद का समर्थ अर्थ जलप्रवाह होता है तथा अधिकरण सप्तमी का शक्य अर्थ वृतित्व होता है। घोष इसका अर्थ गृह समुदाय होता है। उससे इस वाक्य का जल प्रवाह वृत्ति गृह समुदाय अर्थ होता है। इस अर्थ के द्वारा जल प्रवाह तथा घोष के बीच में आधार तथा आधेय सम्बन्ध फलित होता है। लेकिन जल प्रवाह तथा घोष के मध्य आधार तथा आधेय भाव सम्बन्ध नहीं हो सकता है। उससे प्रकृत के सम्बन्ध में बाध होता है। अतः सम्बन्धबाध को ही लक्षणा का बीज करके अन्वयबाध के परिहार के लिए प्रकृतगङ्गा पद में लक्षणा की जाती है। उसके द्वारा स्वबोध्य सम्बन्ध रूप लक्षणा वृत्ति के द्वारा गङ्गापद से तट की उपस्थिति होती है। उसके द्वारा तटवृत्ति गृहसमुदाय का बोध गङ्गायां घोषः इस वाक्य के द्वारा होता है। इस प्रकार से अन्य जगह भी होता है। इस प्रकार से लक्षणा में बीज अन्वय अनुपपत्ति सिद्ध होता है। इसलिए जहाँ पर अन्वय की अनुपपत्ति हो वहाँ पर लक्षणा करनी चाहिए।

कुछ लोग तात्पर्य अनुपपत्ति को लक्षणा में बीज मानते हैं। तात्पर्य अनुपपत्ति इसका अर्थ है तात्पर्य बोध। तात्पर्य अर्थात् वक्ता की इच्छा विशेष होती है। वहाँ पर कुछ लोग कहते है कि वक्ता की इच्छा का बाध ही लक्षणा का बीज होता है।

जैसे किसी वक्ता ने तटवृत्ति कुटिया को समझाने के लिए गङ्गा में घोष है, यह वाक्य कहा। यहाँ पर गङ्गा पद का शक्य अर्थ होता है। जल प्रवाह और अधिकरण सप्तमी से शक्य अर्थ है वृतित्व। घोष इसका अर्थ है गृह समुदाय। इस प्रकार से इस वाक्य का श्रोता जल प्रवाह वृत्ति गृह समुदाय इस बोध का अनुभव करता है। तब वक्ता के तात्पर्य का बोध होता है। कारण यह की वक्ता ने तटवृत्ति घोष वाले इस तात्पर्य से गङ्गा में घोष है यह कहा। उससे शक्य अर्थ को लेकर जल प्रवाह वृत्तिघोष इस प्रकार का अर्थ करने से तात्पर्य का बाध होता है। इसलिए तात्पर्यबाधरूप लक्षणा के बीज के विद्यामानत्व से तात्पर्यबाध के परिहार के लिए प्रकृतगङ्गापद में लक्षणा की जाती है। उससे स्वबोध्य सम्बन्ध रूप लक्षणा वृत्ति के द्वारा गङ्गा पद से तट की उपस्थिति होती है। उस के द्वारा तटवृत्तिगृहसमुदाय इसका बोध गङ्गा में घोष है इस वाक्य से होता है। इस प्रकार दूसरी जगह भी जानना चाहिए। इस प्रकार से

ध्यान दें:

तात्पर्य अनुपपत्ति लक्षणा में बीज सिद्ध होता है। उसके बाद जहाँ तात्पर्य की अनुपपत्ति होती है वहाँ लक्षणा करनी चाहिए।

यहाँ सिद्धान्त पक्ष

लक्षणा में अन्वय की अनुपपत्ति होने से बीज भी एक मत होता है। तात्पर्य अनुपपत्ति इसी का ही अपर नाम है। इस प्रकार से दोनों मतों के विद्यमान होने पर कौन सा युक्त है, यह प्रश्न उत्पन्न होता है। अत: शास्त्रकारों ने इसके निराकरण के लिए कहा है कि लक्षणा में तात्पर्य अनुपपत्ति ही बीज है न की अन्वय अनुपपत्ति। वही तत्व प्रकृत में सकारण प्रस्तुत किया जाता है। तब कहते हैं की यदि लक्षणा में अन्वय अनुपपत्ति इस प्रकार से बीज को स्वीकार किया जाए तो गङ्गा में घोष है इत्यादि में लक्षणा के असम्भव होने से भी कौओं से दधि की रक्षा करो, यहाँ पर लक्षणा नहीं होनी चाहिए। कारण यह है कि गङ्गा में घोष है इत्यादि में जिस प्रकार से अन्वय अनुपत्ति होती है वैसे कौओं से दधि बचाओ, यहाँ पर अन्वय अनुपत्ति नहीं है। क्योंकि इस वाक्य का अर्थ है काक रूपी अपादान, दधिकर्मक प्रेरणाविषयीभूत रक्षण। इससे किसी भी पदार्थ का किसी भी पदार्थ के साथ सम्बन्ध का बाध नहीं है। उससे कहते हैं कि यहाँ लक्षणा नहीं होनी चाहिए। लेकिन प्रकृत में लक्षणा इष्ट है। क्योकि केवल कौओं से दधि को बचाना ही इष्ट नहीं था अपितु सभी दधिनाशक प्राणियों से दधि की रक्षा इष्ट थी। इस प्रकार से यहाँ अन्वय की अनुपपत्ति होती है।यहाँ पर यह ही इष्ट थी। इस प्रकार से अन्वय अनुपपत्ति लक्षणा में इस प्रकार से बीज को स्वीकार करने पर प्रकृत लक्षणा नहीं होनी चाहिए । इसलिए लक्षणा में अन्वय अनुपपत्ति बीज नहीं है लेकिन तात्पर्य अनुपत्ति ही बीज है। उस से कौओं से दही की रक्षा करो यहाँ पर शक्य अर्थ को लेकर बोध स्वीकार करने पर तात्पर्य अनुपपत्ति होती है। उससे यहाँ पर काक पद की दध्युपघात में लक्षणा की जाति है। उसके द्वारा प्रकृत वाक्य की दधि के उपघातकों से दही की रक्षा करो यह बोध होता है।

लक्षणा के भेद

लक्षणा का दो प्रकार से विभाजन किया जाता है। पहला प्रकार केवल लक्षित भेद है। तथा दूसरा 1. जहत् 2. अजहत् 3. जहत्- अजहत्, इस प्रकार से दूसरे भेद में लक्षणा तीन प्रकार की होती है।

केवल लक्षणा

शक्य के साक्षात् सम्बन्ध वाली लक्षणा केवल लक्षणा कहलाती है अर्थात् शक्य के साक्षात्सम्बन्ध रूपी जो लक्षणा होती है वह केवल लक्षणा कही जाती है। जैसे गङ्गा में घोष है, यहाँ पर गङ्गा के तीर में लक्षणा है। वह लक्षणा केवल लक्षणा इस प्रकार से कही जाती है। जैसे स्वं गङ्गा पद होता है उसका शक्य जलप्रवाह होता है उस जल प्रवाह का तट के साथ सामीप्य सम्बन्ध होता है। इसलिए यहाँ पर जो सामीप्यसम्बन्ध रूपी जो लक्षणा होती है वह केवल लक्षणा कहलाती है। इस प्रकार अन्य जगह भी समझना चाहिए।

लक्षित लक्षणा

स्वबोध्य तथा परम्परा सम्बन्ध लक्षित लक्षणा का होता है। जैस भौंरा रोता है। यहाँ पर लक्षित लक्षणा है। यहाँ पर लक्षण का समन्वय प्रस्तुत किया गया है, जिस प्रकार से जिस पद की लक्षणा करनी होती है उस पद को स्वपद के रूप में ग्रहण करते हैं। जैसे प्रकृत द्विरेफ पद की मधुकर में लक्षणा इष्ट है उससे स्वपद के द्वारा द्विरेफ ग्राह्य होता है। यहाँ पर स्व पद द्विरेफ होता है जिस बोध्य अर्थ है दो रेफ

ध्यान दें:

(पंख) युक्त, उसका मुधुकर के साथ रेफद्वयघटितपदवाच्यत्वरूप परम्परा सम्बन्ध होता है। जिस प्रकार से रेफद्वयघटितपद भ्रमर पद होता है उसका वाच्य मधुकर होता है। इसलिए प्रकृत में रेफद्वयघटितपदवाच्यत्वरूपपरम्परा सम्बन्धरूपा लक्षणा है। इसलिए यहाँ पर लक्षित लक्षणा है, यहाँ पर केवल लक्षणा द्विरेफपद वाच्य द्विरेफ का मधुकर के साथ साक्षात् सम्बन्ध के असम्भव होने से सम्भव नहीं है।

जहल्लक्षणा

जहाँ पर शक्य का अनन्तर्भाव्य तथा अर्थान्तर की प्रतीति हो वहाँ पर जहत् लक्षणा होती है। जिस लक्षणा के द्वारा अपने शक्य अर्थ का त्याग किया जाता है वह जहत् लक्षणा कहलाती है। अर्थात् जहाँ पर केवल लक्ष्यार्थमात्र की प्रतीति होती है तथा शक्यार्थ का सर्वथा परित्याग होता है वहां जहत् लक्षणा होती है, इस प्रकार से व्यवहार किया जाता है। जिससे 'प्रकृतपदाशक्यमात्रविषयकबोधानुकूला लक्षणा जहल्लक्षणा' इस प्रकार का लक्षण किया जाता है। जैसे 'जहर खाओ' इस वाक्य से भले ही विषकर्मकभोजन रूपी अर्थ का बोध होता है। लेकिन इस वाक्य का शत्रुगृहाधिकरणकभोजन भावरूप में लक्षणा होती है। वह है प्रकृत पदों का अशक्य अर्थ होता है। इसलिए यहाँ पर प्रकृतपदाशक्यामात्रविषयकबोधनुकूला लक्षणा है इसलिए यहाँ पर जहत् लक्षणा इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है।

अजहत् लक्षणा

जहाँ पर शक्यार्थ के अन्तर्भाव्य में ही अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहाँ पर अजहत् लक्षणा होती है। जिसके द्वारा अपना शक्य अर्थ त्यागा नहीं जाता है वह अजहत् लक्षणा होती है। यह ही अजहत् स्वर्था लक्षणा भी कहलाती है। इसे स्वार्थसंवलितपरार्थाभिधायिका अजहत्स्वार्था भी कहते हैं। जैसे शुक्ल(सफेद) वस्त्र यहाँ पर शुक्लशब्द के शुक्लवत् द्रव्यमें लक्षणा की जाती है। इस प्रकार से स्व पद यहाँ पर शुक्लशब्द है, वह शक्य शुक्लरूपात्मक गुणवृत्तिरूपत्व है, वह अन्य शुक्लगुणाश्रय पट है। वह दोनों के बोध के अनुकूल शुक्लत्व निष्ठा लक्षणा में है। जैसे कुन्तों को प्रविष्ट करवाओ, यहाँ पर कुन्तशब्द से कुन्तास्त्र विशिष्ट पुरुषों में लक्षणा होती है। उससे यहाँ पर स्व शब्द, कुन्तशब्द है तथा उसका शक्यार्थ कुन्तास्त्र विशेष है। उस अर्थ से अन्तर्भाव्य अर्थान्तर पुरुष का बोध होता है इसलिए यहाँ पर अजहत् लक्षणा है। इसी प्रकार यष्टि को प्रवेश करवाओ, छत्रिय जाते हैं, कौओं से दही की रक्षा करो इत्यादि में भी समझना चाहिए। लक्ष्यता अवच्छेदकरूप से लक्ष्य तथा शक्य दोंनो के अर्थ का बोध करवाने वाली लक्षणा अजहत् लक्षणा होती है। जैसे कौओं से दही की रक्षा करो। यहाँ पर कौआ इस पद की दही उपघातक में लक्षणा है। यहाँ पर लक्ष्य दही के उपघातक हैं। लक्ष्यता अवच्छेदकत्व ही दही उपघातत्व है। शक्य काक के काकत्व का बोध नहीं करके लक्ष्यता अवच्छेदकरूपे से दही उपाघातकत्व से शक्य काक को बोध होता है। और भी लक्ष्यता अवच्छेदक रूप से शक्यभिन्न अन्य दही उपघातकों का भी बोध उत्पन्न होता है। भले ही काक में काकत्व है फिर भी काक से दही की रक्षा न करे अपितु काक दही का उपघातकत्व है इन कौओं से दही की रक्षा करनी चाहिए।

जहदजहल्लक्षणा

जहाँ पर विशिष्ट वाचक शब्द अपने अर्थ के एकदेश को छोड़कर एकदेश में रहते हैं वहाँ जहत् अजहत् लक्षणा होती है। जैसा यह, वह देवदत्त है। यहाँ पर लक्षणा के पूर्व वाक्य की स्थिति जानना चाहिए। तब कहते है कि इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग कब होता है, जब किसी व्यक्ति ने वाराणसी में देवदत्त नाम का काई पुरुष देखा और फिर वह उसको ही अयोध्या में देखता है तब कहता है कि यह वह देवदत्त है। यहाँ पर वह पद से वाराणसी में स्थित देवदत्त का ग्रहण करना चाहिए तथा यह पद से अयोध्या में

ध्यान दें:

स्थित देवदत् का ग्रहण करना चाहिए। इसलिए यहाँ पर वह पद का अर्थ वाराणसी स्थित देवदत्त है तथा यह पद का अर्थ अयोध्या स्थित देवदत्त है। सोऽयं देवदत्तः, यहाँ पर सः पद भी प्रथमान्त है तथा यह पद भी प्रथमान्त है। दोनों पदों में समान विभक्ति होने के कारण समानविभक्ति पदों के उपस्थापित अर्थ में अभेद होता है, इस प्रकार का नियम है। जैसे नीलः घटः इत्यादि में होता है वैसा ही अभेदान्वय यहाँ भी होना चाहिए। लेकिन प्रकृत में तो वाराणसी में स्थित देवदत्त का अयोध्या में स्थित देवदत्त से अभेद सम्भव नहीं होता है, इस शङ्का के समाधान के लिए यहाँ पर लक्षणा स्वीकार की जाती है। जिसे तत् पद की केवल देवदत्त में लक्षणा तथा इदं पद की भी केवल देवदत्त में लक्षणा की जाती है। जिससे सः तथा अयं इन दोनों पदों का अर्थ देवदत्त होता है। यहाँ पर जो लक्षणा है वह जहत् अजहत् लक्षणा है क्योकि प्रकृत में विशिष्ट वाचक शब्द तत तथा इदम् है। यहाँ पर लक्षणा के द्वारा तत् पद वाराणसी रूप अर्थ को छोडकर विशेष्य अंश देवदत्त का ही बोध कराता है। इसी प्रकार इदं पद भी विशेषणांशभूत अयोध्यायास्थ रूप को छोडकर विशेष्यांश देवदत्त का ही बोध कराता है। इस प्रकार दोनों पद अपने अर्थ के एकदेश को छोड़कर एकदेश में होने से यहाँ पर जहत् अजहत् लक्षणा होती है।

वेदान्त पारिभाषाकार का मत

कौओं से दही की रक्षा करो यहाँ पर वक्ता के द्वारा कहे गये दही उपघातकों से दही की रक्षा करो इस प्रकार से श्रोता समझता है। नहीं तो केवल कौओ से दही की रक्षा करो तथा बिल्ली आदि से रक्षा मत करो। इसलिए यहाँ पर काक पद की काक तथा काक से भिन्न साधारण दही उपघातकों में लक्षणा जाननी चाहिए। और वह दही उपघातकत्व से शक्यभूत कौए ग्रहण से शक्य अर्थ के अपरित्याग से जहत् लक्षणा नहीं होती है। तथा यदि काक पद के शक्य काकत्व का परित्याग करें तो अजहत् लक्षणा भी नहीं है। इसलिए यहाँ पर अजहत् लक्षणा है।

शाब्दबोध में सहकारिकारण

जल से सींचता है, इस वाक्य से बोध होता है लेकिन आग के द्वारा सींचता है, इस वाक्य से बोध नहीं होता है। वहाँ क्या कारण है? तब कहते है कि जैसे बोध के प्रति करण वाक्य होता है तथा कारण वृत्तिज्ञान होता है। उसी प्रकार बोध के प्रति कुछ सहकारिकारण भी होते हैं। वे हैं आकाङ्क्षा, योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्य ज्ञान इस प्रकार से चार प्रकार के होते हैं। यहाँ पर क्रम से इनके स्वरूप का प्रतिपादन कर रहे हैं।

आकाङ्क्षा

वहाँ पर पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा के विषय में आकाङ्क्षा होती है। अर्थात् एकपदार्थज्ञान जन्यापरपदार्थज्ञानेच्छाविषयत्वयोग्यत्वम् (एक पदार्थ ज्ञान जन्य अपरपदार्थ के ज्ञान की इच्छा तथा अविषययोग्यत्व आकांक्षा का लक्षण है। जैसे कि ददाति (देता है) इस प्रकार से कहने पर कौन देता है, कैसे देता है, किसको देता है, किससे देता है, किसमें देता है, तत्तत्कारक विषयों में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ऐसे ही देवदत्त ऐसा कहकर क्या करता हैं यहाँ पर क्रिया विषयी जिज्ञासा होती है। इस प्रकार से क्रिया के ज्ञान के द्वारा कारक की तथा कारक के ज्ञान के द्वारा क्रिया की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उससे क्रिया तथा कारक के मध्य आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है। ऐसे ही जैसे 'राजा का' इस प्रकार कहने पर कौन तथा 'पुरुष' इस प्रकार कहने पर किसका इस प्रकार की जिज्ञासा उत्पन्न होती है। इससे राजा तथा पुरुष इन दोनों पदों में परस्पर आकाङ्क्षा होती है। इसी प्रकार अन्य जगह भी समझना चाहिए। आकाङ्क्षा के सत्व होने पर शाब्दबोध होता है। जहाँ पर आकाङ्क्षा नहीं होती है वहाँ पर शब्द बोध भी नहीं होता है।

ध्यान दें:

योग्यता

तात्पर्य विषय संसर्ग का अबाध योग्यता कहलाती है। यहाँ पर तात्पर्य विषय इस पद का अर्थ है वक्ता की इच्छा का विषय। संसर्ग इसका अर्थ है एक पदार्थ में अपर पदार्थ सम्बन्ध तथा अबाध इसका अर्थ है बाध का अभाव। इस प्रकार लक्षणा का अर्थ होता है वक्ता कि इच्छा के विषयीभूत जो एक पदार्थ में अपर पदार्थ के संबंध के बाध का अभाव होता है। यह ही योग्यता कहलाती है। जैसे जल के द्वारा सींचा जाता है यह वाक्य है। यहाँ पर जल पद का अर्थ जल है तथा सिञ्च धातु का अर्थ है सींचना। वहाँ पर जल के सींचने में सेचन करणत्व सम्बन्ध से अन्वय होता है। धात्वर्थ का अन्वय करने पर अन्वय होता है। उस वाक्य का जलकरणसेचन अनुकूलकृतिमान यह अर्थ होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि जल के सींचने से करणत्व सम्बन्ध के द्वारा अन्वय होता है। उससे प्रकृत वाक्य में वक्ता की इच्छा के विषयभूत सम्बन्ध करणत्व सम्बन्ध होता है। उसका कोई बाध नहीं होता है। कारण यह है की सेचन का करण द्रव द्रव्य पदार्थ ही होता है। तथा जल द्रव्य ही होता है। उससे जल सींचता है इत्यादि में तात्पर्य विषय संसर्ग बाध के सत्व से योग्यता है। इसलिए यह वाक्य योग्य कहलता है। तथा योग्यवश ही प्रकृत से बोध होता है लेकिन आग सींचती है यह वाक्य किसी के द्वारा कहा गया। यहाँ पर वह्नि पद का अर्थ आग होता है तथा सिञ्च धातु का अर्थ सींचना होता है। वहाँ वह्नि के सींचने में करणत्वसबन्ध से अन्वय होता है। धात्वर्थ का तिबन्त अर्थ करने पर अन्वय होता है। उसके द्वारा इस वाक्य का अर्थ वह्निकरणक सेचनानुकूलकृतिमान होता है। उससे प्रकृत वाक्य में वक्ता की इच्छा के विषयभूत सम्बन्ध करणत्व सम्बन्ध के रूप में आता है। और उसका बाध भी होता है। कारण यह है कि सेचन का करण द्रव द्रव्य पदार्थ ही होता है। वह्नि द्रव द्रव्य नहीं होती है। उससे यहाँ योग्याता नहीं होती है। इस प्रकार से यह वाक्य योग्य नहीं हैं अपितु अयोग्य है। इसलिए यहाँ पर योग्यता रूप कारण के अभाव से वह्नि के द्वारा सींचता है। इस प्रकार के वाक्य का बोध नहीं होता है।

आसत्ति

अव्यवधान से पदजन्यपदार्थ की उपस्थिति आसत्ति कहलाती है।

यहाँ पर यह भाव है कि शब्द बोध में पदजन्य पदार्थ की उपस्थिति कारण होती है। वहाँ जिन दोनों पदार्थों के द्वारा परस्पर अन्वय इष्ट होता है। उन दोनों पदार्थों की अव्यवधान के द्वारा उपस्थिति आसत्ति कहलाती है। तब प्रश्न करते हैं की पदार्थों अव्यवधान से उपस्थिति कब होती है। तथा कब व्यवधान से होती है। तब कहते हैं कि यहाँ पर व्यवधान को पदान्तर करके कालकृत का ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् जिन दोनों पदार्थों के मध्ये अन्वय इष्ट होता है तद्वाचक दो पदों के बीच में यदि पदान्तरकृत तथा कालकृत व्यवधान नहीं होता है तब वहाँ पदों के स्वार्थ की अव्यधान से उपस्थिति नहीं होती है। उससे वहाँ आसत्ति रुकती है तथा उससे शाब्दबोध होता है। जैस पर्वत आग युक्त है इत्यादि में गिरि पदार्थ तथा वह्निमान पदार्थ इन दोनों के बीज में परस्पर अन्वय इष्ट होता है तथा तद्वाचक पद गिरि तथा वह्नि के बीच में किसी अन्य पदान्तर अथवा काल का व्यवधान नहीं होता है। इसलिए पूर्व गिरिपद से पर्वत की उपस्थिति होती है तथा उसके व्यधान से ही अग्रिम पद से अग्नियुक्त अर्थ की उपस्थिति होती है। इसलिए यहाँ पर आसत्ति है। उसके द्वारा पर्वत आगयुक्त है इस वाक्य से अग्निमान से अभिन्न पर्वत है इस प्रकार का बोध होता है। इसी प्रकार से देवदत्त के द्वारा खाया गया, ऐसा कहने पर देवदत्त पदार्थ तथा भोजन पदार्थ में परस्पर अन्वय इष्ट होता है तथा तद्वाचक पद देवदत् तथा भुक्त पद के बीच में किसी अन्यपदान्तर का तथा काल का व्यवधान नहीं होता है। इसलिए पूर्वदेवदत्त पद से देवदत्त रूप अर्थ की उपस्थिति होती है। तथा उसके व्यवधान के द्वारा ही 'खाया गया ' भोजनरूप अर्थ की भी उपस्थिति होती है। उससे यहाँ आसत्ति करके इस वाक्य का देवदत्त कर्तृक भोजन यह बोध होता है।

ध्यान दें:

लेकिन जहाँ जिन दोनों पदार्थों में परस्पर अन्वय इष्ट होता है उनके वाचक पदों के बीच में पदान्तर कृत तथा कालकृत यदि व्यधान होता है तो वहाँ आसत्ति नहीं होती है। तथा आसत्ति के अभाव में वहाँ शब्द बोध भी नहीं होता है। जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा यदि यह कहा जाए की (गिरिः भुक्तम् अग्निमान् देवदत्तेन इत्युक्तम्) पर्वत खाता है तथा देवदत्त अग्नि से युक्त है। यहाँ पर गिरि पद से पर्वत के अर्थ की उपस्थिति होती है तथा अग्नि पद से अग्निमान् अर्थ की उपस्थिति होती है, देवदत्त पद से देवदत के अर्थ की उपस्थिति होती है और तृतीया विभक्ति के कारण करण अर्थ की उपस्थिति होती है। इस प्रकार की उपस्थिति होने पर गिरिपद के अर्थ का अग्निवान पद के साथ अर्थ इष्ट है लेकिन तद्वाचक गिरिपद तथा अग्निपद के बीच में भुक्त पद के व्यवधान से गिरिपदार्थ तथा अग्निपदार्थ में अव्यवधान से उपस्थिति नहीं होती है। इसलिए इस स्थल में आसत्ति नहीं होने से शब्द बोध नहीं होता है। इसी प्रकार भुक्त पदार्थ का देवदत्त पदार्थ के साथ अन्वय इष्ट है। लेकिन तद्वाचक देवदत्त तथा भुक्तपद के बीच में अग्निपद के व्यवधान से भुक्तपदार्थ तथा देवदत्त पदार्थ में अव्यवधान से उपस्थिति नहीं होती है। इसलिए यहाँ पर भी आसत्ति नहीं होने के कारण शब्द बोध नहीं हो सकता है। उसी प्रकार जहाँ पर किसी व्यक्ति के द्वारा गिरि पद कह दिया जाए तथा फिर एक घण्टे बाद में यदि अग्नि पद कहा जाए तो वहाँ पर गिरि तथा अग्निपद के बीच में कालकृत व्यवधान के होने से दोनों पदों के बीच में कालकृत अव्यवधान की उपस्थिति नहीं होती है। इसलिए उस प्रकार के स्थलों में भी शब्द बोध नहीं होता है।

तात्पर्य

तात्पर्य भी शब्दजन्य बोध में सहकारी कारण होता है। वक्ता के तात्पर्य को जानकर के श्रोता भी यह निश्चय कर लेता है कि इस वाक्य का यह अर्थ है तथा इस अर्थ में कोई तात्पर्य नहीं है। इस प्रकार से शब्दजन्यबोध में कारणीभूत तात्पर्य का क्या लक्षण है तो कहते हैं तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वं तात्पर्यम्। उस अर्थ की प्रतीति के ज्ञान का जनन योग्यता ही तात्पर्य है। ऐसा कहा जाता है। यहाँ पर अर्थ परक वाक्य ही साधना चाहिए तथा उसके पद से उसके अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार से तदर्थानुभवजननस्वरूपयोग्यत्व ही तात्पर्य का लक्षण प्रतिफलित होता है। जैसे घर में घट है (गेहे घटः अस्ति) यहाँ पर गेह शब्द से गेह में सप्तमी विभक्ति वृतित्व तथा घट शब्द से घट की उपस्थिति, गेह तथा घट के संसर्ग से आधार आधेय भाव का गेहवृत्तिघट इस प्रकार के आकार का बोध होता है। इसलिए घर में घट है इस वाक्य का गेहवृत्तिघट इस प्रकार के आकार पर अर्थ साधन करना चाहिए। उस प्रकार के अर्थ की जो प्रतीति होती है उसकी जनन योग्यता इस वाक्य में होती है क्योंकि यह वाक्य गेहवृत्तिघट इस प्रकार आकार के बोध को जन्म देता है। उससे गेहवृत्तिघट इस प्रकार के आकार वाला अनुभव जननस्वरूप योग्य गेह घटसंसर्गजनन स्वरूप योग्य होते हैं। वह ही तात्पर्य होता है। इसलिए घर में घट है (गेहे घटः) इस वाक्य का गेहवृत्तिघट इस रूप में तात्पर्य होता है। तथा ऐसा व्यवहार भी होता है।

(गेहे घटः) घर में घट है इस वाक्य से गेहवृत्ति रूप पट इस प्रकार के आकार का बोध नहीं होता है। इसलिए यह वाक्य गेहवृत्तिपट्ट इस प्रकार के आकार का अनुभव जनन स्वरूप योग्य नहीं होता है। किस प्रकार से नहीं होता है तब कहते हैं इस वाक्य का गेहवृत्तिपट्ट इस अर्थ में तात्पर्य नहीं होता है। क्योंकि यदि घर में घट है इस वाक्य का गेहवृत्तिपट इस अर्थ में तात्पर्य होता है तो यह वाक्य गेहवृत्तिपट इस प्रकार के आकार के अनुभवजननस्वरूप योग्य भी होना चाहिए। उस के द्वारा इस वाक्य का गेहवृत्तिपट इस प्रकार के आकार का बोध होता है। लेकिन गेहे घटः इस वाक्य से गेहवृत्तिरूप पट में तात्पर्य नहीं होता है। इसलिए वैसा बोध नहीं होता है।

तत्प्रतीति जनन योग्यत्व ही तात्पर्य का लक्षण है सत्य होने पर भी जब कोई पुरुष भोजन के समय में लवण लाने की इच्छा से 'सैन्धवम् आनय' यह वाक्य कहा है। तब 'सैन्धवम् आनय' यह वाक्य लवण

लाने के विषय में तो बोधपरक है लेकिन अश्व (घोड़े) लाने के विषय में भी होने योग्य है। उसके द्वारा लवण लाने की इच्छा के द्वारा उच्चारित सैन्धवम् आनय वाक्य से तो अश्वम् आनय इस प्रकार के अर्थ की भी प्रतीति भी होती है। लेकिन भोजन काल में अश्वानयनविषयक बोध इष्ट नहीं है।

ध्यान दें:

इसी प्रकार किसी पुरुष ने यात्रा काल के समय अश्व को लाने की इच्छा से सैन्धवम् आनय यह वाक्य कहा। तब सैन्धवम् आनय पूर्ववत् यह वाक्य अश्व आनयन विषयक बोध परक होता हुआ नमक लाने के विषय में भी बोध परक होता है। जिससे अश्व लाने की इच्छा से उच्चारित वाक्य की नमक लाओ इस इस प्रकार के अर्थ की भी प्रतीति होती है, लेकिन यात्रा के समय नमक लाने वाला विषय बोध इष्ट नहीं है। तो तत्प्रतीतिजननयोग्यत्व तात्पर्यलक्षण दोषयुक्त दिखाई देता है। इसलिए दर्शित दोष के निवारण के लिए वेदान्तियों के द्वारा तात्पर्य का लक्षण परिष्कृत किया गया है। परिष्कृत लक्षण का स्वरूप है तत्प्रतीतिजननयोग्यत्वे सति तदन्यप्रतीतीच्छयानुच्चरितत्वं तात्पर्यत्वमिति। तत्वप्रतीतिजननयोग्यत्व होने पर तदन्यप्रतीत इच्छा के द्वारा जो अनुच्चरित तत्व होता है वह तात्पर्य कहलाता है। इस प्रकार से भोजन के समय में प्रयुक्त शब्द 'सैन्धवं आनय' यह वाक्य नमक लाने वाले अर्थ की इच्छा से बोला गया, न की अश्व को लाओ इस इच्छा से बोला गया। इसलिए भोजन के समय में प्रयुक्त सैन्धवम् आनय यह वाक्य लवण आनय इस प्रकार की प्रतीतिजनन योग्यत्व वाला है, और नमक लाओ इससे भिन्न अश्व को लाओ इस प्रकार की भी प्रतीति कराता है। इसलिए भोजन के समय में सैन्धवम् आनय इस वाक्य से लवण आनयन विषयक ही बोध होता है। न की अश्व आनयन विषय बोध। इसी प्रकार यात्रा काल के समय में प्रयुक्त सैन्धवम् आनय, यह वाक्य अश्वम् आनय, इस प्रकार के अर्थ समझने वाली इच्छा से उच्चरित किया गया था न की नमक लाने की इच्छा से। इसलिए यात्रा काल में सैन्धवम् आनय, इस वाक्य से अश्व आनयन विषयक ही बोध होता है। न की लवण आनयन विषय बोध। इस प्रकार से यह यात्रा काल के समय सैन्धवम् आनय यह वाक्य अश्व को लाने के विषय में ही बोध को उत्पन्न करता है न की लवण को लाने के विषय में।

नैयायिक मत खण्डन

नैयायिक लोग तत्प्रतीति इच्छा के द्वारा उच्चरितत्व को तात्पर्य कहते हैं। उसका अर्थ यह है कि वक्ता अन्य जगह स्वबोध सदृश अन्यबोध की उत्पत्ति के लिए इन वाक्यों से यह अर्थ जानना चाहिए इस कारिका के द्वारा इच्छा से वाक्य का उच्चारण करता है। वहाँ पर वाक्य की एतद् अर्थ प्रतीति होने वाली इच्छा के द्वारा उच्चारण से जो श्रोता की तत्प्रतीति इच्छा के द्वारा उच्चरित तत्व का अवधारण होता है, उस प्रकार की तत्प्रतीति इच्छा के द्वारा उच्चरित तत्व ही तात्पर्य कहलाता है।

नैयायिकों के इस लक्षण में दोष है। वो ये हैं कि जो वेदार्थ को नहीं जानता है, लेकिन वेद वाक्यों का उच्चारण करता है तब यदि श्रोता वेदार्थ को समझनें में अधिकारी होता है तो उसको अर्थ का बोध तो होता ही है। यहाँ पर वक्ता की इच्छा नहीं है। वह तो अर्थ को भी नहीं जानता है, इसलिए कहाँ से उसे उच्चारित वाक्य के अर्थ बोध की इच्छा उत्पन्न होगी। उसके द्वारा वहाँ पर तत्प्रतीति इच्छा के द्वारा उच्चरितत्व को तात्पर्य का लक्षण स्वीकार करें तो श्रोता को उस वाक्य से अर्थ बोध नहीं होना चाहिए। लेकिन उससे तो अर्थ बोध होता है। इसलिए तत्प्रतीति इच्छा के द्वारा उच्चरित तत्व तात्पर्य का लक्षण नहीं है। वहाँ पर नैयायिक अपने पक्ष को दृढ़ करते हुए कहते हैं कि वक्ता अर्थ जानता है या नहीं यह तो श्रोता नहीं जानते है। कुछ श्रोता भ्रमवश तात्पर्य को ग्रहण करते हैं। इस प्रकार से तात्पर्य के ज्ञान से शाब्दबोध सम्भव होता है। इसलिए यह दोष नहीं है। तब सिद्धान्ती जन कहते हैं कि जब वक्ता जानता है या नहीं यह बात श्रोता नहीं जानता है तो वहाँ पर तात्पर्य के भ्रम से शब्द बोध हो। फिर भी यदि वक्ता अर्थ नहीं जानता है तो श्रोता निश्चयपूर्वक जानता है कि उस स्थल में क्या करना चाहिए। वक्ता

के अर्थ ज्ञान शून्यत्व के अवधारित होने के कारण श्रोता को तात्पर्यभ्रम होना सम्भव नहीं है। भले ही वक्ता अर्थज्ञानशून्य है यह ज्ञान तात्पर्य भ्रम के विरुद्ध है।

अब नैयायिक अपने पक्ष का पुन: स्थापन करते हुए कहते हैं कि वक्ता अर्थ नहीं भी जाने लेकिन वेद के किस वाक्य से क्या अर्थ समझना चाहिए इस प्रकार से ईश्वर का तो तात्पर्य होता ही है। इसलिए उस प्रकार के तात्पर्य ज्ञान के द्वारा शाब्धबोध होना चाहिए। तब सिद्धान्ती कहता है कि जो पूर्वमीमांसक ईश्वर को नहीं समझते है लेकिन वे वेदवाक्यों को सुनते हैं तो व्युत्पन्नों को शाब्दबोध होता ही है। इसलिए यह कैसे भी सिद्ध नहीं हो सकता है।

ध्यान दें:

आगम भेद

वेदान्तशास्त्र में आगमप्रमाण के दो भेदों का वर्णन हैं पौरुषेय तथा अपौरुषेय। वहाँ पौरुषेय शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ होता है, पुरुष के द्वारा किया गया पौरुषेय कहलाता है। उससे भिन्न अपौरुषेय कहलाता है। इसलिए रामायण महाभारत आदि ग्रन्थ वाल्मीकि से लेकर पुरुषों के द्वारा किये गये है इसलिए ये पौरुषेय कहलाते हैं। लेकिन वेदों के विषय में शास्त्रज्ञों में मतभेद है। उस विषय में मिमांसक कहते हैं कि वेद नित्य हैं तथा उनका रचयिता कोई भी नहीं है इसलिए वेद किसी भी पुरुष के द्वारा किये गये नहीं हैं। इसलिए वेद अपौरुषेय है। नैयायिक कहते हैं की वेद ईश्वर के द्वारा बनाये गये है। इसलिए वेद पौरुषेय है। वेदान्ति लोग कहते हैं की वेद परमेश्वर पुरुष के द्वारा ही बनाये गये हैं फिर भी वे अपौरुषेय हैं। लेकिन यदि वेद पुरुष के द्वारा रचे गये है तो पुरुष के द्वारा जो किया जाए वह तो पौरुषेय कहलता है फिर वेद किस प्रकार से अपौरुषेय हुए, इस प्रकार का प्रश्न उत्पन्न होता है। तब वेदान्ति कहते हैं पुरुष के द्वारा किया गया पौरुषेय तथा उससे भिन्न अपौरुषेय नहीं होता है। अपितु वेदान्त शास्त्र में पौरुषेय की तथा अपौरुषेय की भिन्न ही परिभाषा है। जिसके द्वारा वेदों को पौरुषेय तथा वेदभिन्नों का अपौरुषेय सिद्ध होता है।

वो इस प्रकार से है

पौरुषेय

पौरुषेय किसे कहते हैं? तो कहते हैं कि सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषय पौरुषेय: अर्थात् जो उच्चारण सजातीय उच्चारण कहलाता है तथा वह अपने समान अनुपूर्वी उच्चारण की अपेक्षा नहीं करता है वह सजातीय उच्चारण अनपेक्ष उच्चारण होता है उस प्रकार के उच्चारण का जो विषय है वह पौरुषेय कहलाता है। सजातीय से यहाँ पर अनुपूर्वी का ग्रहण करना चाहिए। तथा जिस वाक्य का समानानुपूर्वी वाक्य अन्तरोच्चारण निरपेक्ष उच्चारण किया जाता है वह पौरुषेय कहलाता है। जैसे महाभारत आदि का समानुपूर्वीवाक्यन्तरोच्चारण निरपेक्ष होता है। कारण यह है कि महाभारत के समान अनुपूर्वी द्वितीय महाभारत नहीं है। और अपने समान अनुपूर्वी सापेक्ष उच्चारण में फल भी नहीं है। उससे महाभारत आदि का उच्चारण स्वसमान अनुपूर्वी वाक्यन्तर उच्चारण निरपेक्ष ही किया जाता है। इसी प्रकार रामायण आदि का भी। इसलिए रामायण, महाभारत, अष्टादश पुराण तथा कालिदास प्रणीत काव्य पौरुषेय है वेद से भिन्न वेद वाङ्मयम भी पौरुषेय है।

मूलभाव

व्यास वाल्मीकि आदि ऋषि हर सृष्टि में भिन्न-भिन्न महाभारत तथा रामायणादि की रचना करते हैं। उससे इन ग्रन्थों की अनुपूर्वी हर युग में भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए व्यास ने पहले की सृष्टि में

ध्यान दें:

जो महाभारत की रचना की थी उससे भिन्न महाभारत की रचना दूसरी सृष्टि में की है। इसी प्रकार अन्यों को भी समझना चाहिए। वहाँ से महाभारत आदि का उच्चारण स्वसमानानुपूर्वीवाक्यान्तरोच्चारणनिरपेक्ष ही होता है। उससे ये ग्रन्थ पौरुषेय कहलाते हैं, लेकिन ये ग्रन्थ आप्तपुरुषों के द्वार रचे गये है। इसलिए ये सभी प्रमाणभूत ग्रन्थ होते है।

अपौरुषेय

अपौरुषेय किसे कहते हैं? तब कहते हैं कि जो वाक्य नियम के द्वारा समान आनुपूर्वीसमानानुपूर्वीवाक्यान्तरोच्चारणसापेक्ष ही उच्चारित होता है वह अपौरुषेय कहलाता है। जैसे वेदवाक्य। कारण परमेश्वर पूर्वसर्गसिद्ध वेद समान आनुपूर्वीक वेद दूसरे सर्ग में भी रचता है। न की पूर्वसर्गसिद्धवेदभिन्न अनुपूर्वी वेद को। उससे प्रतिसर्ग में वेद की अनुपूर्वी भिन्न नहीं होती है। और वह तो समान ही रहती है। इसलिए पूर्वसर्गसिद्ध के समान अनुपूर्वी वेदान्तर के सत्व से उसी के समान अनुपूर्वी वेद का दूसरे सर्ग (युग) में परमेश्वर फिर से उच्चारण करता है, उससे वेदों का समान अनुपूर्वी वाक्यन्तर उच्चारण सापेक्ष उच्चारण होता है। इसलिए वेद अपौरुषेय है।

मूल भाव

परमेश्वर के द्वारा सृष्टि के निर्माणकाल में वेद की भी रचना की गई, लेकिन उन्होंने नवीन वेद की रचना नहीं की अपितु पूर्वसिद्ध वेद की ही रचना की अर्थात् जो आनुपूर्वीक वेदवाक्य पहले था उसके समान आनुपूर्वीक की ही रचना की। इसलिए वेदों की रचना के विषय में कहा भी गया हैं कि जैसे विधाता में पूर्व कल्पना की थी। जैसे पहले थे उनकी कल्पना की गई न की नवीन की। इसलिए वेदान्त परिभाषा में भी कहा गया हैं कि

'तथा च सर्गाद्यकाले परमेश्वरः पूर्वसिद्धवेदानुपूर्वीसमानानुपूर्वीकं वेदं रचितवान्, न तु तद्विजातीयमिति न सजातीयोच्चारणानपेक्षोच्चारणविषयत्वं पौरुषेयत्वम्। भारतादीनां तु सजातीयोच्चारणानपेक्ष्यैवोच्चारणमिति तेषां पौरुषेयत्वम्।'

अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में परमेश्वर ने पूर्वसिद्ध वेदों के अनुपूर्वी के समान अनुपूर्वी वेद की रचना की वह रचना उनसे भिन्न नहीं थी और नहीं सजातीय उच्चारण अनपेक्ष उच्चारणविषयत्व पौरुषेयत्व वाली थी। महाभारत आदि का तो सजातीय उच्चारण अनपेक्ष्य उच्चारण होने से वे पौरुषेय से युक्त होती है। के द्वारा पूर्वक्रमसदृशक्रमवद्वेदराशी के उत्पन्नत्व से इस वाक्य का पूर्वसर्गसिद्धसमानानुपूर्वीवाक्योन्तर सापेक्ष ही उच्चारण होता है। इसलिए वेद अपौरुषेय है।

सर्वज्ञ आदि ईश्वर

पाठगत प्रश्न 1.1

1. वेदान्तमत में कितने प्रमाण होते हैं?
2. शब्द प्रमाण का क्या लक्षण है?
3. वृत्ति का क्या लक्षण होता है?
4. शक्ति किसे कहते हैं?

ध्यान दें:

5. लक्षणा किसे कहते हैं?
6. केवल लक्षणा किसे कहते हैं?
7. जहत् लक्षणा किसे कहते हैं?
8. अजहत् लक्षणा किसे कहते हैं?
9. जहत् अजहत् लक्षणा किसे कहते हैं?
10. आकाङ्क्षा किसे कहते हैं?
11. आसत्ति किसे कहते हैं?
12. तात्पर्य का क्या लक्षण है?
13. पौरुषेयत्व किसे कहते हैं?
14. अपौरुषेयत्व किसे कहते हैं?

पाठ सार

इस पाठ में शब्द प्रमाण का निरुपण किया गया है। उसमें शाब्दबोध के करण को ही शब्दप्रमाण कहते हैं तथा शब्द से उत्पन्न बोध ही शाब्धबोध इस प्रकार से जाना जाता है तथा शब्दजन्य बोध के प्रति वृत्ति ज्ञान कारण होता है। वृत्ति वेदान्त शास्त्र में शक्तिलक्षण भेद से दो प्रकार की होती है। वहाँ पर पदार्थों में जो मुख्य वृत्ति होती है वह शक्ति नाम से कही जाती है। स्वबोध्यसम्बन्ध लक्षणा होती है। उसके बाद लक्षणा के भेदों का निरूपण किया गया। उसके बाद यहाँ पर शाब्दबोध के प्रति सहकारिकारणों का निरूपण किया गया। वे चार होते हैं। आकाङ्क्षा योग्यता, आसत्ति तथा तात्पर्यज्ञान। उसके बाद आगम के भेदो में पौरूषेय तथा अपौरुषेय का वर्णन किया गया है।

आपने क्या सीखा

- अद्वैत वेदान्त के मत में शब्द प्रमाण,
- शब्द प्रमा
- वृत्ति को जानकर शक्ति के लक्षण तथा भेदों को जाना,
- लक्षणा के बीज को जाना,
- शाब्दबोध में क्या सहकारी होता है यह जाना,
- वेदान्तमत में वेद के नपौरूषेयत्व तथा अपौरूषयेत्व को जाना।

पाठान्त प्रश्न

1. शब्द प्रमाण के लक्षण का प्रतिपादन कीजिए।
2. शक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
3. लक्षणा के स्वरूप को लिखिए।
4. लक्षणा के भेदों को लिखिए।
5. लक्षित लक्षणा के स्वरूप का उदाहरण सहित प्रतिपादन कीजिए।
6. तात्पर्य के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
7. पौरुषेयत्व तथा अपौरुषेयत्व का वर्णन कीजिए।
8. आकाङ्क्षा के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
9. आसत्ति के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
10. जहत् लक्षणा के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
11. अजहत् लक्षणा के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
12. जहत् अजहत् लक्षणा के स्वरूप को लिखिए।
13. योग्यता के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
14. लक्षणा में बीज किस प्रकार होता है? इसका प्रतिपादन कीजिए।
15. अन्वय की उपपत्ति तथा लक्षणा के बीज मत का निराकरण कीजिए।

पाठ में आये हुए प्रश्नों के उत्तर 1.1

1. वेदान्तनये षट् प्रमाणानि सन्ति।
2. मानान्तराबाधिततात्पर्यविषयीभूतसंसर्गानुभावकवाक्यत्वं शब्दप्रमाणत्वम्
3. शाब्दबोधानुकूलपदपदार्थसम्बन्धत्व वृतित्व होता है।
4. पदार्थों में जो मुख्य वृत्ति होती है वह शक्ति कहलाती है।
5. स्वबोध्यसम्बन्ध लक्षणा कहलाता है।
6. शक्य का साक्षात् सम्बन्ध केवल लक्षणा होता है।
7. शक्य के अनन्तर्भाव्य में जहाँ पर अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहाँ पर जहत् लक्षणा होती है।
8. जहाँ पर शक्यार्थ के अन्तभाव्य अर्थान्तर की प्रतीति होती है वहाँ पर अजहत् लक्षणा होती है।

9. जहाँ पर विशिष्ट वाचक शब्द अपने अर्थ के एक देश को छोड़कर दूसरे देश में रहते है वहाँ जहत् तथा अजहत् लक्षणा होती है।

10. पदार्थों की परस्पर जिज्ञासा विषयत्व आकांक्षा कहलाती है।

11. अव्यवधान के द्वारा पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति आसत्ति होती है।

12. तात्पर्यविषय संसर्ग का बोध योग्यता कहलाती है।

13. तत्प्रतीति जननयोग्यत्व होने पर तदन्यप्रतीति की इच्छा के द्वारा उच्चरित तत्व तात्पर्यत्व होता है।

14. सजातीय उच्चारण अनपेक्ष उच्चारण विषय पौरुषेय होता है।

15. समानानुपूर्वीकवाक्यान्तरोच्चारणसापेक्षमेवोच्चार्यते तद् अपौरुषेयम्।

ध्यान दें:

10

अर्थापत्तिखण्ड तथा अनुपलब्धिखण्ड

वेदान्तशास्त्र में छः प्रमाण होते है। वे है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि। इनमें प्रत्यक्ष अनुमान उपमान शब्द इन प्रमाणों के विषयों में पूर्व पाठ में विस्तार से पढ़ लिया है। इस पाठ में अर्थापत्तिप्रमाण के विषय में तथा अनुपलब्धि प्रमाण के विषय में पढ़ेंगे।

उद्देश्य

इस पाठ को पढ़कर आप सक्षम होंगे;

- अर्थापत्ति प्रमा को जान पाने में;
- अर्थापत्ति प्रमाण को जान पाने में;
- अर्थापत्ति के भेद को जान पाने में;
- अनुपलब्धि प्रमाण को जान पाने में;
- अभाव के भेदों को जान पाने में;
- प्रामाण्यवाद का सामान्य परिचय प्राप्त करने में;

1.1) अर्थापत्तिप्रमाण

अर्थापत्ति प्रमाण इस शब्द का अर्थ होता है, अर्थापत्ति प्रमाकरण। वहाँ पर किस प्रमा का करण है ऐसा प्रश्न होने पर अर्थापत्ति प्रमा का ही करण यहाँ पर ग्रहण करना चाहिए।

कारण यह है कि अर्थापत्तिशब्द प्रमावाचक भी है तथा प्रमाण वाचक भी है। क्योंकि जब अर्थ की आपत्ति होती है तब उसे अर्थापत्ति कहते हैं इस प्रकार से यहाँ पर षष्ठी समास स्वीकार किया जाता है, तब यह शब्द प्रमावाचक होता है। यहाँ पर आपत्ति शब्द का अर्थ है कल्पना होना, अर्थात अर्थ की कल्पना करना। जब अर्थ की आपत्ति होती है जिससे। ऐसा अर्थ करने पर यहाँ पर बहुव्रीहि समास स्वीकृत होता है, तब यहाँ पर यह शब्द प्रमाण वाचक होता है। और इसका अर्थ होता है। अर्थ की कल्पना करना।

पाठ-10

अर्थापत्तिखण्ड तथा अनुपलब्धिखण्ड

ध्यान दें:

उससे अर्थापत्ति प्रमा का जो करण होता है वह ही अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है। इस प्रकार से अर्थापत्तिप्रमाकरण ही अर्थापत्तिप्रमाणत्व होता है, यह लक्षण फलित होता है। उसके बाद अर्थापत्ति प्रमाण के ज्ञान के लिए अर्थापत्ति प्रमा का ज्ञान आवश्यक होता है। इसलिए पहले अर्थापत्ति प्रमा का लक्षण प्रतिपादित किया जा रहा है।

1.2) अर्थापत्तिप्रमा

'उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनम् अर्थापत्ति:' अर्थात् उपपाद्य ज्ञान के द्वारा उपपादक की कल्पना ही अर्थापत्ति प्रमा है। वहाँ पर उपपाद्य किसे कहते है तथा उपपादक क्या होता है। तब कहते है जिसके बिना जो उत्पन्न होता है वह वहाँ पर उपपाद्य कहलाता है। जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह वहाँ पर उपपादक होता है। जैसे यह मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है। इत्यादि में दिन में नहीं खाने वाला पीनत्व उपपाद्य है। (पीन स्थूल इस प्रकार से) तथा रात्रि भोजन उपपादक है। वहाँ पर उपपाद्य लक्षण में येन इस पद से उपपादक का ग्रहण करना चाहिए। जैसे प्रकृत में जिस रात्रि भोजन के बिना जो दिन में दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व है वह उपपाद्य है। उपपादक लक्षण में प्रथम के द्वारा 'यस्य' इद पद के द्वारा उपपादक का ग्रहण करना चाहिए जैसे जिस रात्रि भोजन के अभाव में दिवऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व अनुपपत्ति है, वह रात्रि भोजन ही उपपादक कहा जाता है।

आशय यह है

दिन में भोजन करने वाला यदि रात्रि में भोजन नहीं करेगा तो वह पीनत्व (मोटापा) को प्राप्त नहीं होगा। लेकिन उसमें पीनत्व देखा जा रहा है इसलिए उसके पीनत्व के उपपत्ति के लिए (समर्थन के लिए) रात्रि के भोजन की कल्पना करनी चाहिए। उस रात्रि के भोजन के द्वारा पीनत्व की उपपत्ति होता है तथा रात्रि के भोजन के अभाव में पीनत्व की अनुपपत्ति होने के कारण पीनत्व उपपाद्य होता है। अर्थात् अर्थापत्ति प्रमाण होता है। यहां उपपादक संज्ञा फल होता है। अर्थात् उपपदक ज्ञान प्रमा होती है। जिससे मोटा यह देवदत्त दिन में नहीं खाता है इत्यादि में दिवऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है तथा रात्रि भोजन अर्थापत्तिप्रमा होती है।

.1.2.1) उपपाद्यत्वलक्षण

जिसके बिना जो उत्पन्न होता है वह उपपाद्य कहलाता है, इस प्रकार से उपपाद्य का स्वरूप प्रतिपादित किया जा चुका है। उसका ही परिष्कृत लक्षण यह है - तदभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्वम् उपपाद्यत्वम्। उसके अभाव को ही यहाँ पर 'तदभाव' कहा गया है। तदभाव का व्याकपक अभाव इस प्रकार से तदभावव्यापकीभूताभावा कहा जाता है। तदभावव्यापकीभूताभाव का प्रतियोगी ही तदभाव्यापकीभूताभावप्रतियोगी कहा जाता है। यह उस पद के उपपादकत्व के द्वारा अभिमत वस्तु को परामर्श कहते हैं। इस प्रकार से मोटा यह देवदत्त दिन में नहीं खाता है, इत्यादि में उसपद से उपपादक के रात्रि के भोजन का ग्रहण होता है। उसका अभाव यहाँ पर रात्रि के भोजन का अभाव होता है। उसका व्यापकीभूताभाव ही दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्वाभाव है। क्योंकि यहाँ जहाँ रात्रिभोजन का अभाव है वहाँ वहाँ दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्वाभाव होता है इस प्रतीति के द्वारा रात्रि भोजन के अभाव का व्यापकीभूताभाव दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्वाभाव होता है। यहाँ पर दिन में नहीं खाने पर रात्रिभोजन के अभाव होने पर पुरुष सामान्य में दिवाऽभुञ्जानत्व समानाधिकरण पीनत्वभाव दर्शन ही प्रमाण है। वह रात्रिभोजन अभाव व्यापकी भूताभाव दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्वाभाव होता है तथा उसका प्रतियोगी दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व होता है इसलिए प्रकृत में दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व उपपाद्य है।

ध्यान दें:

1.2.2) उपपादकत्वलक्षण

जिसके अभाव में जिसकी अनुपपत्ति होती है वह उपपादक होता है तथा उपपादक का स्वरूप प्रतिपादित किया जा चुका है। उसका ही परिष्कृत स्वरूप यह है - उपपाद्याभावव्याप्यभूताभावप्रतियोगित्वम् उपपादकत्वम्।

जैसे मोट देवदत्त दिन में नहीं खाता है इत्यादि में उपपाद्य दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व है तथा उसका अभाव दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व का अभाव कहलाता है और उसका व्याप्यभूत अभाव रात्रि भोजन का अभाव होता है। जहाँ-जहाँ रात्रि भोजन का अभाव होता है वहाँ वहाँ दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व का भी अभाव होता है, इस प्रतीति से रात्रि भोजन का अभाव व्याप्यत्व होता है। उसका प्रतियोगी रात्रि का भोजन होता है। इसलिए रात्रि का भोजन उपपादक है।

1.2.3) अर्थापत्तिभेद

अर्थापत्ति के दो प्रकार होते हैं। दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति।

दृष्टार्थापत्ति

दृष्ट से शब्देतर प्रमाण प्रमिति अर्थ के द्वारा अदृष्ट अर्थ की कल्पना दृष्टार्थापत्ति कहलाती है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति कभी समुद्रतट पर गया। वहाँ उसने समुद्रतट पर पड़ी हुई सूक्ति को देखा। लेकिन दृष्टिदोष के कारण वह अच्छी प्रकार से यह नहीं जान पाया की यह सूक्ति है। लेकिन उसने सोचा की यह चांदी है। इस प्रकार से दृष्टिदोषवश उसको शीपि में चाँदी का ज्ञान हो गया। उसके बाद जब उसने पास में जाकर के देखा तब उसके भ्रम का निराकरण हो गया की यह चाँदी नहीं है अपितु शुक्ति ही है। यदि शुक्तिकादि में प्रतीयमान रजत सत्य होता तो उस व्यक्ति की ऐसी निषेध बुद्धि नहीं होती की यह रजत नहीं है। लेकिन वहाँ पर उसकी निषेध बुद्धि होता है। इसलिए सीपी आदि में दिखाई देने वाली चाँदी सत्य नहीं है अपितु भ्रम है, इस प्रकार की निषेध बुद्धि उस व्यक्ति की हो जाती है। इसलिए यहाँ पर दृष्ट अर्थ के द्वारा अदृष्ट मिथ्यात्व रूप की वह व्यक्ति कल्पना करता है इसलिए यह दृष्टार्थापत्ति कहलाती है। यह चाँदी नहीं है इस प्रकार के निषिध्यमानत्व का ज्ञान प्रमाणभूत अर्थापत्ति होता है। प्रतीयमान रजत मिथ्या है, यह निश्चय फलभूत होता है अर्थात् यहाँ पर प्रमाभूत अर्थापत्ति होती है। इस प्रकार से अन्य स्थान पर भी जानना चाहिए। जैसे शुक्ति में यह रजत नहीं है शुक्ति में यह रजत नहीं है यह उपपाद्य होता है तथा मिथ्यात्व उपपादक होता है।वहाँ पर उपपाद्य के लक्षण में येन इस पद से उपपादक का ग्रहण करना चाहिए। जैसे प्रकृत में जिस मिथ्यात्व के बिना यह रजत नहीं है इस प्रकार से सिद्ध होता है। इसलिए 'यह रजत नहीं' है यह उपपाद्य कहलाता है। उपपादक के लक्षण में सर्वप्रथम यस्य इस पद के द्वारा उपपादक का ग्रहण कहना चाहिए। जैसे जिस मिथ्यात्व के अभाव में जिसका यह रजत नहीं है इस प्रकार की उपपत्ति होती है, इसलिए वह मिथ्यात्व उपपादक है।

श्रुतार्थापत्ति

श्रुत अर्थ से जो आपत्ति की कल्पना की जाती है। वह श्रुतार्थापत्ति इस प्रकार के व्यवहार वाली होती है। जैसे आत्मज्ञान युक्त व्यक्ति शोक को पार कर जाता है। अर्थात् आत्मज्ञान वाला व्यक्ति बन्धन रहित होता है यहाँ अर्थ यहाँ पर इस श्रुति वाक्य का है। इस प्रकार से इस श्रुति के द्वारा आत्मज्ञान-बन्धविगमहेतु इस प्रकार से प्रतिपादित होता है। लेकिन यह शब्दी प्रतीति तब ही उपपन्न होती है जब शोकशब्दवाच्य का बन्धनमिथ्यात्व हो न की अन्य प्रकार से। कारण यह है कि वास्तविकता के (तत्व

ध्यान दें:

के, सत्य के) अर्थ का जिस किसी भी ज्ञान से नाश होने योग्य नहीं है। लेकिन श्रुति वाक्य तो प्रमाण ही है। इसलिए श्रुतिवाक्य प्रमाण के द्वारा कल्पना की जाती है की बन्धन सत्य नहीं है अपितु वह मिथ्या ही है। यहाँ पर आत्मज्ञानी व्यक्ति शोक से तर जाता है, इस वाक्यार्थ बोध की अनुपपत्ति के द्वारा बन्धन मिथ्यात्व कल्पित होता है। इस प्रकार से यहाँ पर बन्धनमिथ्यात्व उपपादक है तथा शब्द प्रतीति उपपाद्य है। उससे प्रकृत मे बन्धनमिथ्यात्व से के बिना शब्द प्रतीति अनुपपन्न होती है। इसलिए वह बन्धनमिथ्यात्व उपपादक है। जिस बन्धनमिथ्यात्व अभाव में जिस शब्दज्ञान की अनुपपत्ति होती है वह शब्दज्ञान वहाँ पर उपपाद्य कहलाता है। इस प्रकार से उपपादकत्व बन्धनमिथ्यात्व का नाम प्रमा है। उपपाद्यत्वात् शब्द प्रतीति करण प्रमाण कहलाती है। इसी प्रकार श्रुतार्थापत्ति का अन्य उदाहरण है। जीवित देवदत्त घर में नहीं है। यह भाव होता है की जीवित व्यक्ति या तो घर में रुकता है या फिर बाहर तीसरी कोई गति हैं ही नहीं। वहाँ जीवित देवदत्त घर में नहीं है ऐसा सुनने पर जीवित के घर में नहीं होने से बहि:सत्व (बाहर होना) बिना अनुपपन्न के अपने आप सिद्ध होता है। देवदत्त बाहर है यह निश्चय होता है। इसलिए यहाँ पर कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। वहाँ पर जिस के बिना जीवित गृह में असत्व अनुपपन्न है इसलिए वह बहि: सत्व यहाँ पर उपपादक है। जिसके अभाव में बहि: सत्व का अभाव होता है। तथा बहि: सत्व के अभाव में जिसकी अनुपप्ति होती है वह गृहसत्व की अनुपपत्ति कहलाती है। इसलिए वह जीवित गृहासत्त्व यह उपपाद्य है। इस प्रकार उपपाद्य के गृहासत्त्वज्ञान से उपपादक के बहि: सत्त्व की कल्पना की जाती है। इसलिए यहाँ पर जीवितगृहसत्त्वज्ञान करण ही अर्थापत्ति प्रमाण होता है। तथा बहि: सत्वज्ञान के फल का नाम ही अर्थापत्तिप्रमा है।

श्रुतार्थापत्ति के भेद

श्रुतार्थापत्ति भी दो प्रकार की होती है। अभिधानानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति। शाब्दबोध अनुपपत्ति स्थल में श्रुतार्थापत्ति होती है जो प्रतिपादित की जा चुकी है। वह शाब्दबोध अनुपपत्ति भी दो प्रकार की होती है शब्द अनुपपत्ति तथा अर्थ अनुपपत्ति। इसलिए उसके भेद से श्रुतार्थापत्ति के भी दो प्रकार के आवश्यक होते हैं।

अभिधानानुपपत्ति

जहाँ वाक्य के एकदेश के श्रवण में अन्वय अनुपपत्ति के द्वारा अन्वय अभिधान उपयोगी पदान्तर की कल्पना की जाती है वहाँ अभिधानानुपपत्ति होती है। अभिधान अनुपपत्ति का दूसरा नाम तात्पर्य अनुपपत्ति भी है। जैसे किसी व्यक्ति के द्वारा 'द्वार बन्द करो' इस वाक्य के स्थान पर वाक्य के एकदेश केवल द्वार का प्रयोग किया गया। लेकिन वक्ता यह समझना चाहता है कि द्वार बन्द करो। अर्थात् वक्ता का यहाँ पर द्वार को बन्द करना यह तात्पर्य है। इस प्रकार से श्रोता प्रकरणादि के माध्यम से समझ जाता है। लेकिन वक्ता के द्वारा प्रयुक्त वाक्य में बंद करो यह पद नहीं है। उससे द्वार रूपी कर्म में द्वार बन्द करो, यह अर्थ तो होने योग्य नहीं है। इसलिए यहाँ पर वक्ता का तात्पर्य अनुपपन्न कहलाता है। इसलिए तात्पर्य की उपपत्ति के लिए बन्द करो इस पद का श्रोता अध्याहार कर लेता है। उसके द्वारा द्वार को बन्द करो यह अर्थ प्रकृत वाक्य से लगा लिया जाता है। जिससे तात्पर्य की अनुपपत्ति का परिहार हो जाता है। यहाँ पर द्वार बन्द करो यह तात्पर्य होता है, बन्द करो यह उपस्थापक पद बिना अनुपपन्न होते तथा बिना सुने इसकी पदान्तर से कल्पना कर ली जाती है। जिसका द्वार बन्द करो यह तात्पर्य उपपाद्य होता है। उसका ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है। बन्द करो इस पद का अध्याहार उपपादक कहलाता है। इसलिए बन्द करो इस पद का ज्ञान यहाँ पर अर्थापत्ति प्रमा है।

ध्यान दें:

अभिहितानुपपत्ति

जहाँ पर वाक्यगत का अनुपपन्नज्ञात्व होने से सत् अर्थान्तर की कल्पना की जाती है वहाँ अभिहिता अनुपपत्ति देखनी चाहिए। जैसे स्वर्ग की कामना के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ का आयोजन करो यह श्रुति का वचन है। इसका अर्थ है कि स्वर्ग की कामन करने वाले पुरुष को ज्योतिष्टोम यज्ञ का आयोजन करना चाहिए। इसलिए इस अर्थ के द्वारा ज्योतिष्टोम यज्ञ का स्वर्गसाधनत्व समझना चाहिए। ज्योतिष्टोम यज्ञ की समाप्ति के बहुत समय बाद यजमान को स्वर्ग का लाभ प्राप्त होता है। इसलिए स्वर्ग लाभ के प्रति ज्योतिष्टोमयाग साक्षात् कारण होने योग्य नहीं है। तो फिर ज्योतिष्टोम यज्ञ स्वर्ग का कैसे है। इसलिए यहाँ पर ज्योतिष्टोमयज्ञ स्वर्गसाधन है इस वाक्य के अर्थ की अनुपपत्ति होती है। इसलिए अनुपपन्न होते हुए उस अपूर्व रूप से अर्थान्तर की कल्पना होती है। तथा उस अर्थान्तर से स्वर्ग की प्राप्ति होती है यह फल होता है। अर्थात् ज्योतिष्टोम अपूर्व को जन्म देता है तथा वह अपूर्व अन्तः करण में विद्यमान पुण्य कहलाने वाल गुण विशेष होता है। तथा वह पुण्य स्वर्ग के लाभ तक रुकता है।

प्रकृत में ज्योतिष्टोम स्वर्ग का साधन है यह इस वाक्य का अर्थ उपपाद्य है। अपूर्व उपपादक है। इसलिए ज्योतिष्टोमस्वर्गसाधन यह वाक्यार्थ ज्ञान कारण है। इसलिए यहाँ पर अर्थापत्ति प्रमाण है तथा अपूर्वज्ञान प्रमा है। इसलिए अर्थापत्ति ही प्रमा है।

यहाँ पर यह विशेष है

नैयायिक लोग चार प्रमाण मानते है। प्रत्यक्ष,अनुमान,उपमान और शब्द। उनके द्वारा अर्थापत्ति प्रमाण स्वीकार किया नहीं जाता है। वे कहते हैं कि अर्थापत्तिप्रमाण के अनुमान में ही अन्तर्भाव होता है। उनके मत में अर्थापत्ति प्रमाण का केवलान्वयी अन्तर्भाव है। लेकिन वेदान्त सिद्धान्त में केवलान्वयी पदार्थ ही स्वीकार नहीं किया जाता है। इसलिए वहाँ पर अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।

पाठगत प्रश्न-1.1

1. अर्थापत्तिपद के दो अर्थ कौन-कौन से हैं?
2. अर्थापत्तिप्रमा का लक्षण क्या है?
3. अर्थापत्तिप्रमाण का लक्षण क्या है?
4. यह देवदत्त मोटा है तथा यह दिन में नहीं खाता है इस उदाहरण में उपादक तथा उपपाद्य क्या है?
5. उपपाद्य का लक्षण लिखिए।
6. उपपादक का लक्षण लिखिए।
7. अर्थापत्ति के कितने भेद होते है?
8. श्रुतार्थापत्ति के कितने भेद होते है?
9. श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण क्या है?

ध्यान दें:

1.3) अनुपलब्धि

छः प्रमाणों में सबसे अन्यतम प्रमाण अनुपलब्धि है। अनुपलब्धि इस शब्द में नञ् तत्पुरुष समास है। उसका विग्रह है न उपलब्धि अनुपलब्धि। जिसका अर्थ है उपलब्धि का अभाव। उपलब्धि के अभाव के प्रमाण से अभाव विषय का ज्ञान उत्पन्न होता है। उसका लक्षण होता है - ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधरणकारणम् अनुपलब्धिरूपं प्रमाणम्। अर्थात् ज्ञानरूपी जो करण तथा उससे उत्पन्न जो अभाव का अनुभव उसका साधारण कारण, इस प्रकार का विग्रह होता है। अर्थात् ज्ञान रूप करण के द्वार जो उत्पन्न होता है वह ज्ञानकरणजन्य कहा जाता है। ज्ञानकरणजन्य का जो अभाव विषयक ज्ञान उसका जो असाधारण करण वह ही अनुपलब्धि प्रमाण कहा जाता है। इसका अर्थ है कि ज्ञानरूप जो करण होता है उससे उत्पन्न जो अभाव का अनुभव होता है वह अभाव का ज्ञान कहलाता है। उसका जो असाधारण कारण वन अनुपलब्धि प्रमाण समझना चाहिए। इस प्रकार से ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधारणकारणत्व अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण फलित होता है। यहाँ पर यह भाव है कि वहाँ अनुमिति प्रमा का करण व्याप्तिज्ञान होता है तथा उपमिति प्रमा का करण सादृश्य ज्ञान होता है, और शब्द प्रमा का करण पदज्ञान होता है। वहाँ पर इन ज्ञानरूप करणों के द्वारा अजन्य जो अभाव विषयक अनुभव होता है। उसका असाधारण कारण ही अनुपलब्धि प्रमाण कहलाता है। जैसे भूतल में घट का अभाव होता है। उसका ज्ञान घट की अनुपलब्धि होता है। इसी प्रकार घट की अनुपलब्धि से घट के अभाव का ज्ञान होता है। इसी प्रकार पट की अनुपलब्धि से पट के अभाव का ज्ञान होता है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी समझना चाहिए। इसलिए घटादिवस्तु के ज्ञान के अभाव से घटादिवस्तु के अभाव का ज्ञान होता है। इस प्रकार से उस उस वस्तु के ज्ञान का अभाव ही करण कहलाता है। तथा उस उस वस्तु के अभाव का ज्ञान ही फल है यह सिद्ध होता है। इस प्रकार घटादिवस्तु के ज्ञान का अभाव करण कहलाता है अर्थात् अनुपलब्धि प्रमाण होता है जिससे घटादिवस्तु का अभाव फल होता है अर्थात् प्रमा होता है।

यहाँ पर यह विशेष है

यदि अभाव विषयक ज्ञान के प्रति अनुपलब्धिकरण स्वीकार किया जाए तो जैसे जाग्रत अवस्था में घटादि के अभाव का ज्ञान अनुपलब्धि द्वारा होता है। वैसे ही शयन काल में भी घट के अभाव आदि का ज्ञान होना चाहिए क्योकि उस समय भी घटादियों कि अनुपलब्धि सत्व होती है। लेकिन शयन काल में अभावविषयक ज्ञान नहीं होता है। और धर्माभावविषयक ज्ञान तथा अधर्म भाव विषयक ज्ञान भी अनुपलब्धि के द्वार ही होता है। लेकिन कहते है कि वेदान्तियों के द्वारा तो धर्माभावाविषयकज्ञान अधर्माभावविषयकज्ञान तो अनुमान प्रमाण के द्वारा होता है न कि अनुपलब्धि के द्वारा ऐसा प्रतिपादित भी है। इसलिए यहाँ पर प्रश्न होता है की यदि अनुलब्धि प्रमाण हैं तो शयन काल में ज्ञान क्यों नहीं होता है और धर्म अभाव विषयक ज्ञान तथा अधर्म अभाव विषयक ज्ञान अनुलब्धि के द्वारा क्यों नहीं होता है। यहाँ पर वेदान्ति कहतें हैं कि केवल अनुपलब्धिमात्र के द्वारा ही अभाव का ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है अपितु योग्य अनुपलब्धि के द्वारा अभावविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। यदि योग्य अनुपलब्धि नहीं हैं तो अभाव विषयक ज्ञान भी नहीं होता है। इस प्रकार अभाव विषयकज्ञान के प्रति योग्य अनुपलब्धि कारण सिद्ध होती है।

तब कहते हैं कि योग्य अनुपलब्धि किसे कहते है। तो यहाँ पर कहा जाता है - तर्कित-प्रतियोगिसत्त्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगिकत्वं अनुपलब्धेः योग्यत्वम्। अर्थात् तर्कित से (अपादित से) प्रतियोगित्वसत्व से प्रसञ्जित प्रतियोगी जिसका अनुपलम्भ होता है वह तर्कित-प्रतियोगिसत्वप्रसञ्चित-प्रतियोगिक कहलाता है उसका भाव तर्कित-प्रतियोगतिसत्त्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगत्व होता है। अर्थात्

ध्यान दें:

जिसका अभाव ग्रहण किया जाता है उसका जो प्रतियोगी होता है, उसके सत्व के अधिकरण में तर्कपूर्वक प्रसञ्चित अपादानयोग्य प्रतियोगी उपलब्धिस्वरूप जिस अनुपलम्भक होता है वह तर्कित-प्रतियोगिसत्व प्रसञ्चित प्रतियोगिक होता है। उसका भाव तर्कित- प्रतियोगिसत्त्व-प्रसञ्चित-प्रतियोगिकत्व होता है। इसका यह भाव है कि प्रकाश युक्त भूतल में यदि घट नहीं है तो वहाँ पर घट का अभाव होता है। इस प्रकार से वहाँ पर विद्यमान घट के अभाव का ज्ञान घट की अनुपलब्धि के द्वारा होता है। इसलिए यहाँ पर जो अनुपलब्धि होती है वह योग्य अनुपलब्धि कही जाती है। क्योंकि प्रकृत में घट के अभाव का ग्रहण होता है। इसलिए उसका प्रतियोगी घट होता है। उसके सत्व से अधिकरण में प्रसञ्चित अपादायोग्य प्रतियोगी उपलब्धि स्वरूप होता है। कारण प्रकृत में कह सकते हैं कि यदि यहाँ पर घट हो तब ही उपलब्धि हो। यहाँ पर जो अनुपलब्धि होती है वह योग्य अनुपलब्धि कही जाती है। उसके द्वारा ही घट का अभाव विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इसका यह भाव है कि जिस अधिकरण में यह कहा जा सकता है कि यदि यहाँ घट होता तो उसकी उपलब्धि होती। परन्तु (वह) नहीं है। इसलिए उसकी अनुपलब्धि है इसलिए उस अधिकरण में जो अनुपलब्धि है वह ही योग्य अनुपलब्धि है। जिस प्रकाश से प्रकशयुक्त भूतल में घट के अभाव की दशा में यह कहा जा सकता है की यदि यहाँ पर घट हो तो उसकी उपलब्धि होता तो उसकी उपलब्धि होती। नहीं है। इसलिए उसकी अनुपलब्धि है। इसलिए प्रकाशयुक्त भूतल में घट की जो अनुपलब्धि होती है वह ही योग्य अनुपलब्धि कही जाती है। इसलिए उसके द्वारा घट के अभाव का ज्ञान होता है। अन्धकार युक्त भूतल में तो घट के अभाव के सत्व होने की दशा में भी यह नहीं कह सकते हैं की यदि यहाँ पर घट होता तो उसकी उपलब्धि होती। इसलिए अन्धकारयुक्त भूतल में जो उपलब्धि होती है। वह योग्य अनुपलब्धि नहीं होती है। इसलिए उसके द्वारा घट के अभाव का ज्ञान नहीं होता है। इसलिए शयनकाल में भी घट के अभाव सत्व होने की दशा में भी यह नहीं कह सकते हैं की यदि यहाँ पर घट होता तो उसकी उपलब्धि होती। इसलिए शयन काल की जो अनुपलब्धि होती है वह भी योग्य अनुपलब्धि नहीं होती है। इसलिए उससे भी उस घट के अभाव का ज्ञान नहीं होता है। इसलिए धर्म तथा अधर्म की सत्व दशा में भी यह नहीं कह सकते हैं कि यहाँ धर्म होता अथवा अधर्म होता तो उसकी उपलब्धि होती, वह नहीं है। इसलिए उसकी अनुपलब्धि है। इसलिए धर्म की तथा अधर्म की जो अनुपलब्धि होती है वह योग्य अनुपलब्धि नहीं होती है। अपितु अयोग्य अनुपलब्धि ही होती है।

1.3.1) अभावभेद

अनुपलब्धि प्रमाण से अभाव विषयक ज्ञान होता है यह प्रतिपादित किया जा चुका है। उस प्रकार के अभाव विषय वाला ज्ञान के विषय का अभाव वेदान्त मत में चार प्रकार का होता है। वे इस प्रकार है- प्रागभावः, प्रध्वंसाभावः, अत्यन्ताभावः, तथा अन्योन्याभावः।

प्रागभाव

'होगा' इस प्रकार की प्रतीति का जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है। जिस प्रकार से इस मिट्टी के पिण्ड में घड़ा होगा इस प्रकार से मिट्टी के पिण्डादि कारण में विद्यामान कार्य का अभाव ही प्रागभाव कहलाता है। इसी प्रकार तन्तु में पट होगा यहाँ पर भी प्रतीति विषय का अभाव तन्तु में पट का प्रागभाव होता है। इस प्रकार से कार्य की उत्पत्ति से पूर्व कारण में विद्यामान कार्य का जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है। यह अभाव अनादि तथा शान्त होता है।

ध्यान दें:

प्रध्वंसाभाव

प्रध्वंसाभाव का अपर नाम ध्वंसाभाव है। जन्यविनाश्यभावत्वम् इस ध्वंसाभाव का लक्षण है। अर्थात् जन्य तथा विनाशी जो अभाव होता है। वह ही प्रध्वंसाभाव इस प्रकार से कहलाता है। जैसे मिट्टी के पिण्डादि में मुद्गरपात के बाद में घट का नाश होने पर घट का प्रध्वंसाभाव उत्पन्न होता है। और भी कपाल के नाश से इसके अभाव का नाश होता है। इसलिए यह भाव जन्य तथा विनाशी दोनों प्रकार का होता है। इस प्रकार का जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। यह घट के नष्ट होने वाला अभाव प्रतीति विषय कहलाता है।

अत्यन्ताभाव

चार प्रकार के अभावों में सबसे अन्यतम अभवा अत्यन्ताभाव होता है। जो वस्तु कभी नहीं होगी तथा कभी नहीं हुई और कभी नहीं है इस प्रकार से भूत भविष्य तथा वर्तमान में नहीं होने वाली वस्तु का अभाव अत्यन्ताभाव कहलाता है। अर्थात् जहाँ पर अधिकरण में तीनों कालों का अभाव है वह अत्यन्त अभाव है। जैस वायु में रूप नहीं है, इस प्रकार की प्रतीति साक्ष्यवाला अभाव वायु में रूप का अत्यन्ताभाव कहलाता है। भूतल में घट नहीं है इस प्रकार की प्रतीति का साक्षी भूतल में घट का अभाव है। इस प्रकार अन्य जगहों पर समझना चाहिए। इस प्रकार से त्रैकालिकाभावत्व को अत्यन्ताभाव लक्षण कह सकते हैं।

अन्योन्याभाव

अन्य का अन्य में जो अभाव होता है। वह अन्योन्य अभाव कहलाता है। अर्थात् यह नहीं है इस प्रकार की प्रतीति विषय का जो अभाव हो अन्योन्याभाव कहलाता है। घट पट नहीं होता है, इस प्रकार की प्रतीति से सिद्ध जो घट का अभाव है वह घट का अन्योन्याभाव है। यह अन्योन्या भाव आदि भी है तथा अनादि भी है। इस प्रकार से जहाँ पर अन्योन्याभाव का अधिकरण आदि होता है वहाँ अन्योन्याभाव भी आदि होता है। जैसे घट पट नहीं है, यहाँ पर पटरूपाधिकरण आदि है। इसिलए यहाँ पर अन्योन्याभाव आदि है। जहाँ पर अन्योन्याभाव का अधिकरण अनादि होता है वहा अन्योन्याभाव भी अनादि होता है। जैसे ब्रह्मजीव नहीं है। यहाँ पर अन्योन्याभाव का जीवरूपाधिकरण अनादि है। इसलिए यहाँ पर जो अभाव है वह अनादि है। यह अभाव भेद तथा विभाग तथा पृथक्त्व इस प्रकार से कहा जाता है। इस प्रकार से जैसे यह यह प्रतीति का विषय नहीं है, इस प्रकार का जो अभाव है वह अन्योन्याभाव है। वैसे ही यह इस से अलग हुआ है, यह इस से अलग है, यह इससे पृथक् है। इस प्रकार की प्रतीति विषय का अभाव भी अन्योन्याभाव इस प्रकार से कहलाता है।

अन्योन्याभाव भेद

अन्योन्याभाव दो प्रकार का होता है। सोपाधिक तथा निरूपाधिक

सोपाधिक

उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वं सोपाधिकत्वम। अर्थात् सत्ताव्याप्य सत्ता जिसका भेद है वह भेद उपाधि सत्ताव्याप्यसत्ताक: कहलाता है। उसका भाव उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्व होता है। जैसे घटाकाश मठाकाश नहीं है यह भेद उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्व से सोपाधिक है। जहाँ जहाँ पर आकाशादि भेदसत्ता होती है वहाँ वहाँ पर घटादि उपाधि भेद सत्ता इस प्रकार से भेद सत्ता घटादि उपाधिभेदसत्ता के रूप में व्याप्य होती है। तथा घटादि उपाधिभेद सत्ता व्यापिका होती है। जिस प्रकार से आकाश एक ही होता है लेकिन

ध्यान दें:

घटादि उपाधिभेद से आकाश के भी भेद हो जाते हैं। इसलिए यहाँ पर कह सकते हैं कि उपाधिभेद से जहाँ जो भेद होता है वहाँ जो अन्योन्याभाव होता है वह सोपाधिक कहलाता है। इसी प्रकार से एक ही ब्रह्म के अन्तकरण के भेद होने से जो भेद होता है वह सोपाधिक भेद कहलाता है। क्योंकि ब्रह्म में भेद नहीं होते हैं लेकिन उसकी उपाधिक अन्त:करण का भेद होने से ब्रह्म में भेद प्रतीत होता है। इसलिए जितने अन्त: करण के भेद होते हैं उतने ही ब्रह्म के भी भेद होते हैं।

निरूपाधिक

उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वात्यन्ताभाववत्त्व निरुपाधिकत्व का लक्षण है। उपाधिसत्तव्याप्या सत्ता जिस भेद की होती है वह भेद, उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताक कहलाता है। उसका भाव उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्व होता है। तथा उसका अत्यन्त अभाव अपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वान्यन्ताभाव कहलाता है। वह इस प्रकार से उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वत्यन्ताभाववत्त होता है। अर्थात् उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्व के भेद का अभाव जहाँ होता है वहाँ जो भेद होता है वह निरूपाधिक भेद कहलाता है। जैसे घट पट नहीं होता है यह भेद निरुपाधिक है। क्योंकि यहाँ पर किसी की भी उपाधि नहीं है। इसलिए इस भेद में उपाधि सत्ताव्याप्यसत्ताकत्व नहीं है। लेकिन उपाधि सत्ताव्याप्य सत्ताकत्व अत्यन्त अभावत्व है। इसलिए घट तथा पट में जो भेद होता है वह निरुपाधिक भेद होता है। अर्थात् जहाँ पर स्वभाविक ही भेद होता है वह निरूपाधिक भेद इस प्रकार से कहा जाता है। इस प्रकार से घट मठ नहीं है इत्यादि भेद भी निरूपाधिक भेद होते हैं। इस प्रकार से अन्य जगहों पर भी जानना चाहिए।

1.4) प्रामाण्यवाद

प्रमाण विषयक पाठों में प्रमाण तथा प्रमा मुख्य विषय होते है। वहाँ पर प्रमा में विद्यमान प्रमात्व को कैसे जाना जाए यह जिज्ञासा निरंतर उत्पन्न होती है। इसलिए ही प्रामाण्यवाद को भी प्रमाण विषय के अन्तर्गत मानना चाहिए।

वह प्रमाण्य तथा अप्रमाण्य स्वत: ही ग्रहण किये जाते है अथवा परत: ग्रहण किये जाते हैं इस विषय में भी शास्रज्ञों में मतभेद है। यहाँ पर केवल परिचय के लिए विषय को प्रस्तुत किया जा रहा है। वहाँ विषय में एक पद प्रसिद्ध है जिसका सारांश के रूप में विषय का यह विवेचन होता है

पद्य

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत: सांख्या: समाश्रिता:।
नैयायिकास्ते परत: सौगताश्चरमं स्वत:॥
प्रथमं परत: प्राहु: प्रामाण्यं वेदवादिन:।
प्रमाणत्वं स्वत: प्राहु: परतश्चाप्रमाणताम्॥

सांख्यशास्त्र में प्रमाण्य तथा अप्रमाण्य का स्वत: ग्रहण होता है। नैयायिकों के मत में प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य का परत: ग्रहण होता है। बौद्धों के मत में प्रामाण्य का परत: ग्रहण होता है। तथा अप्रामाण्य का स्वत: ग्रहण होता है। मीमांसा के मत में प्रामाण्य का स्वत: ग्रहण होता है तथा अप्रामाण्य का परत: ग्रहण होता है।

जैसे 'यह घट है' यहाँ पर घटविषयक प्रमा उत्पन्न होती है। तथा यह प्रमा है इस प्रकार का प्रमा विषयक विचार उत्पन्न होता है। जैसे घट ज्ञान की कोई सामग्री (माध्यम) होता है उसी प्रकार प्रमा का ज्ञान भी कोई सामग्री होता है। प्रमा में प्रमात्व होता है। यह प्रमात्व ही प्रमाण्य कहलाता है। जिस प्रकार

से प्रमा का ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रमात्व का भी ज्ञान उत्पन्न होता है। जैसे प्रमा विषयक ज्ञान की कोई सामग्री होती है वैसे ही प्रमात्व विषयकज्ञान की भी कोई सामग्री होती है। जिनक मत में प्रमा विषयक ज्ञान की जो सामग्री होती है वह ही प्रमात्वविषयक ज्ञान की भी सामग्री होती है वे स्वतत्ववादी कहलाते है। जिनके मत में प्रमाविषयकज्ञान की सामग्री तथा उससे भिन्न प्रमात्विषयक ज्ञान की सामग्री होती है वे परतस्त्ववादि कहलाते हैं। अर्थात् ज्ञान दो प्रकार का होता है। जिनमें एक ज्ञान का विषय प्रमा है तथा अपर ज्ञान का विषय प्रमात्व है। दोनों ज्ञानों की भी कोई सामग्री होती है। यदि दोनों ज्ञान सामग्री समाना होती हैं तो स्वतत्व कहलाती है। यदि सामग्री भिन्न होती है तो वह परतत्त्व कहलाती है। जो प्रमा यहाँ ग्रहण की गई है उसमें निष्ठाप्रमात्व भी होता है।

पाठगत प्रश्न 2.1

1. अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण लिखिए।
2. अनुपलब्धि के योग्यत्व का क्या लक्षण है?
3. अभाव के कितने भेद होते हैं?
4. प्रागभाव का लक्षण लिखिए।
5. प्रागभाव कहाँ पर होता है?
6. प्रध्वंसाभाव का लक्षण लिखिए।
7. प्रध्वंसाभाव कहाँ पर होता है?
8. अत्यन्ताभाव का लक्षण लिखिए।
9. अत्यन्ताभाव कहाँ पर होता है?
10. त्रैकालिक अभाव किसे कहते है?
11. अन्योन्याभाव के स्वरूप को लिखिए।
12. अन्योन्याभाव के भेद कौन-कौन से हैं?
13. सोपाधिक अन्योन्याभाव का लक्षण क्या है?
14. निरूपाधिक अन्योन्याभाव का लक्षण क्या है?
15. प्रामाण्यवाद के प्रमाणत्व में प्रमात्व का क्या अर्थ है?
16. वेदान्ति स्वस्तत्ववदी है अथवा परतस्त्ववादि।

पाठ सार

इस पाठ में अर्थापत्ति प्रमाण का तथा अनुपलब्धि प्रमाण का निरूपण किया गया है। वहाँ पर अर्थापत्ति यह शब्द व्युत्पत्ति भेद से प्रमावाचक तथा प्रमाणवाचक रूप में प्रतिपादित किया गया है। उपपाद्य का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा होता है। तथा उपपादक का ज्ञान अर्थापत्ति प्रमा के द्वारा होता है। तदभावव्यापकीभूताभावप्रतियोगित्व उपपाद्यत्व होता है। इसी प्रकार उपपाद्याभावव्याप्यभूताभावप्रतियोगित्वम उपपादकत्व होता है। अर्थापत्ति के दो भेद होते हैं श्रुतार्थापत्ति तथा दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति के

ध्यान दें:

अभिधनानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति इस प्रकार के दो दो भेद होते हैं।

उसके बाद अनुपलब्धि प्रमाण का विवेचन किया गया है। वहाँ ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधरणकारणत्व ही अनुपलब्धिप्रमाणस्य लक्षण है। अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा अभावविषयज्ञान उत्पन्न होता है। यहाँ पर उस उस वस्तु के ज्ञान का अभाव करण तथा उस उस वस्तु के अभाव का ज्ञान फल रूप में सिद्ध होता है। इसी प्रकार घटादि वस्तुओं के ज्ञान का अभाव करण होता है अर्थात् अनुपलब्धि प्रमाण होता है। घटादि वस्तुओं का अभाव ज्ञान फल होता है। अर्थात् प्रमा होती है। लेकिन अनुपलब्धिमात्र से अभाव का ग्रहण नहीं होता है अपितु योग्य अनुपलब्धि के द्वारा ही होता है। धर्म तथा अधर्म अभाव विषयक ज्ञान तो अनुमान प्रमाण से होता है, इन दोनों में योग्य अनुपलब्धि के अभाव से। अनुपलब्धि के द्वारा जिस अभाव का ज्ञान होता है। चार प्रकार का होता है। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। जिसमें होगा इस प्रकार की प्रतीति के विषय का जो अभाव होता है वह प्रागभाव कहलाता है। नष्ट हो चुका है इस प्रकार की प्रतीति का जो अभाव होता है वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। जो प्रतीति का विषय ही नहीं है वह अभाव अत्यन्त अभाव कहलाता है। यह नहीं है इस प्रकार की प्रतीति के विषय का जो अभाव होता है वह अन्योन्याभाव कहलाता है। पाठ के अन्त में प्रामाण्यवाद के सामान्य विवरण का वर्णन है।

आपने क्या सीखा

- अर्थापत्ति, अर्थापत्ति प्रमा, प्रमाण
- अनुपलब्धि प्रमाण
- अभाव भेद और
- प्रामाण्यवाद का सामान्य परिचय जाना,

पाठान्त प्रश्न

1. अर्थापत्तिप्रमाण के लक्षण का प्रतिपादन कीजिए।
2. दृष्टार्थपत्ति के लक्षण को लिखिए।
3. श्रुतार्थपत्ति के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
4. अभिधानानुपपत्ति के लक्षण को लिखिए।
5. अभिहित अनुपपत्ति के स्वरूप का प्रतिपादन कीजिए।
6. अनुपलब्धि प्रमाण का स्वरूप लिखिए।
7. अभाव के भेदों का वर्णन कीजिए।
8. योग्य अनुपलब्धि का प्रतिपादन कीजिए।
9. प्रागभाव तथा प्रध्वंसाभाव के स्वरूप का प्रकाशन कीजिए।
10. अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव के स्वरूप का प्रकाशन कीजिए।
11. प्रामाण्य का प्रतिपादन कीजिए।

पाठ-10

अर्थापत्तिखण्ड तथा अनुपलब्धिखण्ड

ध्यान दें:

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 1.1

1. अर्थापत्तिप्रमा तथा अर्थापत्तिप्रमाण ये दो अर्थ अर्थापत्तिपद के होते हैं।
2. उपपाद्य के ज्ञान के द्वारा उपपादक की कल्पना करना ही अर्थापत्ति प्रमा होती है।
3. अर्थापत्तिप्रमाकरणम् ही अर्थापत्तिप्रमाण कहलाता है।
4. पीनोऽयं देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते इस उदाहरण में रात्रिभोजन उपपादकम् तथा उपपाद्य दिवाऽभुञ्जाननिष्ठपीनत्व है।
5. जिसके बिना जो उत्पन्न होता है वह उपपाद्य कहलाता है।
6. जिसके अभाव में जिसकी उपपत्ति होती है वह उपपादक कहलाता है।
7. अर्थापत्ति के दो भेद होते हैं दृष्टार्थापत्ति तथा श्रुतार्थापत्ति।
8. श्रुतार्थापत्ति के दो भेद होते हैं अभिधानानुपपत्ति तथा अभिहितानुपपत्ति।
9. तरति शोकमात्मवित् इति श्रुतिः।

पाठगत प्रश्नों के उत्तर 2.1

1. ज्ञानकरणाजन्याभावानुभवासाधरणकारण अनुपलब्धिरूप प्रमाण कहलाता है।
2. तर्कित-प्रतियोगिसत्त्व-प्रसञ्जित-प्रतियोगिकत्वं अनुपलब्ध का योग्यत्व होता है।
3. अभाव के चार भेद होते हैं। प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव।
4. अनादित्वे सति अभावत्व प्रागभाव का लक्षण होता है।
5. प्रागभाव उपादानकारण में विद्यमान होता है।
6. जन्यविनाश्यभावत्व प्रध्वंसाभाव का लक्षण होता है
7. प्रध्वंसाभाव कार्यध्वंस के बाद में नष्ट कार्य के अवयवों में होता है।
8. त्रैकालिकाभावत्व अत्यन्ताभाव का लक्षण होता है।
9. अत्यन्ताभाव, जो वस्तु वर्तमान, भूत तथा भविष्य में न हो अत्यन्ताभाव होता है।
10. अत्यन्ताभाव को
11. अन्य का अन्य में जो अभाव होता है वह अन्योन्याभाव कहलाता है।
12. सोपाधिक, निरूपाधिक
13. उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वं सोपाधिकत्वम्।
14. उपाधिसत्ताव्याप्यसत्ताकत्वात्यन्ताभावत्व निरूपाधिकत्व।
15. प्रामाण्यपद का प्रमात्व अर्थ है।
16. स्वस्तत्ववादी
17. प्रामाण्यपद का प्रमात्व अर्थ होता है।
18. वेदान्ति जन स्वस्तत्ववादी होते हैं।